शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर
महाराष्ट्र

दूरशिक्षण तथा ऑनलाईन शिक्षण केंद्र

साहित्यशास्त्र

सत्र 3 और 4

नई शिक्षा नीति 2020 के अनुसार पुनर्रचित पाठ्यक्रम
(शैक्षिक वर्ष 2023-24 से)

एम. ए. भाग–2 : हिंदी

© **कुलसचिव,** शिवाजी विश्वविद्‌यालय, कोल्हापुर (महाराष्ट्र)
प्रथम संस्करण : 2019
संशोधित संस्करण : 2023
एम.ए. भाग 2 (हिंदी : साहित्यशास्त्र)
सभी अधिकार विश्वविद्‌यालय के अधीन। शिवाजी विश्वविद्‌यालय की अनुमति के बिना किसी भी सामग्री की नकल न करें।

प्रतियाँ : 150

■

प्रकाशक :
डॉ. व्ही. एन. शिंदे
कुलसचिव,
शिवाजी विश्वविद्‌यालय,
कोल्हापुर - 416 004.

■

मुद्रक :
श्री. बी. पी. पाटील
अधीक्षक,
शिवाजी विश्वविद्‌यालय मुद्रणालय,
कोल्हापुर - 416 004.

■

ISBN-978-93-89327-24-3

★ दूरशिक्षण तथा ऑनलाईन शिक्षण केंद्र और शिवाजी विश्वविद्‌यालय की जानकारी निम्नांकित पते पर मिलेगी- शिवाजी विश्वविद्‌यालय, विद्‌यानगर, कोल्हापुर-416 004. (भारत)

दूरशिक्षण तथा ऑनलाईन शिक्षण केंद्र, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर

■ सलाहकार समिति ■

प्रो. (डॉ.) डी. टी. शिर्के
कुलगुरू,
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर

प्रो. (डॉ.) पी. एस. पाटील
प्र-कुलगुरू,
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर

प्रो. (डॉ.) प्रकाश पवार
राज्यशास्त्र अधिविभाग,
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर

प्रो. (डॉ.) एस. विद्याशंकर
कुलगुरू, केएसओयू
मुक्तगंगोत्री, म्हैसूर, कर्नाटक-५७० ००६

डॉ. राजेंद्र कांकरिया
जी-२/१२१, इंदिरा पार्क,
चिंचवडगांव, पुणे-४११ ०३३

प्रो. (डॉ.) सीमा येवले
गीत-गोविंद, फ्लॅट नं. २, ११३९ साईक्स एक्स्टेंशन,
कोल्हापुर-४१६००१

डॉ. संजय रत्नपारखी
डी-१६, शिक्षक वसाहत, विद्यानगरी, मुंबई विश्वविद्यालय,
सांताक्रुझ (पु.) मुंबई-४०० ०९८

प्रो. (डॉ.) कविता ओझा
संगणकशास्त्र अधिविभाग,
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर

प्रो. (डॉ.) चेतन आवटी
तंत्रज्ञान अधिविभाग,
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर

प्रो. (डॉ.) एम. एस. देशमुख
अधिष्ठाता, मानव्य विद्याशाखा,
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर

प्रो. (डॉ.) एस. एस. महाजन
अधिष्ठाता, वाणिज्य व व्यवस्थापन विद्याशाखा,
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर

प्रो. (डॉ.) श्रीमती एस. एच. ठकार
प्रभारी अधिष्ठाता, विज्ञान व तंत्रज्ञान विद्याशाखा,
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर

प्राचार्या (डॉ.) श्रीमती एम. व्ही. गुळवणी
प्रभारी अधिष्ठाता, आंतर-विद्याशाखीय अभ्यास विद्याशाखा
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर

डॉ. व्ही. एन. शिंदे
प्रभारी कुलसचिव,
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर

डॉ. ए. एन. जाधव
संचालक, परीक्षा व मूल्यमापन मंडल,
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर

श्रीमती सुहासिनी सरदार पाटील
वित्त व लेखा अधिकारी,
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर

प्रो. (डॉ.) डी. के. मोरे (सदस्य सचिव)
संचालक, दूरशिक्षण व ऑनलाईन शिक्षण केंद्र,
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर

■ हिंदी अध्ययन मंडल ■

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) साताप्पा शामराव सावंत
विलिंग्डन कॉलेज, सांगली

सदस्य

- **प्रो. (डॉ.) हणमंत महादेव सोहनी**
  सदाशिवराव मंडलीक महाविद्यालय, मुरगुड, ता. कागल, जि. कोल्हापुर

- **प्रो. (डॉ.) नितीन चंद्रकांत धवडे**
  मुधोजी कॉलेज, फलटण, जि. सातारा

- **डॉ. श्रीमती मनिषा बाळासाहेब जाधव**
  आर्टस ॲण्ड कॉमर्स कॉलेज, ११७, शुक्रवार पेठ, सातारा-४१५ ००२.

- **प्रो. (डॉ.) श्रीमती वर्षाराणी निवृत्ती सहदेव**
  श्री विजयसिंह यादव कॉलेज, पेठ वडगाव, जि. कोल्हापुर

- **प्रो. (डॉ.) अशोक विठोबा बाचूळकर**
  आजरा महाविद्यालय, आजरा, जि. कोल्हापुर

- **डॉ. भास्कर उमराव भंवर**
  कर्मवीर हिरे आर्टस, सायन्स, कॉमर्स ॲण्ड एज्युकेशन कॉलेज, गारगोटी, ता. भुदरगड, जि. कोल्हापुर

- **डॉ. संग्राम यशवंत शिंदे**
  आमदार शशिकांत शिंदे महाविद्यालय, मेढा, ता. जावळी, जि. सातारा

- **प्रो. (डॉ.) सिद्राम कृष्णा खोत**
  प्रा. डॉ. एन. डी. पाटील महाविद्यालय, मलकापुर, जि. कोल्हापुर

- **प्रो. (डॉ.) अनिल मारुती साळुंखे**
  यशवंतराव चव्हाण महाविद्यालय, करमाळा, जि. सोलापूर-४१३२०३

- **डॉ. गजानन सुखदेव चव्हाण**
  श्रीमती जी.के.जी. कन्या महाविद्यालय, जयसिंगपूर, ता. शिरोळ, जि. कोल्हापुर

- **प्रो. (डॉ.) उत्तम लक्ष्मण थोरात**
  आदर्श कॉलेज, विटा, जि. सांगली

- **डॉ. परशराम रामजी रगडे**
  शंकरराव जगताप आर्टस ॲण्ड कॉमर्स कॉलेज, वाघोली, ता. कोरेगाव, जि. सातारा

अपनी बात

शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर की दूरशिक्षा योजना के अंतर्गत स्नातकोत्तर हिंदी विषय के विद्यार्थियों के लिए निमित्त अध्ययन सामग्री नियमित रूप से प्रवेश न ले पानेवाले विद्यार्थियों की असुविधा को दूर करने के संकल्प का सुफल है।

प्रस्तुत स्वयं अध्ययन सामग्री महत्त्वपूर्ण एवं अध्ययनपूर्ण है। काव्य मानव जाति की शाश्वत और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। भारतीय काव्यशास्त्र अत्यंत प्राचीन है किंतु पाश्चात्य काव्यशास्त्र का परिप्रेक्ष्य भारतीय काव्यशास्त्र से काफी भिन्न है। भारतीय काव्यशास्त्र तर्कनिष्ठ, सुसंगठित एवं समृद्ध है। भारतीय काव्यशास्त्र का विवेचन भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से हुआ है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आरंभ यूनान में हुआ। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आरंभ होमर और हेसिऑड इन्हीं दोनों कवियों में हमें मिलता है।

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का अध्ययन करनेवालों के सामने यह अध्ययन सामग्री रखते हुए हमें काफी हर्षानंद हुआ है। यह सामग्री स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के दृष्टिकोण से लिखी गयी है। पाठ्यक्रम, प्रश्नपत्र का स्वरूप तथा अंक वितरण की ध्यान में रखकर अध्ययन सामग्री को आवश्यकतानुसार विस्तृत तथा लघु रुप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत अध्ययन सामग्री विद्यार्थियों के उपादेय सिद्ध होगी और इस सामग्री के माध्यम से भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र को विद्यार्थी हृदयगम कर सकेंगे।

प्रस्तुत साम्रगी सामूहिक प्रयास का फल है। प्रस्तुत सामग्री के लेखक काव्यशास्त्र के अध्यापक एवं अध्येता है। इकाई लेखकों ने अपनी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

शिवाजी विश्वविद्यालय के माननीय कुलगुरु, कुलसचिव और दूरशिक्षा विभाग के संचालक एवं उनके सभी सहयोगी सदस्यों ने समय-समय पर आवश्यक सहयोग दिया। अतः इन सभी के प्रति आभार प्रकट करना हमारा दायित्व है।

धन्यवाद।

– संपादक

इकाई लेखक

★ **प्रो. (डॉ.) हणमंत सोहनी**
सदाशिवराव मंडलिक महाविद्यालय, मुरगूड, ता. कागल, जि. कोल्हापूर

★ **प्रो. (डॉ.) सिद्राम खोत**
प्रा. डॉ. एन. डी. पाटील महाविद्यालय, मलकापुर, ता. शाहुवाडी, जि. कोल्हापुर

★ **डॉ. भरत सगरे**
हिंदी विभाग, लाल बहादुर शास्त्री महाविद्यालय, सातारा

★ **प्रो. (डॉ.) गजानन भोसले**
अध्यक्ष, हिंदी विभाग, यशवंतराव चव्हाण आर्टस कॉमर्स ॲण्ड सायन्स महाविद्यालय, पाचवड

★ **डॉ. सुरेश शिंदे**
अध्यक्ष, हिंदी विभाग, पद्मभूषण वसंतदादा पाटील महाविद्यालय, तासगाव.

★ **प्रा. महादेव माने**
अध्यक्ष, हिंदी विभाग, श्रीमती आक्काताई रामगौडा पाटील कन्या महाविद्यालय, इचलकरंजी.

★ **प्रो. (डॉ.) संजय चिंदगे**
देशभक्त आनंदराव ब. नाईक कॉलेज, चिखली, ता. शिराळा, जि. सांगली.

★ **डॉ. दीपक तुपे**
हिंदी विभाग, विवेकानंद कॉलेज (स्वायत्त) कोल्हापुर

■ **सम्पादक** ■

प्रो. (डॉ.) सिद्राम कृष्णा खोत
प्रा. डॉ. एन. डी. पाटील महाविद्यालय,
मलकापुर, ता. शाहुवाडी,
जि. कोल्हापुर

प्रो. (डॉ.) साताप्पा शामराव सावंत
अध्यक्ष, हिंदी अध्ययन मंडल,
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर तथा
विलिंग्डन कॉलेज, सांगली,
जि. सांगली

अनुक्रम

इकाई		पृष्ठ
	सत्र–3 : साहित्यशास्त्र–I	
1.	भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा एवं विकासक्रम, काव्य लक्षण, काव्य हेतु काव्य प्रयोजन, काव्य के प्रकार, काव्य गुण, काव्य दोष, शब्दशक्ति	1
2.	रस सिद्धांत – अलंकार सिद्धांत – रीति सिद्धांत	73
3.	वक्रोक्ति सिद्धांत – ध्वनि सिद्धांत – औचित्य सिद्धांत	104
4.	आलोचना – आलोचना के प्रकार – हिंदी के प्रमुख आलोचक	142
	सत्र–4 : साहित्यशास्त्र–II	
1.	प्लेटो, अरस्तू तथा लोंजाइनस पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की परम्परा एवं विकासक्रम पाश्चात्य काव्यशास्त्र : प्लेटो, अरस्तू, लोंजाइनस्	209
2.	टी. एस्. इलियट, वर्डसवर्थ, आइ–ए–रिचडर्स, कॉलरिज	236
3.	विभिन्न वाद स्वच्छंदतावाद, अभिजात्यवाद, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, संरचनावाद	266
4.	आधुनिक समीक्षा की प्रवृतियाँ मनोविश्लेषणवाद, उत्तरआधुनिकता, विखंडनवाद, शैलीविज्ञान, यथार्थवाद	289

हर इकाई की शुरूआत उद्‌देश्य से होगी, जिससे दिशा और आगे के विषय सूचित होंगे-

(१) इकाई में क्या दिया गया है।

(२) आपसे क्या अपेक्षित है।

(३) विशेष इकाई के अध्ययन के उपरांत आपको किन बातों से अवगत होना अपेक्षित है।

स्वयं-अध्ययन के लिए कुछ प्रश्न दिए गए हैं, जिनके अपेक्षित उत्तरों को भी दर्ज किया है। इससे इकाई का अध्ययन सही दिशा से होगा। आपके उत्तर लिखने के पश्चात् ही स्वयं-अध्ययन के अंतर्गत दिए हुए उत्तरों को देखें। आपके द्‌वारा लिखे गए उत्तर (स्वाध्याय) मूल्यांकन के लिए हमारे पास भेजने की आवश्यकता नहीं है। आपका अध्ययन सही दिशा से हो, इसलिए यह अध्ययन सामग्री (Study Tool) उपयुक्त सिद्‌ध होगी।

सत्र 3 : इकाई 1

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा एवं विकासक्रम, काव्य लक्षण, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य के प्रकार, काव्य गुण, काव्य दोष, शब्दशक्ति।

अनुक्रम

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 विषय-विवेचन

- 1.3.1 भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा एवं विकासक्रम
  - 1.3.1.1 भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा
  - 1.3.1.2 विभिन्न संप्रदाय और आचार्यों के मत
  - 1.3.1.3 भारतीय काव्यशास्त्र का विकासक्रम
  - 1.3.1.4 निष्कर्ष
- 1.3.2 काव्य (साहित्य) : लक्षण
  - 1.3.2.1 संस्कृत काव्य-लक्षण
  - 1.3.2.2 हिंदी काव्य-लक्षण
  - 1.3.2.3 अंग्रेजी काव्य-लक्षण
  - 1.3.2.4 निष्कर्ष
- 1.3.3 काव्य हेतु
  - 1.3.3.1 संस्कृत-आचार्यों के मत
  - 1.3.3.2 पाश्चात्य विद्वानों के मत
  - 1.3.3.3 मनोवैज्ञानिकों के मत
  - 1.3.3.4 निष्कर्ष
- 1.3.4 काव्य प्रयोजन
  - 1.3.4.1 संस्कृत-आचार्यों द्वारा वर्णित काव्य-प्रयोजन
  - 1.3.4.2 हिंदी विद्वानों द्वारा वर्णित काव्य-प्रयोजन
  - 1.3.4.3 पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वर्णित काव्य-प्रयोजन
  - 1.3.4.4 निष्कर्ष

1.3.5 काव्य के प्रकार
1.3.5.1 महाकाव्य
1.3.5.2 खंड काव्य
1.3.5.3 गीतिकाव्य
1.3.5.4 निष्कर्ष
1.3.6 काव्य गुण
1.3.6.1 माधुर्य गुण
1.3.6.2 ओज गुण
1.3.6.3 प्रसाद गुण
1.3.6.4 निष्कर्ष
1.3.7 काव्य दोष
1.3.6.1 शब्द दोष (पद दोष)
1.3.6.2 अर्थगत दोष (अर्थ दोष)
1.3.6.3 रसगत दोष (रस दोष)
1.3.6.4 निष्कर्ष
1.3.8 शब्दशक्ति
1.4 सारांश
1.5 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न
1.6 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ
1.7 स्वयं अध्ययन प्रश्नों के उत्तर
1.8 स्वाध्याय
1.9 क्षेत्रीय कार्य
1.10 अतिरिक्त अध्ययन के लिए।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप-

1. भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा एवं विकासक्रम से परिचित होंगे।
2. काव्य (साहित्य) शब्द के अर्थ और स्वरूप से परिचित होंगे।
3. भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा बताए गए काव्य लक्षणों को समझ जाएँगे।

4. काव्य-हेतुओं से परिचित होंगे।
5. काव्य प्रयोजनों से परिचित होंगे।
6. काव्य के प्रकारों से परिचित होंगे।
7. काव्य के गुणों से परिचित होंगे।
8. काव्य के दोषों से परिचित होंगे।
9. शब्द की शक्ति से अवगत हो जाएँगे।
10. शब्द शक्ति के भेदों से अवगत हो जाएँगे।

1.2 प्रस्तावना

भारतीय काव्यशास्त्र में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसकी परंपरा एवं विकासक्रम को विस्तृत रूप से देखना अनिवार्य है। काव्य और साहित्य एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द है। काव्य का एक अर्थ कविता या पद्य भी लिया जाता है, लेकिन साहित्य शब्द गदय, पदय और दृश्य रचनाओं का बोधक माना जाता है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में काव्य के लिए 'वाङ्मय' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। 'काव्य' शब्द 'कवि' से प्रचलित हुआ है। कुछ लोग इसे अंग्रेजी शब्द 'Poetry' का अनुवाद मानते हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि गद्य के प्रभाव के पूर्व भारतीय रचनाकार पद्यबद्ध रचनाएँ करते थे, और पद्य रचनाएँ करनेवालों को 'कवि' कहा जाने के कारण उनकी रचनाओं को 'काव्य' कहा जाता था। आगे चलकर भारतीय रचनाकार गद्य का भी लेखन करने लगे तो 'काव्य' शब्द दोनों (गद्य-पद्य) का प्रतिनिधि बन गया। लगभग आठवीं शताब्दी से 'काव्य' के लिए 'साहित्य' शब्द का भी प्रयोग होने लगा। साहित्य अंग्रेजी शब्द 'Literature' का भी पर्यायवाची माना जाता है।

आज साहित्य शब्द बहुप्रचलित और व्यापक बन गया है। यहाँ हम काव्य शब्द का अर्थ साहित्य की सभी विधाओं के प्रतिनिधि के रूप में ले रहे हैं। इस प्रकार जो 'साहित्य' का लक्षण है वही 'काव्य' का लक्षण भी माना जायेगा। यहाँ हम काव्य के विभन्न लक्षणों, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य के प्रकार, काव्य गुण, काव्य दोष और शब्द शक्ति आदि का विस्तार से अध्ययन करेंगे। आज मानव जीवन का हर कार्य किसी-न-किसी शक्ति द्वारा संपन्न हो जाता है। शब्द शक्ति भी इसके लिए अपवाद नहीं है। शब्द अपना कार्य या बोध जिस शक्ति के द्वारा कराते हैं उसे शब्द शक्ति कहा जाता है।

मनुष्य विचारों और भावों का आदान-प्रदान करने के लिए जिस साधन का प्रयोग करता है; वह है भाषा। भाषा में शब्द और अर्थ का घनिष्ठ संबंध होता है; जिसे अलग करना बहुत ही मुश्किल है। वर्णों के सार्थक समूह को शब्द कहा जाता है, मगर शब्द का अर्थ उसके प्रयोग पर निर्भर करता है। शब्द में अंतर्निहित अर्थ को प्रकट करने वाले व्यापार को शब्द शक्ति कहा जाता है। शब्द का अर्थ बोध कराने वाली शक्ति को शब्द शक्ति कहा जाता है।

1.3 विषय–विवेचन

अब हम भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा एवं विकासक्रम, काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य के प्रकार, काव्य गुण, काव्य दोष और शब्द शक्ति आदि का विस्तार से अध्ययन करेंगे। शब्द और अर्थ का अटूट संबंध है। जिस प्रकार जल और मछली के जीवन का संबंध है उसी प्रकार शब्द और अर्थ का संबंध है। जिस तरह जल के बिना मछली की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार शब्द विहीन अर्थ और अर्थ हीन शब्द की कल्पना नहीं की जा सकती। कवि कालिदास ने शिव-पार्वती के साहचर्य के समान शब्द और अर्थ का साहचर्य स्वीकार किया है।

1.3.1 भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा एवं विकासक्रम

1.3.1.1 भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा

वाङ्मय को दो प्रकारों में विभाजित किया गया है– 'शास्त्र' तथा 'काव्य' काव्यानुशीलन के लिए शास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। राजशेखर ने काव्य-विधा तथा साहित्य-विधा को एक दूसरे का पर्याय माना है। उनके मतानुसार– 'शब्द और अर्थ के सहभाव को बताने वाली विधा (शास्त्र) साहित्य-विधा है। इस विधा की चौंसठ उपविधाएँ हैं, जिन्हें विद्वान कला कहते हैं। उपविधाएँ या कलाएँ काव्य का जीवन हैं।'

कवि ने अपने मन के सौंदर्यबोध के लिए काव्य, रस और अलंकार जैसे कलात्मक उपादानों की परिकल्पना आरंभ से ही की है। काव्य कवि-मन के सौंदर्यबोध की कलात्मक अभिव्यक्ति को कहा जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा को स्पष्ट करनेवाले आचार्यों के मतों का आगे विवेचन किया है।

1.3.1.2 विभिन्न संप्रदाय और आचार्यों के मत :

समीक्षाशास्त्र का प्राचीनतम ग्रंथ आ. भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' ही है। नाट्यशास्त्र का समय ईसापूर्व छठी शती से लेकर ईसा की दूसरी शती तक माना गया है। आ. भरतमुनि काव्य-शास्त्र के आदि चिंतक माने जाते हैं। आ. भरतमुनि से लेकर आ. पंडितराज जगन्नाथ तक लगभग डेढ़ हजार वर्ष तक फैली हुई संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में अनेक काव्य सिद्धांतों का प्रतिपादन एवं खंडन-मंडन होता रहा। ये सिद्धांत 'संप्रदाय' कहे जाते हैं। ये संप्रदाय मुख्य रूप से छह हैं।

1.3.1.2 प्रणेता आचार्यों के नाम और उनके संप्रदाय –

1. रस संप्रदाय – आ. भरतमुनि
2. अलंकार संप्रदाय – आ. भामह
3. रीति संप्रदाय - आ. वामन
4. ध्वनि संप्रदाय – आ. आनंदवर्धन
5. वक्रोक्ति संप्रदाय – आ. कुंतक
6. औचित्य संप्रदाय - आ. क्षेमेंद्र

अत: 'संप्रदाय' का आशय यह है कि एक विचार को स्वीकार करते हुए उसे आगे बढ़ाने वाले विद्वान एक संप्रदाय के कहे जाते हैं। संप्रदाय का अर्थ है धरोहर या वैचारिक धरोहर । अंग्रेजी में इसे School of thought कहते हैं।

नाट्यशास्त्र की उपलब्धि और सीमाएँ :

आ.भरतमुनि द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ में दिए गए एक सूत्र की व्याख्या संपूर्ण संस्कृत काव्य शास्त्र में दृष्टिगोचर होती है। वह सूत्र है:- **''विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।''**

आ. भरतमुनि ने कुल चार अलंकार माने हैं- उपमा, रूपक, यमक और दीपक। उनका ध्यान नाटक विधा पर ही केंद्रित हैं संपूर्ण काव्य का विश्लेषण वे नहीं कर पाए। फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्त्व निर्विवाद है। आ. भरतमुनि के उपरांत भामह के समय तक काव्यशास्त्र का इतिहास नहीं मिलता।

आ. भामह के बाद भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन कालक्रमानुसार छ: भागों में किया है-

1. काव्य शास्त्र का आरंभिक काल-या अन्वेषण युग - (भामह से रुद्रट तक अर्थात् छठी शती के मध्य से 875 ई. तक)
2. प्रौढ़ काल - (आनंदवर्धन एवं अभिनवगुप्त का युग- ९वीं शताब्दी के मध्यभाग से 10 वीं- 11 वीं शती)
3. प्रतिक्रिया युग - (कुंतक से महिमभट्ट तक 10 वीं शती से 11 वीं शती का मध्यकाल)
4. औचित्य युग - (क्षेमेंद्र और मम्मट का युग 11 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)
5. व्याख्यायुग - (अग्निपुराण के संपादक से लेकर हिंदी रीति युग तक 12 वीं शती के निकट से 19वीं शताब्दी तक)
6. आधुनिक युग - (भारतेंदु से अब तक 19वीं शताब्दी से अब तक)

1. **भारतीय काव्यशास्त्र का आरंभिक काल – अन्वेषण युग –** छठी शती के मध्य से **875** ई. तक।

प्रमुख आचार्य- भामह, दंडी, उद्भट, वामन, लोल्लट, शंकुक और रुद्रट है।

1. **आ. भामह (लगभग छठी शताब्दी का पूर्वार्ध) :** आ. भामह कश्मीरी-निवासी कवि और आलोचक थे। उनका समीक्षा ग्रंथ 'काव्यालंकर' है। इसमें उन्होंने काव्य के लक्षण, काव्य के भेद, काव्य का उद्देश्य (प्रयोजन), शिल्प-गुण, दोष, अलंकार आदि का विवेचन किया है।

भामह ने काव्य-शास्त्र के नए-नए सिद्धांतों को प्रस्तुत किया। इस नवोन्मेषण के कारण इस काल को अन्वेषण युग कहा जा सकता है।

आ. भामह की उपलब्धियाँ –

(i) भामह शब्द और अर्थ की एक साथ उपस्थिति को काव्य मानते हैं–''शब्दार्थौं सहितौ काव्यम्''

(ii) उन्होंने काव्य के भेद गद्य और पद्य और उसके दो उपभेद– गद्य के– अभिनेयार्थ कथा और आख्यायिका पद्य के– सर्गबद्ध और अनिबद्ध ये दो भेद स्वीकार किए हैं।

(iii) उन्होंने काव्य का हेतु 'प्रतिभा' और काव्य में गौडीय, वैदर्भ वृत्तियाँ तथा गुण- ओज, माधुर्य, प्रसाद और 11 काव्यदोष स्वीकार किए हैं।

(iv) भामह काव्य का मूल तत्त्व या प्राण 'अलंकार' स्वीकार करते हैं। उन्होंने कुल 38 अलंकारों का नामोल्लेख किया है।

(v) अलंकार का मूल प्राण वक्रोक्ति और उसका प्राण अतिशयोक्ति है। उन्होंने रस को अलंकार के अंतर्गत मान लिया था । आ. भामह अलंकार –संप्रदाय के जन्मदाता के रूप में जाने जाते हैं।

2. आचार्य दंडी – (लगभग सातवीं शती का उत्तरार्ध)

आ. दंडी दक्षिण भारत के निवासी कवि और आलोचक थे। उनका 'काव्यादर्श' ग्रंथ है। उनके विचार आ. भामह से मिलते हैं ।

आचार्य दंडी की उपलब्धियाँ –

(i) उन्होंने शब्द और विशिष्ट अर्थ की संगति को काव्य माना है।

(ii) उन्होंने काव्य के तीन भेद माने - गद्य, पद्य और मिश्र ।

(iii) काव्य-प्रयोजन, वृत्तियों, गुण-दोषों के संबंध में उनकी मान्यता भामह के अनुरूप है।

(iv) अलंकारों का लक्षण है– ''काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।''

अर्थात् – काव्य में सौंदर्य कारक तत्त्वों को अलंकार कहते हैं।

(v) इन्होंने 36 अलंकारों का विवेचन किया है। अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का मूल मानते हैं।

3. **उद्भट – (लगभग नवीं शती का पूर्वार्ध) –**

उद्भट का एक ग्रंथ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' नाम से उपलब्ध है। उन्होंने दो ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें से एक में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुरूप और दूसरे में भामह के काव्यालोचन के अनुरूप काव्य-समीक्षा-सिद्धांतों का प्रतिपादन किया था।

उद्भट की उपलब्धियाँ –

(i) उनका अलंकार-वर्णन भामह के अलंकार वर्णन के अनुरूप है। उन्होंने अलंकार 41 दिए हैं।

(ii) उन्होंने अनुप्रास के तीन भेद दिए हैं- छेक, वृत्ति और लाट । यमक का उल्लेख कहीं नहीं है।

(iii) अर्थालंकारों में कुछ नए अलंकारों का विवेचन है- काव्यलिंग, दृष्टांत और संकर।

(iv) उन्होंने तीन शक्तियों का उल्लेख किया है- परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या (कोमला)।

(v) उन्होंने गुण और अलंकार को शब्दार्थ के साथ स्वीकार कर गुण को वर्ण का धर्म माना।

4. वामन– (लगभग 8 वीं – 9 वीं शताब्दी के बीच)

रीति संप्रदाय के प्रवर्तक कश्मीरी आ. वामन ऐसे प्रथम काव्याचार्य हैं जिन्होंने समीक्षा शिल्प सौंदर्य निर्धारित किया। उन्होंने काव्य और सौंदर्य को एक दूसरे का पर्याय माना। उसके समीक्षा ग्रंथ का नाम है 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति'।

वामन की स्थापनाएँ –

(i) आ. वामन काव्य और सौंदर्य के विकास के दो उपाय मानते हैं।

(अ) दोषों का अभाव और (ब) गुण व अलंकारों का सद्भाव।

(ii) वे सौंदर्य के साधन और अलंकारों को एक ही मानते हैं।

(iii) उन्होंने दंडी द्वारा दिए गए 'मार्ग' शब्द को 'रीति' नाम दिया।

रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया 'रीतिरात्मा काव्यस्य।'

(iv) उन्होंने काव्य के दो भेद किए- अनिबद्ध तथा निबद्ध।

(v) उन्होंने 33 अलंकारों का विवेचन किया है। जिनमें दो शब्दालंकार हैं- अनुप्रास और यमक शेष 31 अर्थालंकार हैं। उन्होंने दो नए अलंकारों की कल्पना की हैं- व्याजोक्ति तथा वक्रोक्ति।

5. लोल्लट– (लगभग 800-880 ई.)

आ. लोल्लट एक कश्मीरी दार्शनिक आलोचक थे। इनके ग्रंथ अनुपलब्ध हैं। कुछ विद्वान् इनका समय 800 और 880 ई. के मध्य मानते हैं। इनके मतों को अभिनवगुप्त और मम्मट की रचनाओं में दिए गए उद्धरणों से समझा जा सकता है। उन उद्धरणों के आधार पर –

लोल्लट की मान्यताएँ –

(i) लोल्लट मूलतः रसवादी आचार्य हैं; भरतमुनि के 'रसनिष्पत्ति' सूत्र के प्रथम व्याख्याकार भी हैं।

(ii) लोल्लट रस की सत्ता अनुकार्य में स्वीकार करते हैं। नट में रस की सत्ता को गौण मानते हैं।

(iii) उन्होंने आठ रसों का विस्तृत विवेचन किया है, जिनमें वात्सल्य तथा प्रेयस् भी हैं।

इनके विश्लेषण विवेचन को स्पष्टतः समझा नहीं सकते । उन्होंने प्रेक्षक की दृष्टि से रसास्वाद की प्रक्रिया पर विचार नहीं किया।

6. शंकुक – (लगभग 840 ई.)

शंकुक का भी कोई काव्यशास्त्र का ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। लोल्लट की तरह इनकी मान्यताओं को भी अभिनव भारती (अभिनव गुप्त) तथा 'काव्य प्रकाश' (मम्मट) ग्रंथों में दिए गए उद्धरणों से समझा जा सकता है।

शंकुक की मान्यताएँ –

(i) शंकुक भी रसवादी आचार्य थे। वे नाट्यानुकृति को रस मानते थे।

(ii) उनके अनुसार स्थायीभाव तो कवि के अनुकार्य में है, जो वास्तव में रस नहीं है। रस तो नट-नटी की अनुकृति है। मूल स्थायीभाव की अनुकृति का अनुमान ही रस है।

शंकुक का संपूर्ण रस-विवेचन अभिनय की सफलता और कुशलता पर आधारित है। फिर भी अनुकृति और अनुमिति को समझने का उनका प्रयास मौलिक और प्रशंसनीय है।

7. रुद्रट – (समय लगभग 833-875 ई.)

रसवादी आचार्य रुद्रट कश्मीरी थे। 'काव्यालंकार' ग्रंथ में रस और अलंकार का समानरूप से विवेचन हुआ है।

रुद्रट की उपलब्धियाँ –

(i) रुद्रट महाकाव्य में रस की स्थिति अनिवार्य मानते हैं।

(ii) उन्होंने शृंगार रस का विस्तृत विवेचन, प्रेयस् रस का निरूपण तथा अन्य रसों का लक्षण-निरूपण किया है।

(iii) उन्होंने विप्रलंभ शृंगार के चार भेद निर्दिष्ट किए हैं– अनुराग, मान, प्रवास और करुण ।

(iv) प्रेयस् रस का स्थायीभाव– स्नेह माना है।

(v) उन्होंने अलंकारों का विवेचन-वर्गीकरण के चार आधार माने हैं–

अर्थालंकार: 1. वास्तव 2. औपम्य 3. अतिशय 4. श्लेष कुल 36 अलंकार

8. रुद्रभट्ट –

इन्हें आनंदवर्धन का समसामयिक भी माना जाता है। इनकी रचनाएँ हैं - 'श्रृंगारतिलक' । रुद्रभट्ट मूलतः रसवादी आचार्य थे। उनके ग्रंथ में शृंगार रस का विवेचन-विश्लेषण मिलता है। जिसमें नवरस, भाव तथा नायक-नायिका भेद, विप्रलंभ शृंगार तथा अन्य रसों का विवेचन किया गया है।

2. प्रौढ़ काल– (9 वीं शती के मध्य से 10 वीं–11 वीं शती)

प्रमुख आचार्य – आनंदवर्धन, भट्ट तौत, भट्ट नायक, अभिनवगुप्त ।

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में प्रस्तुत काल तक काव्य-शास्त्र और समीक्षा के नए- नए सिद्धांतों का गंभीर और तात्त्विक प्रतिपादन मिलता है। अतः इस युग को प्रौढ़ काल कहना उचित प्रतीत होता है।

1. आनंदवर्धन – (लगभग 850-875 ई.)

आ. आनंदवर्धन 'ध्वनि सिद्धांत' के जनक है। इनके 'ध्वन्यालोक' ग्रंथ को काव्य शास्त्र के इतिहास में 'युग निर्माता' और अलंकार शास्त्र का मार्गदर्शक ग्रंथ भी मानते हैं।

आनंदवर्धन की मान्यताएँ –

(i) आनंदवर्धन ने काव्य की आत्मा 'ध्वनि' को माना है। काव्य की आत्मा के दो भेद किए हैं –

अ) वाच्य ब) प्रतीयमान। अलंकारवादियों ने अर्थ के दो भेद बताए -1) वाच्य, 2) अभिधेय ।

(ii) उन्होंने व्यंग्य की प्रधानता के आधार पर ध्वनि के भेद-संलक्ष्यक्रमध्वनि, असंलक्ष्यक्रमध्वनि।

(iii) उन्होंने व्यंग्य प्रधान को उत्तम काव्य माना है। व्यंग्य से अधिक वाच्य वाले काव्य को मध्यम या अधम काव्य कहा है।

2. भट्टतौत (समय लगभग 950-980 ई.)

भट्टतौत को आ. अभिनवगुप्त का गुरु माना जाता है। इनका स्वतंत्र रूप से कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इनके मतों का उल्लेख अभिनव गुप्त के ग्रंथ 'अभिनव भारती' में मिलता है।

भट्टतौत की उपलब्धियाँ –

(i) वे काव्य की रचना-प्रक्रिया को दो स्तरों में देखते हैं- अ) दर्शन या अनुभूति ब) अनुभूति का वर्णन।

(ii) काव्यास्वादन के संदर्भ में कहते हैं काव्य को पढ़कर दर्शन की अभिव्यक्ति होती है। सहृदय भी वही दर्शन करके आनंद प्राप्त करता है।

(iii) भट्टतौत ने आचार्य शंकुक की अनुकृति और अनुमिति का खंडन किया।

(iv) वे शांत रस को मोक्षदायक और सर्वोत्तम स्वीकार करते हैं, वे रसवादी आचार्य थे।

3. भट्टनायक (लगभग 935-985 ई.)

'भट्टनायक भी रसवादी आचार्य थे। इनका मूल ग्रंथ 'हृदयदर्पण' माना जाता है; किंतु वह अनुपलब्ध है। भट्टतौत की तरह इनके मत का उल्लेख 'अभिनव भारती' में मिलता है, जिसके आधार पर इनकी मान्यताओं को समझा जा सकता है।

उनकी उपलब्धियाँ -

(i) उनके अनुसार- रस न प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है।

(ii) भट्ट नायक का 'भुक्तिवाद' काव्यशास्त्रीय रससिद्धांत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने शंकुक के दोषों का निवारण करके रसनिष्पत्ति के संबंध में कहा– रस की न उत्पत्ति, न अनुमिति एवं अभिव्यक्ति भी नहीं होती, बल्कि अनुभव और स्मृति के आधार पर उसकी प्रतीति होती हैं। उन्होंने रसनिष्पत्ति -1. अभिधा 2. भावकत्त्व 3. भोजकत्व ये मानी है।

(iii) भट्टनायक का 'भावनाव्यापार' ही साधारणीकरण सिद्धांत' है, जो भारतीय काव्यशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

4. अभिनवगुप्त (लगभग 980-1220 ई. के मध्य)

अभिनवगुप्त शैव दर्शन और तंत्र शास्त्र के पक्षधर रसशास्त्र के सबसे प्रसिद्ध आचार्य हैं। उनके ग्रंथ है- 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन'। ये दोनों ही ग्रंथ क्रमशः आ. भरत के नाट्यशास्त्र और ध्वन्यालोक पर लिखी गई टीकाएं हैं।

अभिनवगुप्त की उपलब्धियाँ –

(i) वे काव्य का प्रयोजन 'आनंदसाधना' मानते हैं।

(ii) उन्होंने रसध्वनि को 'काव्य की आत्मा', भावध्वनि को 'प्राण' तथा वस्तु – अलंकार ध्वनि को 'जीवित' शब्दों से अभिहित किया है।

(iii) उन्होंने व्यंजना वृत्ति को आनंदवर्धन के मत के अनुकूल माना है।

(iv) भरतसूत्र के मौलिक व्याख्याकारों में से वे अंतिम आचार्य हैं। उन्होंने शंकुक, भट्ट तौत, भट्टनायक आदि के मतों पर विचार करते हुए रससिद्धांत पर मत व्यक्त किया है।

5. राजशेखर (लगभग 880-920 ई.)

राजशेखर का प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' है, किंतु अभी तक उसका 'कविरहस्य' भाग ही प्राप्य है जो काव्यमीमांसा के 18 भागों में से एक है।

राजशेखर की उपलब्धियाँ

(i) वे काव्य की रचना और स्वरूप को 'काव्यपुरुष' की कल्पना मानते हैं। इसमें ही स्थान-स्थान पर वे अपना मत परोक्षतः व्यक्त करते हैं कि-

(ii) रस ही काव्य की आत्मा है और गुणों और अलंकारों से युक्त वाक्य का नाम काव्य है। काव्य के गुण हैं– समता, प्रसन्नता, मधुरता, उदारता और ओजस्विता।

(iii) वे कवि-प्रतिभा और आलोचक पर विचार करते हुए तीन प्रकार की बुद्धि मानते हैं– स्मृति, मति और प्रज्ञा। वे कहते हैं कि कवि के लिए तीनों प्रकार की बुद्धि आवश्यक है। प्रतिभा भी दो तरह की है – कारयित्री और भावयित्री।

6. धनंजय और धनिक (लगभग 10 वीं शती का उत्तरार्द्ध)

इस दोनों को भाई-भाई माना जाता है। धनंजय के ग्रंथ का नाम 'दशरूपक' है: और धनिक ने उस ग्रंथ पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी। इस ग्रंथ की कुछ मान्यताएँ इस प्रकार हैं-

(i) रसनिष्पत्ति के विषय में इन्होंने व्यंजनावाद को अस्वीकृत कर तात्पर्यवाद का समर्थन किया।

(ii) शांतरस को वे काव्य में ग्राह्य मानते हैं, नाटक में नहीं।

(iii) उन्होंने रूपक के दस भेदों का उल्लेख किया है-नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग ।

(iv) रूपक के ३ आधार माने गए हैं-वस्तु, नेता और रस। फिर इनके प्रकार आदि का वर्गीकृत परिचय दिया है।

(v) रस के संबंध में उनकी मान्यता है कि स्थायीभाव स्वाद्यत्त्व के कारण रस बनता है, और वह रसिक में ही विद्यमान होता है, अनुकार्य में नहीं, क्योंकि रसिक ही विद्यमान है। अनुकार्य तो केवल वृत्त है अर्थात् पहले वर्तमान था, अब नहीं है। काव्य भी अनुकार्यपरक नहीं है, रसिक-परक है, क्योंकि रसिक वर्तमान है।

3. प्रतिक्रिया – युग (लगभग 950-1000 **ई.)**

प्रमुख आचार्य- कुंतक तथा महिमभट्ट।

1. आ. कुंतक – (समय– दशम शतक का अंत एकादश शतक का आरंभ) आ. कुंतक 'वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य हैं। भामह और दण्डी द्वारा निर्दिष्ट अलंकार का मूलतत्त्व वक्रोक्ति-कुंतक द्वारा काव्य की आत्मा घोषित की गई है। उनका ग्रंथ 'वक्रोक्तिजीवित' है।

कुंतक की मान्यताएँ –

(i) काव्य का प्रयोजन-काव्य-बंध, उच्च कुल में समुत्पन्न (परिश्रमहीन) के हृदयों को आह्लादित करने वाला कोमल, मृदु शैली में व्यक्त धर्म सिद्धि का मार्ग है।

(ii) काव्य में अलंकार और अलंकार्य-शब्द और अर्थ दोनों ही अलंकार्य होते हैं। रूप वक्रोक्ति ही उन दोनों का अलंकार होती है।

(iii) वे ''शब्दार्थो सहितौ काव्यम्'' को काव्य का लक्षण स्वीकार करते हुए शब्द और अर्थ का विशिष्ट लक्षण लेने पर बल देते हैं।

(iv) वक्रोक्ति को वे काव्य की आत्मा सिद्ध करते हैं । वे कहते हैं कि वक्रोक्ति ही शब्द तथा अर्थ दोनों का एकमात्र अलंकार है। प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है।

कवियों के व्यापार की वक्रता के मुख्यतया छः प्रकार मानते हैं-

1. वर्ण-विन्यास वक्रता, 2. पद-पूर्वार्द्ध वक्रता 3. प्रत्यय वक्रता

4. वाक्य वक्रता 5. प्रकरण वक्रता 6. प्रबंध-वक्रता ।

(v) वे स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते।

2. महिमभट्ट (लगभग ग्यारवीं शताब्दी का मध्यकाल)

महिमभट्ट कश्मीर निवासी थे। इनका ग्रंथ 'व्यक्ति-विवेक' है। वे अनुमानवादी आचार्य थे। उन्होंने ध्वनि सिद्धांत का खंडन किया है, आनंदवर्द्धन के ध्वनि सिद्धांत को अनुमान में अंतर्भूत करके अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। उनकी मान्यताएँ विशेष प्रचलित नहीं है।

महिमभट्ट की मान्यताएँ–

(i) इन्होंने एकमात्र 'अभिधा' को ही 'शब्दशक्ति' माना है।

(ii) 'लक्षणा' एवं 'व्यंजना' का अंतर्भाव इसी में स्वीकार किया है।

(iii) इन्होंने रस की स्थिति सहृदय में स्वीकार की है।

(iv) ये ध्वनि विरोधी और रसवादी आचार्य है।

4. औचित्य युग (ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध) –

प्रमुख आचार्य- क्षेमेंद्र, मम्मट

1. क्षेमेंद्र (लगभग ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध)

क्षेमेंद्र भी कश्मीर निवासी थे। इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं-औचित्य विचार चर्चा, सुवृत्त – तिलक और कविकण्ठाभरण। इनमें से 'औचित्य विचार चर्चा' का काव्यशास्त्र में विशेष स्थान है। वे औचित्य सिद्धांत के जनक हैं, काव्य में औचित्य की महत्त्वपूर्ण स्थिति इन्होंने सिद्ध की है।

क्षेमेंद्र की स्थापनाएँ –

(i) वे कहते हैं कि अलंकार आदि उचित स्थान पर धारण करने पर ही अलंकार होते हैं । औचित्य से युक्त गुण ही सर्वथा गुण कहलाते हैं। उचित के भाव को औचित्य कहते हैं।

(ii) वे पद-औचित्य, वाक्य-औचित्य, प्रबंध-औचित्य, गुण-औचित्य, स्वभाव – औचित्य और प्रतिभा औचित्य की व्यापक चर्चा करते हैं।

(iii) वे काव्य का जीवित तत्त्व औचित्य ही मानते है।

2. मम्मट (लगभग ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध)

मम्मट कश्मीर निवासी थे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है- 'काव्यप्रकाश'। जिसमें काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु तथा काव्य भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि-भेद रस-भाव, गुणीभूत व्यंग्य, चित्रकाव्य का, दोष-गुण-शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का विवेचन किया गया है।

इन्होंने ध्वनिवाद की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों का व्यवस्थापूर्ण सम्पादन किया है। काव्यशास्त्र में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने 'काव्य-प्रकाश' पर संस्कृत में ही 70 से अधिक टीकाएँ लिखी हैं। वे मूलतः ध्वनिवादी आचार्य हैं।

मम्मट की मान्यताएँ –

(i) 'काव्यप्रकाश' में 10 अध्याय है, जिन्हें 'उल्हास' कहा गया है।

(ii) इन्होंने 'काव्यगुणों' को रस का धर्म माना है।

(iii) इन्होंने काव्य प्रयोजन में आनंद को विशेष महत्त्व दिया है।

(iv) इन्होंने 'शक्ति', 'निपुणता' और 'अभ्यास' को काव्य का हेतु माना है।

5. व्याख्या–युग (बारहवीं शती से उन्नीसवीं शती तक)

प्रमुख आचार्य – रुय्यक से लेकर रीतिकालीन आचार्यों तक।

आलोचना-युग के पश्चात् हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों तक सभी आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धांतों की व्याख्या ही अपनी टीकाओं में की है। इस युग को व्याख्या का युग कहना उचित जान पड़ता है। इस युग के प्रमुख आचार्य हैं-संस्कृत के रुय्यक, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ, जयदेव, अप्पयदीक्षित, रामचन्द्र गुणचन्द्र, शारदातनय शिंगभूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी, चिंतामणि, अमरचन्द और देवेश्वर, तथा हिंदी के रीतिकालीन आचार्य केशवदास, चिंतामणि, कुलपति, देव, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि आदि हैं।

इस युग के आचार्यों का परिचय और कृतित्व है–

1. रुय्यक (लगभग बारहवीं शताब्दी का मध्य भाग)

कश्मीर निवासी आ. रुय्यक का प्रसिद्ध ग्रंथ 'अलंकार-सर्वस्व' है। इसे 'अलंकार-सूत्र' भी कहा जाता है। इन्होंने 'व्यक्तिविवेक' पर भी अपनी टीका लिखी है।

वे रस को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य मानते हैं, और रस सिद्धांत का खंडन करके अलंकार तथा ध्वनि का एक साथ समर्थन करते हैं।

विश्वनाथ (लगभग 12 वीं शती का मध्यकाल)

इन्हें प्रायः उड़ीसा का निवासी माना जाता है। इनका महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है– 'साहित्यदर्पण'।

विश्वनाथ रसवादी आचार्य थे। उन्होंने मम्मट, आनंदवर्धन, कुंतक, भोजराज आदि के काव्य लक्षणों का खंडन प्रस्तुत करके रस को काव्य की आत्मा घोषित किया है किंतु स्मरणीय है कि वे रस को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि का ही एक रूप स्वीकार करते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ – (सत्रहवीं शताब्दी का मध्य)

शाहजहाँ द्वारा पंडितराज की उपाधि से विभूषित आचार्य जगन्नाथ की प्रसिद्धि उनकी रचना 'रसगंगाधर' के कारण है। उनकी यह अपूर्ण रचना मानी जाती है। इस ग्रंथ के दो आनन हैं-

(i) प्रथम आनन में काव्य– लक्षण, काव्य हेतु तथा काव्य-भेदों के निरूपण के पश्चात् रस, रस– दोष तथा गुण आदि का सांगोपांग वर्णन है।

(ii) द्वितीय आनन में ध्वनि के विभिन्न भेद-उपभेद हैं तथा अभिधा लक्षणा का विवेचन है। इसके बाद अलंकार निरूपण है। 70 अलंकारों के वर्णन के बाद ही ग्रंथ समाप्त है।

1. रामचंद्र – गुणचंद्र (12 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) ये जैन आचार्य थे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है- नाट्यदर्पण'। इसमें रस का समर्थन है।

2. जयदेव – (तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग) इनका ग्रंथ है- चंद्रालोक ये ध्वनिवादी माने जा सकते हैं, इन्होंने रस को भी ध्वनि के अंतर्गत समाहित कर लिया है।

3. शारदातनय – (तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग) इनके ग्रंथ का नाम 'भाव प्रकाशन' है। इसमें उन्होंने रस का समर्थन किया है। ये भट्टनायक से विशेषतः प्रभावित हैं।

4. भानुदत्त – (तेरहवीं-चौदहवीं शती) इनके दो ग्रंथ मिलते हैं–'रसतरंगिणी' 'रसमंजरी'। इनमें रस की व्याख्या है। अन्य तत्त्वों को गौण माना गया है।

5. अप्पयदीक्षित (सोलहवीं सत्रहवीं शती) ये ध्वनि के समर्थक हैं।

इन आचार्यों के अतिरिक्त संस्कृत के आचार्यों का भी हुए हैं जिनका काव्यशास्त्र के इतिहास में नामोल्लेख करना उचित जान पड़ता है-

1. अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग के अज्ञात रचनाकार, जिनका समय अनुमानतः बारहवीं शती के निकट माना जाता है।

2. हेमचन्द्र – बारहवीं शती

3. वाग्भट्ट प्रथम – बारहवीं शती का पूर्वार्द्ध

4. अमरचंद्र – तेरहवीं शती का मध्यभाग

5. शिंगभूपाल – तेरहवीं शती का मध्यभाग

6. विद्याधर– तेरहवीं-चौदहवीं शती

7. विद्यानाथ-तेरहवीं-चौदहवीं शती

8. वाग्भट्ट द्वितीय-चौदहवीं शती के आसपास

9. रूपगोस्वामी-पंद्रहवीं-सोलहवीं शती

10. केशवमिश्र – सोलहवीं शती का मध्यभाग

11. कविकर्णपूर-सोलहवीं सत्रहवीं शती

12. अकबर शाह–सत्रहवीं शती का मध्यभाग

नोट– ग्यारहवीं शती में जैनमुनि नयनंद जो अपभ्रंश के आचार्य हैं, उनका ग्रंथ 'सुदर्शनचरित्र' है।

इसी क्रम में चौदहवीं शती के आसपास ज्योतिरीश्वर ठाकुर उनका ग्रंथ है– 'वर्णरत्नाकर'।

हिंदी के आचार्य–

हिंदी काव्य शास्त्र के प्रथम आचार्य कृपाराम माने जाते हैं। उनका ग्रंथ है– 'हिततरंगिणी' जिसका रचनाकाल 1541 ई. माना गया है। इसके बाद हिंदी का भक्तिकाल हमारे सामने है; किंतु प्रत्यक्षरूप से कोई भी आचार्य ऐसा उपलब्ध नहीं होता जिसने काव्य-शास्त्र की परंपरा में ऐतिहासिक महत्त्व का योगदान दिया हो। हाँ, नंददास की रचना 'सरसमंजरी' में नायिका भेद का वर्णन उपलब्ध होने से, उन्हें काव्यशास्त्री आचार्य भी कहा जा सकता है।

तत्पश्चात् रीतिकालीन आचार्यों को काव्यशास्त्र की परंपरा में इसलिए महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है कि इन्होंने संस्कृत के काव्यशास्त्र के आचार्यों के सिद्धांतों को हिंदी में प्रस्तुत किया है। मौलिकता का प्रायः अभाव ही है। इन सब का कृतित्त्व एवं परिचय इस प्रकार देखा जा सकता है-

1. केशवदास (1555-1617 ई.)

प्रायः केशवदास को हिंदी का प्रथम आचार्य माना जाता है। वे कवि और आचार्य दोनों थे। उनके काव्यशास्त्र संबंधी दो ग्रंथ हैं-रसिकप्रिया (1591) और कवि-प्रिया (1601) दोनों में 16-16 प्रकार है। जिनमें शृंगार रस, उसके भेदोपभेद तथा नायक- नायिका भेद का तथा वर्णन है। विभिन्न काव्यांगों का, सामान्य तथा विशेष अलंकारों का निरूपण किया गया है।

2. **सुंदर कवि**

इनका ग्रंथ 'सुन्दर शृंगार' है। जिसकी रचना सन् 1631 में हुई मानी जाती है।

3. **चिन्तामणि त्रिपाठी (लगभग सन्** 1609)

इनकी काव्यशास्त्र संबंधी चार रचनाएँ प्रसिद्ध हैं- 1. काव्य-विवेक 2. काव्य-प्रकाश 3. कविकुलकल्पतरु और 4. रसमंजरी। दो अन्य रचनाएँ, पिंगल पराग-छन्द शास्त्र से सम्बद्ध तथा रामायण-काव्यग्रंथ है। इनका 'कविकुलकल्पतरु' प्रसिद्ध ग्रंथ है। जिसमें संस्कृत के पूर्ववर्ती आचार्यों के ही मतों को स्थान दिया गया है।

4. **कुलपति मिश्र (लगभग सन्** 1667-1686 **ई.)**

राजदरबारी कवि कुलपति आगरा निवासी थे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'रस रहस्य' (1670 ई.) और 'गुण-रस-रहस्य' अनुपलब्ध है।

'रसरहस्य' में 8 वृत्तान्त है। जिसमें काव्य, ध्वनि, अलंकार आदि पर विवेचन किया है। इन्होंने मम्मट की तरह रस को ध्वनि में समाहित किया है।

5. **देव (**1689 **ई. से** 1734 **ई.)**

देव मूलतः कवि थे, उनके दो ग्रंथ हैं- 'भाव-विलास' (1689) तथा 'शब्द-रसायन' (1700)।

इन्होंने काव्य की आत्मा, कवि का आदर्श, काव्य का माहात्म्य, समर्थ काव्य तथा रस का स्वरूप, शृंगार रस और उसके रसराजत्व, काव्य के गुण भेद आदि पर विचार व्यक्त किए हैं। अलंकारों के महत्त्व तथा शब्दालंकार, अर्थालंकार पर चर्चा करके शब्दशक्तियों के संबंध में इन्होंने काव्य में अपनी बात कही है।

6. **श्रीपति कविता (काल –** 1720 **ई.)**

इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्य-सरोज' है, जिसमें उन्होंने काव्य की परिभाषा, काव्य-दोष, काव्य में अलंकार प्रयोग तथा काव्य में रस की महत्ता पर विचार किया है।

7. **सोमनाथ (काल** 1733 **से** 1753 **ई.)**

इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है– 'रसपीयूषनिधि'। इसमें सामान्य काव्य सिद्धांत-काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्यरचना, काव्य-सामग्री, काव्य के भेद का निरूपण है। शब्द शक्ति, ध्वनि, रस तथा अलंकार आदि की चर्चा की है। काव्य के गुण-दोषों पर प्रकाश डाला गया है।

8. **भिखारी दास (काल** 1728 **से** 1750 **ई.)**

इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। शृंगार निर्णय 2. रस सारांश 3. काव्य-निर्णय। इनमें काव्यशास्त्र के इन्हीं सामान्य सिद्धांतों पर प्रकाश डाला गया है।

9. **रसिक गोविन्द (काल** 1801 **ई.)**

इनका रचित ग्रंथ 'रसिकगोविन्दानन्दघन' है जिसकी रचना ई. 1801 में हुई।

10. **प्रतापसाहि (काल** 1823 **से** 1843 **ई.)**

इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्य-विलास' (1829) उपलब्ध होता है। इसके साथ ही व्यंग्यार्थकौमुदी (1826), काव्य-विनोद, शृंगारमंजरी और अलंकार – चिंतामणि नामक ग्रंथ भी इन्हीं के हैं।

काव्यशास्त्र की दृष्टि से काव्य-विलास का विशेष महत्त्व है। इसमें उन्होंने काव्य, प्रयोजन, शब्दशक्ति, ध्वनि व्यंग्य, गुण तथा दोषों का निरूपण किया है। रस को वे ध्वनि में ही समाहित करते हैं। अतः ये भी ध्वनिवादी ही हैं।

6. आधुनिक युग (19 वीं शताब्दी से अब तक)

इस युग के आचार्य प्रायः साहित्य गद्य, पद्य अथवा दोनों लिखते हैं। इसी बीच उन्होंने अपनी काव्यशास्त्रीय मान्यताओं को प्रस्तुत किया है।

प्रमुख आचार्यों के मत

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् 1850-1885 **ई.)**

इन्होंने नाटक का स्वरूप, नाटक की रचना प्रणाली आदि पर विचार करते हुए नाटक में रस प्रयोग संबंधी सावधानियों पर विचार किया है।

2. महावीर प्रसाद द्विवेदी (सन् 1864-1938 **ई.)**

इनका काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'रसज्ञ रंजन' है। 'रसज्ञ-रंजन' में द्विवेदी जी ने इन प्रमुख बातों को स्पष्ट किया है- कविता और छन्द, कविता की भाषा, कविता में अर्थ का गौरव, काव्य का विषय और काव्य में नायिका-भेद ।

उनकी मान्यता है कि गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। काव्य में छंद भाषा आदि के क्षेत्र में नवीनता भी आनी चाहिए। कविता की भाषा सहज और हृदयग्राही होनी चाहिए पर शब्दों का प्रयोग करते समय पर्याप्त सतर्कता बरतनी चाहिए। अर्थ-सौरस्य ही कविता का प्राण है। कविता का विषय मनोरंजक और उपदेशजनक होना चाहिए। काव्य में नायिका भेद वर्णन लाभदायक नहीं।

3. मिश्रबन्धु

ये तीन भाई थे पं. गणेश बिहारी मिश्र, पं. श्यामबिहारी मिश्र और पं. शुकदेवबिहारी मिश्र। हिंदी साहित्य के इतिहासकार तथा निर्णयात्मक आलोचना के प्रवर्तक के रूप में ये तीन मिश्रबन्धु नाम से प्रसिद्ध हैं। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इनके दो ग्रंथ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं- मिश्रबन्धु विनोद और हिंदी - नवरत्न। समालोचक के गुण तथा 'काव्य का सत्य' इन दो विषयों पर इनके विचार महत्त्वपूर्ण हैं।

4. पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

'हरिऔध' जी के काव्य-शास्त्र विषयक ग्रंथ हैं-

1. रसकलस, 2. बोलचाल, 3. रस साहित्य और समीक्षाएँ।

रस के संदर्भ में उन्होंने रस की आनंदस्वरूपता, शृंगाररस, वात्सल्य रस पर महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं। काव्य-भाषा के संदर्भ में ये रसानुकूलता और शुद्ध प्रयोग पर बल देते हैं, प्रसाद गुण की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं।

5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (ई. 1884-1904)

हिंदी काव्यशास्त्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान आ. रामचन्द्र शुक्ल का है। इन्होंने अपने मौलिक चिंतन और स्वस्थ दृष्टि से भारतीय काव्य-शास्त्र को नई दिशा दी।

उनके प्रमुख ग्रंथ हैं- 1. चिन्तामणि- दो भाग 2. रसमीमांसा 3. जायसी ग्रंथावली 4. भ्रमरगीत सार 5. गोस्वामी तुलसीदास ।

इनकी प्रमुख स्थापनाओं में साधारणीकरण, अलंकार- रस काव्य आदि

उनकी चिन्तनप्रणाली में पाश्चात्य और भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टियों के समन्वित रूप का प्रभाव लक्षित होता है।

6. श्यामसुन्दर दास (सन् 1875-1945 ई.)

इनका काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथ 'साहित्यालोचन' है। इस ग्रंथ में साहित्य का स्वरूप, कला और आचारशास्त्र, आलोचना के प्रकार पर प्रमुख रूप से विचार किया गया है।

7. पद्मसिंह शर्मा (सन् 1876-1952)

इनका ग्रंथ – 'बिहारी की सतसई' है। आलोचनात्मक इस ग्रंथ में काव्य में शृंगार रस पर विचार करते हुए उसकी महत्ता सिद्ध की गई है, इसके साथ ही उनके काव्य में 'भाववक्रता' पर भी विचार किया गया है।

8. कृष्ण बिहारी मिश्र (जन्म सन् 1890)

इनका ग्रंथ है- 'देव और बिहारी'। इस ग्रंथ में भाषा के माधुर्य पर विचार किया गया है, जो महत्त्वपूर्ण है। समालोचना और रसराज के संबंध में भी इनके विचार विशेष महत्त्व रखते हैं।

9. बाबू गुलाबराय (सन् 1944-2020 वि.)

आचार्य शुक्ल के बाद हिंदी-काव्यशास्त्र के क्षेत्र में बाबू गुलाबराय का स्थान विशेष महत्त्व का है। इनके दो काव्यशास्त्रीय ग्रंथ इनके सिद्धांतों को प्रस्तुत करते हैं-

1. सिद्धांत और अध्ययन। 2. काव्य के रूप।

बाबू जी ने काव्य का सौंदर्य, काव्य और साहित्य, गीत और इतिवृत्त, लोकगीत और साहित्यिक गीत, दुःखांत नाटक, साहित्य में चरित्र चित्रण तथा साधारणीकरण आदि विषयों पर अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं। साधारणीकरण के संबंध में वे कहते हैं कि साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं वरन् उसके संबंधों का

होता है। भावों के साधारणीकरण कारण उसमें लौकिक अनुभव की स्थूलता, कटुता, तीक्ष्णता और रुक्षता नहीं रहती है। एकात्मवाद के अधिक प्रचार के कारण भारतीय मनोवृत्ति सामान्य की ओर अधिक झुकी हुई है। साधारणीकरण की उपयोगिता काव्यानुशीलन की उपयोगिता है। उसके द्वारा हमारी सहानुभूति विस्तृत हो जाती है। हम दूसरे के साथ तादात्म्य करना सीखते हैं। हमारे भावों का परिष्कार होकर उनका पारस्परिक सामंजस्य भी होने लगता है।

अन्य समीक्षक

इन काव्य शास्त्र चिंतकों/ समीक्षकों के अतिरिक्त हिंदी में कई अन्य समीक्षक हैं, जिन्होंने सर्जनात्मक कृतियों के साथ-साथ समीक्षात्मक निबंध लिखे हैं। यह प्रवृत्ति छायावादी कवियों और बाद में प्रयोगशील और नई कविता के कवियों में अधिक मिलती है। ऐसे कवि- समीक्षकों में जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा की गणना विशेष रूप से की जा सकती है। इसी तरह अज्ञेय और जगदीश गुप्त गिरिजा कुमार माथुर तथा मुक्तिबोध प्रयोगशील नई कविता के हस्ताक्षर हैं।

स्वतंत्र रूप से समीक्षा के क्षेत्र में गम्भीर कार्य करने वाले आचार्य हैं- डॉ. नगेन्द्र, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, आ. नंद दुलारे वाजपेयी, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, राम मूर्ति त्रिपाठी, आनंद प्रसाद दीक्षित, और डॉ. राकेश गुप्त आदि । इधर नए समीक्षकों में देवेंद्र इस्सर, सुधीश पचौरी, गोपीचंद नारंग आदि के नाम महत्वपूर्ण है।

1.3.1.3 भारतीय काव्यशास्त्र का विकासक्रम (इतिहास) :-

काल विभाजन

काव्यसृजन का विकासक्रम भारत में नितांत प्राचीन है। इस सृजन के लिए शास्त्रीय मानकों की परंपरा भी कम प्राचीन नहीं है। इस प्राचीन परंपरा के संदर्भ में हमारे यहाँ क्रिया-कल्प, काव्य लक्षण, अलंकारशास्त्र, साहित्य-विद्या तथा काव्यशास्त्र के नाम नितांत प्राचीन हैं। आचार्य भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ में 'काव्यलक्षण' के द्वारा कविता की रचना के शास्त्रीय मानदंडों की ओर संकेत किया है।

भारतीय काव्यशास्त्र के लिए छठीं, सातवीं शती में 'सौंदर्यशास्त्र' शब्द का प्रयोग मिलता है। काव्यरचना के रूप विलास से जुड़े सौंदर्य को अलंकरण या सौंदर्यशास्त्र का नाम दिया गया। नवीं, दसवीं शती में इसका नाम 'साहित्य विद्याशास्त्र' रखा गया क्योंकि कविता शब्द तथा अर्थ की सहितता से सर्जित स्वयं में एक विशिष्ट विद्या है। काव्यशास्त्र नाम अपेक्षाकृत नवीन है। अपनी प्रसिद्ध कृति 'संस्कृत पोएटिक्स' के अंतर्गत डॉ. एस. के. डे. महोदय ने संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास को चार भागों में विभक्त किया है-

(1) प्रारंभिक काल – अज्ञात समय से 600 ई. वि.

(2) रचनात्मक काल - 600 ई. से 900 ई. तक

(3) निर्णयात्मक काल - 900 ई. से 1100 ई. तक

(4) व्याख्यात्मक काल – 1100 ई. से 1650 ई. तक।

1. **प्रारंभिक काल**

भारतीय काव्यशास्त्र के प्राचीनतम मत हैं काव्यगुण, उपमा, काव्यलक्षण, काव्यशैया, काव्यपाक । संपूर्ण वाल्मीकि रामायण में काव्यगुण की स्थल-स्थल पर चर्चा मिलती है। भाषा तथा अर्थ में बाह्य सौंदर्य एवं श्रोता के चिन्ह को अत्यन्त आनंदित करने वाले गुण कवि धर्म के अनिवार्य अंग है।

वाल्मीकि रामायण के सुंदर कांड में सीता को श्रीराम का संदेश देते समय हनुमान सोचते हैं कि मैं किस प्रकार की वाणी द्वारा इनको संदेश दूँ और वे काव्यभाषा को गुणों के अनुसार परिवर्तित करते हैं। भाषा के संदर्भ में माधुर्य उदार, अविस्तर, असंदिग्धत्व आदि गुणों की चर्चा महाभारत में मिलती है। महाभारत में वचन मधुर का ही नहीं विचित्रपदत्त्व, असंदिग्ध आदि भाषिक गुणों का उल्लेख मिलता है।

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रारंभिक काल में अलंकार एवं गुण के अतिरिक्त काव्यपाक एवं काव्यशय्या तथा काव्य लक्षण की चर्चा मिलती है। काव्यपाक भाषिक एवं भावात्मक परिपक्वता से संबंध है। काव्यशय्या भी एक आलंकारिक एवं भाषिक गुणात्मक रचना का ही पर्याय है। इन दोनों से अधिक व्याप्ति काव्य लक्षण की है। आ. भरत ने नाट्यशास्त्र में कविता को निर्मित करने वाले 36 लक्षणों का उल्लेख किया है। बाद में लक्षण काव्य गुण तथा काव्यलंकार में विलीन हो गए।

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रारंभिक काल खंड की विशेषताएँ इस प्रकार हैं- –

(1) कविता को भाषिक रचना प्रक्रिया के रूप में स्वीकारा गया है।

(2) इस भाषिक प्रक्रिया के निर्माण में वाह्य शब्द रचना या भाषा रचना का विशेष योगदान है।

(3) काम देवस्तुति, राजस्तुति तथा कथात्मक विन्यासयुक्त संदर्भों को प्रस्तुत करने का माध्यम रहा है।

2. **रचनात्मक काल–**

भारतीय काव्यशास्त्र का यह स्वर्णकाल रहा है। सन् 600 ई. से लेकर 900 ई. तक आचार्य मेधाविरुद्र, भामह, दंडी, वामन, आनंदवर्धन, कुंतक आदि आचार्य इस काल खंड में हो चुके थे। इस काल खंड की सबसे बड़ी विशेषता यह हैं कि इसमें नवीन सैद्धांतिक चिंतनों का जन्म ही नहीं हुआ– उन्हें पूर्ण व्यवस्था भी दी गई। इस कालखंड के प्रमुख सिद्धांत एवं सिद्धांतकार इस प्रकार है-

(1) भामह – अलंकारवक्रता सिद्धांत

(2) दंडी – गुणात्मक अलंकरण सिद्धांत

(3) आचार्य वामन - रीति सिद्धांत

(4) आचार्य आनंदवर्धन - ध्वनि सिद्धांत

(5) आचार्य कुंतक – वक्रोक्ति सिद्धांत

(6) आचार्य लोल्लट – भरत के रससूत्र के व्याख्याकार

आचार्य वामन इन मतों से भिन्न कविता की निर्मिति में वाक्य रचना को अनिवार्य तथा आवश्यक बनाते हैं। उनके अनुसार 'विशिष्ट पदरचना रीति है और यही रीति ही काव्य है। विशिष्टता का आधार भाषिक गुण है । यह शब्द तथा अर्थ की नैसर्गिक प्रकृति से संबंध होकर काव्यसृजन का आधार बनता है। आचार्य वामन तक भारतीय कविता रचना शब्द, अर्थ, रीति अर्थात् उसके बाह्यविधान व्यवस्थाओं से जुड़ी थी।

आ. आनंदवर्धन ने कविता की रचना के संदर्भ में परंपरा से हटकर एक भिन्न व्यवस्था दी। उन्होंने मूल प्रश्न उठया कि क्या कविता शब्दार्थ के सौंदर्य विधान के लिए रची जाती है। यदि कविता इतने तक ही सीमित है – उसका मंतव्य सौंदर्य विधान रचना के बाद समाप्त हो जाना चाहिए, किंतु इस सौंदर्य विधान के बाद भी कविता बची रहती है। इसी तरह, रीति रचना के विषय में भी प्रश्न उठाया जा सकता है। किसी काव्य कृति का उद्देश्य यदि रीति रचना ही है तो यह उसका एक सीमित लक्ष्य होगा। कविता की रचना सौंदर्य विधानमयी रीति रचना के बाद भी कुछ है, वह क्या है? उसकी व्याप्ति कहाँ तक है, इस विषय में ध्वनि सिधांत की मान्यता निश्चित ही सर्वोपरि है।

रचनात्मक काल खंड की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

(1) यह काल खंड भारतीय साहित्य चिंतन का स्वर्ण काल कहा जा सकता है। आचार्य भामह से आचार्य कुंतक तक अर्थात् 600 ई. से 950 ई. तक भारतीय काव्य चिंतन का सर्वोपरि विकास हुआ। इस युग ने निर्धारित किया कि काव्य होने या बनने की प्रमुख या मूल शर्त क्या है, काव्यभाषा का भौतिक सौंदर्य या अर्थ रचना का आन्तरिक सौंदर्य या फिर उससे ऊपर अभिप्राय रूप में व्यंजित सर्जक का मंतव्य इन तीनों में से किसे प्राथमिकता दी जाए या इन तीनों को स्वीकार करके उनके बीच कार्य-कारण संबंध स्थिर किया जाए।

(2) इस काल खंड की दूसरी विशेषता यह है कि अब तक अव्यवस्थित काव्य चिंतन को एक विषय होने का एहसास कराया गया। प्रत्येक सिद्धांतों की भाँति काव्य सिद्धांत को स्थापित किए जाने का श्रेय इसी काल खंड को है।

(3) इस काल खंड में ही 'काव्यात्मा' का प्रश्न उठाया गया और यह स्थापित करने की चेष्टा की गई कि कविता होने की मूल सार्थकता क्या है।

(4) काव्य के अंतर्गत मूल प्रयोजन के रूप में स्थित अभिप्राय रूप कवि का उपयोगी मंतव्य तथा पाठक के चित्त को आनंदित करने वाला रस सभी काव्य से संबंध हैं और इस प्रकार उसकी व्याप्ति केवल सर्जक तक न होकर पाठक या सामाजिक की संपूर्ण व्यवस्था है।

डे. महोदय ने इसके लिए रचनात्मक कालखंड की संज्ञा इसीलिए दी कि भामह, दंडी आदि चिंतकों ने सर्वथा नवीन ढंग से सोचकर अपनी प्रतिभा एवं कल्पनाशक्ति के सामर्थ्य द्वारा काव्य सिधांत चिंतनों को रचकर सामने रखा।

3. निर्णयात्मक काल

आ. राजशेखर, अभिनवगुप्त, धनिक धनंजय, महिम भट्ट, भोज, क्षेमेन्द्र, मम्मट जैसे आचार्य इस युग में हुए। आ. क्षेमेन्द्र ने इस युग में औचित्य विचार पर चर्चा तथा राजशेखर ने कवि शिक्षा जैसे संप्रदायों की स्थापना की। उनका उद्देश्य व्यावहारिक तथा प्रायोगिक अधिक सैद्धांतिक कम था। यद्यपि इन आचार्यो ने दोनों काव्य चिंतनों का सैद्धांतिक विवेचन पर्याप्त रूप से किया है। किंतु अंततया उनकी परिणति व्यवहार पक्ष में ही होती है। आ. भोज ने शृंगार प्रकाश के अंतर्गत कलात्मक काव्य चेतना की प्राकृतिक वासना को 'काम सिधांत' द्वारा समझाने की चेष्टा की और बड़े ही व्यापक ढंग से काव्यशास्त्रीय चिंतनों में स्थिरता लाने की चेष्टा की।

इस युग में आ. अभिनवगुप्तपादाचार्य का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने किसी नवीन ग्रंथ की रचना नहीं की थी। आ. भरत कृत नाट्यशास्त्र के छः अध्यायों की व्याख्या तथा आ. आनंदवर्धन कृत ध्वन्यालोक की टीका ध्वन्यालोकलोचन के नाम से की। किंतु अपनी इन्ही दो व्याख्याओं के आधार पर वे भारतीय काव्यशास्त्र चिंतन के शीर्ष विद्वान बन गए। धनिक-धनंजय का नाट्यसिधांत, महिम भट्ट कृत अमिधा शब्द शक्ति की सतर्क स्थापना एवं आ. मम्मट कृत काव्य प्रकाश की टीकाओं तथा व्याख्याओं का इस शास्त्र परंपरा में अक्षुण्ण महत्त्व बना है।

प्रमुख विशेषताएँ –

(1) रचनात्मक काल खंड के चिंतनों को प्रायः स्वीकृति देते हुए इस युग के विचारकों ने उसको और अधिक गंभीरता देने की चेष्टा की है। गंभीरता देने का आधार वैचारिक तथा दार्शनिक हैं।

(2) भारतीय शास्त्र चिंतन को प्रामाणिकता, व्याप्ति एवं सैद्धांतिक गंभीरता प्रदान करने का कार्य इस काल खंड ने किया। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि भारतीय रस चिंतन को काव्य की कलात्मक सचेतना के मूल प्राण के रूप में प्रतिष्ठित करके उसे सर्वग्राह्य तथा सर्वव्यापी बनाने का प्रयास किया गया।

इसी के साथ, कवि शिक्षा एवं औचित्य मत की स्थापना दिलाने में भी इसका योगदान स्वीकार किया जाता है।

4. व्याख्यात्मक काल

इस कालखंड की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कोई नवीन काव्य चिंतन स्थापित नहीं किया गया। प्रायः राजनीतिक दबावों के कारण भारतीय विद्याचिंतन का यह हताशा तथा निराशा भरा कालखंड माना जाता है। फिर भी, इस युग के आचार्यों ने प्राचीन काव्य चिंतन की प्रामाणिक टीकाएँ, पूर्ण चिंतनों की

सम्मिलित व्याख्या एवं आचार्यों के मंतव्यों का समुचित स्पष्टीकरण प्रायः गंभीरता रूप में किया है। तथा कवि वर्णकों एवं कवि शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया गया।

आचार्य राजनक रूय्यक, वाग्भट्ट, हेमचंद्र, जयदेव, रामचंद्र गुणचंद्र विद्याधर, विद्यानाथ आचार्य विश्वनाथ, वाग्भट्ट, केशव मिश्र, अप्पय दीक्षित, शोभकर मिश्र, कवि कर्णपूर गोस्वामी आदि इस कालखंड के महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय चिंतक रहे हैं।

व्याख्यात्मक काल खंड की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं

(1) इस युग की केंद्रीय चिंतनधारा रस तथा अलंकार एवं कवि शिक्षा की रही है। पुराने संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में ही रस चिंतन को आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण एवं पंडित राज जगन्नाथ ने रसगंगाधर के माध्यम से आगे बढ़ाया। शारदातनय कृत भाव प्रकाशन, आ. शिङ्गभूपाल कृत रसार्णव, सुधाकर रुद्रभट्ट कृत शृंगार तिलक आदि इस युग के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं।

रुय्यक, शोभाकर मिश्र, जयदेव, बाग्भट्ट जैसे दो दर्जन से अधिक अलंकार व्यवस्था से जुड़े ग्रंथ हमें इस कालखंड में प्राप्त होते हैं।

(2) इस युग के काव्यशास्त्रीय चिंतन की तीसरी प्रवृत्ति भक्ति रस की है।

(3) रूप गोस्वामी रचित श्री हरिभक्ति रसामृतसिंधु, उज्ज्वल नीलमणि, भागवतमूल, मधुसूदन सरस्वती कृत श्री भगवद्भक्ति रसायन, जीवगोस्वामी कृत मधुर रस से जुड़ी टीका आदि महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

(4) इस कालखंड की चौथी महत्त्वपूर्ण समस्या है– कवि शिक्षा तथा कवि वर्णकों को काव्य सृजन के लिए आधार बनाना।

(5) भारतीय काव्यशास्त्र का यह समापन काल है तथा हिंदी भाषा कविता का प्रौढ़काल और परंपरावादी शास्त्र चिंतकों की इस कालखंड में चिंता दिखाई पड़ती है। किसी भी प्रकार से भाषा कविता भारतीय परंपरागत मानकों से मुक्त न हो और इसीलिए हिंदी भाषा कवियों ने शास्त्रग्रंथों-यथा अलंकार, रस, नायिकाभेद, कवि समय एवं काव्य वर्णकों की सघन परंपरा स्थापित की जो तीन सौ वर्षों से भी अधिक काल तक स्थिर रही।

1.3.1.4 निष्कर्ष

काव्य और साहित्य एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द है। काव्य का एक अर्थ कविता या पद्य भी लिया जाता है, लेकिन साहित्य शब्द गदय, पदय और दृश्य रचनाओं का बोधक माना जाता है।

भाषा के संदर्भ में माधुर्य उदार, अविस्तर, असंदिग्धत्त्व आदि गुणों की चर्चा महाभारत में मिलती है। महाभारत में वचन मधुर का ही नहीं विचित्रपदत्त्व, असंदिग्ध आदि भाषिक गुणों का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अर्थक्रम संबंध परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य, स्पष्टता आदि शब्दों का उल्लेख है। कवि ने अपने मन के सौंदर्यबोध के लिए काव्य, रस और अलंकार जैसे कलात्मक उपादानों की परिकल्पना

आरंभ से ही की है। काव्य कवि-मन के सौंदर्यबोध की कलात्मक अभिव्यक्ति को कहा जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा को स्पष्ट करनेवाले आचार्यों के मतों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया है।

भारतीय काव्यशास्त्र के विकासक्रम या इतिहास को चार भागों में विभक्त किया है- प्रारंभिक काल- अज्ञात समय से 600 ई. वि., रचनात्मक काल -600 ई.से 900 तक, निर्णयात्मक काल - 900 ई. से 1100 ई. तक, व्याख्यात्मक काल-1100 ई. से 1650 तक। इनका विस्तृत विवेचन यहाँ किया है।

1.3.2 काव्य (साहित्य) : लक्षण (परिभाषा)

काव्य अथवा साहित्य के अनेक लक्षण भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों, कवियों तथा सहृदयों ने दिए हैं। काव्य का स्वरूप यद्यपि इन लक्षणों में बँध नहीं पाता, फिर भी इन लक्षणों के अध्ययन से हम उसके विविध रूपों और तत्त्वों को समझ सकते हैं। हम कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षणों के विश्लेषण और विवेचन द्वारा काव्य के स्वरूप को स्पष्ट कर सकते हैं।

1.3.2.1 संस्कृत काव्य-लक्षण -

संस्कृत के विद्वान -

1. आचार्य भरतमुनि :

भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रंथ माना जाता है। उन्होंने इस ग्रंथ में नाटक में काव्य की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है-

''मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनम् ।

जनपदंसुखबोध्यं युक्तिमनृत्ययोज्यम्।।

बहुरसकृतमार्गं संधिसन्धानयुक्तम् ।

स भवति शुभ काव्यं नाटकप्रेक्षकानाम्।।''

अर्थात् नाटक देखने वालों के लिए शुभ काव्य वह होता है, जिसकी रचना कोमल और ललित पदों से की गई हो, जिसमें शब्द और अर्थ गूढ न हो, जिसे जन साधारण सरलता से समझ सके, जो तर्कसंगत हो, जिसमें नृत्य की योजना की जा सके, जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के रस स्वीकार किए गए हो और जिसमें कथानक संधियों का निर्वाह किया गया हों।

नाटक के आधार पर काव्य लक्षण प्रस्तुत करने का यह प्रथम प्रयास सराहनीय है। लेकिन इसमें केवल नाटक के अंतर्गत प्राप्त काव्य के तत्वों का निरूपण है। अंत: इसे परिपूर्ण काव्य-लक्षण नहीं माना जा सकता।

2. अग्निपुराण :

डॉ. भगीरथ मिश्र 'काव्यशास्त्र' में 'अग्निपुराण' की परिभाषा को सबसे प्राचीन परिभाषा मानते हैं।

''संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।

काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्।।''

अर्थात् इष्ट अर्थ को प्रकट करनेवाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य काव्य है, जिसमें अलंकार प्रकट हों और जो दोषरहित और गुणयुक्त हो।

इस परिभाषा में पाँच बातें स्पष्ट हैं- इष्टार्थ, संक्षिप्त वाक्य, अलंकार, गुण और दोष। इसमें काव्य की प्राय: बाह्य रूप रेखा स्पष्ट हो जाती है। संक्षिप्त वाक्य स्मरणीयता का द्योतक है। इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति तो आवश्यक होती है, लेकिन कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी; इष्ट अर्थ तो सभी कवि व्यक्त करते हैं। अलंकार की आभा से युक्त होना अलंकार संप्रदाय का प्रभाव प्रकट करता है। गुणयुक्त होना उत्तम काव्य का लक्षण है, पर गुण शब्द अनेकार्थी है। इस परिभाषा के द्वारा काव्य को बाह्य सीमाओं में बाँधने का प्रयत्न किया गया है, पर उसका मुख्य प्रभावकारी स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता।

3. आ. भामह :

भामह ने 'काव्यालंकार' ग्रंथ में काव्य-लक्षण देते हुए लिखा है-

''शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।''

अर्थात् शब्द और अर्थ का सही मेल ही 'काव्य' है।

यह परिभाषा अत्यंत व्यापक है, क्योंकि इसके क्षेत्र में काव्य के अतिरिक्त शास्त्र, इतिहास, वार्तालाप आदि सभीं आ जातें हैं। अत: इसमें अतिव्याप्ति दोष है। यह लक्षण काव्य के अत्यंत व्यापक और बाहय स्वरूप का ही स्पष्टीकरण करता है।

4. आ. दण्डी :

'काव्यादर्श' में दण्डी ने लिखा है-

''शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्नापदावली।'

अर्थात् इष्ट अर्थ को प्रकट करनेवाली पदावली तो शरीर मात्र है।

अग्निपुराण की परिभाषा की तरह इसमें भी इष्ट अर्थ अपेक्षित है, जो अस्पष्ट और व्याख्यासापेक्ष है। अत: यह परिभाषा भी अस्पष्ट है।

5. आ. रुद्रट :

रुद्रट ने काव्य-लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है-

''ननु शब्दार्थौ काव्यम्।''

अर्थात् शब्द और अर्थ के संबंध को ही काव्य कहते हैं।

आ. भामह की परिभाषा की तरह इसमें भी अतिव्याप्ति दोष है। अतः यह लक्षण अस्पष्ट है।

6. आ. कुंतक :

कुंतक ने 'वक्रोक्तिजीवितम्' ग्रंथ में काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है–

''शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।

बंधे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।''

अर्थात् कवि के वक्र व्यापार से युक्त सदृश आह्लाद संबंध शब्दार्थ का नाम 'काव्य' है।

आ. कुंतक का कहना है कि काव्य में चमत्कार चारूता का संपादन वक्रोक्ति द्वाराही होता है। वे वक्रोक्ति को काव्य का जीवन बताते हुए हीन काव्य को निर्जिव मानते हैं।

वास्तव में वक्रोक्ति एक अलंकार है और इसके बिना भी सुंदर काव्य का सृजन होता है। अतः इस लक्षण में अव्याप्ति दोष है और यह अस्पष्ट भी है।

7. आ. वामन :

वामन ने 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में रीति को काव्य की आत्मा माना है और गुण एवं अलंकार से युक्त शब्दार्थ को काव्य कहा है–

''स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्।''

वामन ने दण्डी की भाँति काव्य की शोभा करनेवाले धर्म को अलंकार न मानकर गुण माना है और कहा है कि अलंकार गुण के उत्कर्ष के कारण स्वरूप है।

काव्य में अलंकार आवश्यक बताया है। अतः इसमें अव्याप्ति दोष है।

8. आ. मम्मट :

अग्निपुराण का आधार ग्रहण करते हुए अपने ग्रंथ 'काव्य प्रकाश' में काव्य–लक्षण इस प्रकार दिया है–

'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावलंकृती पुनः क्वापि।''

यहाँ पर काव्य दोषहीन, गुणयुक्त और कभी–कभी अलंकार से रहित शब्दार्थ काव्य है, ऐसा कहा गया है।

इस लक्षण में दो विशेषताएँ तो निषेधात्मक हैं और उनमें भी एक अनिश्चित। अदोष शब्दार्थ क्या है? पहले तो यही प्रश्न है, फिर काव्य शायद ही कोई ऐसा हो जिसमें कोई–न–कोई दोष न निकाला जा सके।

तो क्या अनेक गुणों से युक्त काव्य में कोई एक दोष निकल आया, तो उसे काव्य के क्षेत्र से हटा दिया जायेगा। ऐसे ही कहीं-कहीं अलंकार से रहित होना, लक्षण की दृष्टि से कोई विशेषता प्रकट नहीं करता, क्योंकि गुण बडा व्यापक अर्थ देनेवाला शब्द है। काव्य को एक निश्चित क्षेत्र में बाँधती हुई भी यह परिभाषा काव्य का कोई तात्त्विक और मार्मिक स्वरूप स्पष्ट नहीं कर पाती।

9. आ. विश्वनाथ :

रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने काव्य में रस को विशेष महत्त्व देते हुए अपने ग्रंथ 'साहित्यदर्पण' में काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है-

''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्''

अर्थात 'रसयुक्त वाक्य काव्य' है।

इस लक्षण में एक अर्थ तो यह हो सकता है कि विभावानुभाव-व्यभिचारी भावों के संयोग से निर्मित रस से युक्त वाक्य काव्य है। ऐसी दशा में रस की काव्य में अनिवार्यता सिद्ध होती है। लेकिन जिस वाक्य में रस सम्पादन हुआ हो उसे ही काव्य मानेंगे, तो काव्य का क्षेत्र अत्यंत छोटा हो जायेगा और अनेक काव्य-पंक्तियाँ इसके क्षेत्र से निकल जायेंगी। यदि हम रस का अर्थ सरसता, माधुर्य आदि लेते हैं, तब हम जिसमें मन को रिझानेवाली विशेषता हो, जिसमें हमारा मन रस ले सके, वह वाक्य काव्य है। इस अर्थ में यह लक्षण व्यापक और सर्वजन सुलभ है।

10. पण्डितराज जगन्नाथ :

'रसगंगाधर' में इन्होंने काव्य-लक्षण इस प्रकार दिया है-

''रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम्।''

अर्थात रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द 'काव्य' है।

इस लक्षण में कुछ लोग आपत्ति उठाते हैं कि काव्य के अंतर्गत शब्द में सदैव अर्थ की रमणीयता नहीं होती, पूरे वाक्य से रमणीयता प्रतिपादित होती है। अत: रमणीय अर्थ देनेवाला वाक्य, काव्य होना चाहिए। परंतु यहाँ शब्द वाक्य की सबसे छोटी इकाई है, अतएवं वाक्य के स्थान पर शब्द दिया गया है। कभी-कभी एक शब्द की उपयुक्तता सिद्ध की जा सकती है, परंतु पूर्णार्थद्योतक वाक्य ही होता है। अत: विश्वनाथ की भाँति 'रमणीयार्थ प्रतिपादकं वाक्यं काव्यं' अधिक उपयुक्त लक्षण होता। इसमें अर्थ की रमणीयता को महत्व दिया है, लेकिन कभी-कभी रमणीयता शब्द में भी होती है। इसी बात का ध्यान रखकर डॉ. भगीरथ मिश्र ने इस लक्षण को निम्न रूपमें दिया है-

''शब्द अर्थ अथवा दोनों की रमणीयता से युक्त वाक्य रचना को 'काव्य' कहते हैं।''

1.3.2.2 हिंदी काव्य–लक्षण

हिंदी के अधिकांश काव्य लक्षणों में मौलिकता कम दिखाई देती है। पूर्ववर्ती हिंदी काव्य में प्राप्त लक्षणों में तो अधिकांश लक्षण संस्कृत के लक्षणों पर आधारित हैं और आधुनिक लक्षणों पर अधिकांश प्रभाव अंग्रेजी का है, फिर भी कुछ लक्षण महत्त्वपूर्ण हैं।

प्राचीन आचार्य –

1. आचार्य केशवदास :

ये अलंकारवादी आचार्य थे। अलंकारविहीन कविता को वे शोभारहित नारी के समान मानते थे। इन्होंने लिखा है–

''यद्यपि जाति सुलच्छनी; सुबरन सरस सुवृत्त।

भूषन बिना न सोहई, कविता बनिता मित्त।।''

अर्थात् उत्तम जाति, अच्छे लक्षणों, सुंदर वर्ण (रंग और अक्षर) रसयुक्त और अच्छे वृत्त (छंद और चरित्र) वाली होने पर भी कविता और वनिता भूषण (अलंकार, गहने) बिना सुशोभित नहीं होती।

केशव के विचार से रस, छंद और शब्द–सौंदर्य के साथ अलंकार का होना आवश्यक है। इसपर भामह, दण्डी आदि अलंकारवादी आचार्यों का प्रभाव है। इनकी परिभाषा अव्याप्ति दोष से युक्त है।

2. आ. श्रीपति :

अपने 'काव्य–सरोज'में रस पर जोर देते हुए उन्होनें लिखा है–

''यद्यपि दोष बिनु गुण सहित, अलंकार सो लीन

कविता बनिता छबि नहीं, रस बिन तद्पि प्रवीन।।''

अर्थात् दोषरहित और गुण तथा अलंकारों से युक्त होने पर भी कवितारूपी नारी तब तक सुंदर नहीं लगती जबतक उसमें रस का माधुर्य नहीं होता।

ऐसा लगता है कि, आचार्य श्रीपति ने आचार्य केशवदास के मत का उन्हीं शब्दों में खंडन किया है। इस लक्षण में प्रयुक्त 'दोष बिनु' शब्द निषेधात्मक है। 'गुण' शब्द भी काव्य की कोई महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रकट नहीं करता। गुण बडा व्यापक अर्थ देने वाला शब्द है। इन पर रसवादी आचार्यों का प्रभाव है। यह लक्षण अस्पष्ट है।

3. आ. चिंतामणि :

अपने ग्रंथ 'कविकुलकल्पतरु' में 'काव्यप्रकाश' के आधार पर कविता का लक्षण इस प्रकार दिया है–

''सगुन अलंकारन सहित, दोषरहित जो होइ।

सब्द अर्थ वारौ कवित, बिबुध कहत सब कोइ।।''

अर्थात् गुण एवं अलंकार से युक्त और दोष से मुक्त अर्थपूर्ण शब्द-रचना को 'कविता' कहते हैं।

आ. मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में अलंकार की अनिवार्यता नहीं मानी, पर इसमें अलंकार अनिवार्य कर दिए गए हैं। अत: यह लक्षण हेमचंद्र के लक्षण से अधिक साम्य रखता है। काव्य सर्वथा 'दोषरहित' नहीं हो सकता। अत: यह लक्षण असंगत है।

4. आचार्य कुलपति मिश्र :

अपने ग्रंथ 'रस-ग्रहण' में दी गई परिभाषा और 'वाक्यं रसात्मक काव्यं' की आलोचना करके अपना निजी काव्य लक्षण दिया है-

''जग ते अद्‌भुत सुख सदन, शब्दरू अर्थ कवित्त।।''

अर्थात, संसार से विलक्षण आनंद देनेवाला शब्दार्थ काव्य है।

कुलपति ने केवल शब्द और अर्थ के योग को काव्य न कहकर विलक्षण आनंद या सुख देनेवाली रचना को काव्य कहा है। लेकिन संसार से विलक्षण आनंद कैसे समझा जाय? यह प्रश्न है। अत: यह लक्षण अस्पष्ट है।

5. महाकवि देव :

अपने ग्रंथ 'काव्य रसायन' में काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है-

''सब्द जीव तिहि अरथ मन, रसमय सुजस सरीर।
चलत वहै जुग छंद गति, अलंकार गंभीर।।''

इसमें काव्य पुरुष रूपक का स्पष्टीकरण है। शब्द जीव है, अर्थ मन है, रस से युक्त यशस्वी उसका शरीर है। दोनों प्रकार के अर्थात् मात्रिक और वर्णिक छंद उसकी गति हैं और अलंकार उस गति की गंभीरता है।

देव की धारणा विलक्षण है जिसमें शब्द को शरीर न मानकर रस को शरीर माना है। गति की गंभीरता भावों पर निर्भर करती है, अलंकारों पर नहीं। अत: गंभीरता को अलंकार पर आश्रित करना भी युक्तिसंगत नहीं। अत: लक्षण की दृष्टि से यह उपयुक्त नहीं।

आधुनिक विद्‌वान -

6. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी :

''मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं, वही कविता है, चाहे वह पद्‌यात्मक हो चाहे गद्‌यात्मक।''

इससे स्पष्ट है समस्त मनोभावों का प्रकाशन कविता में हो जाता है, चाहे जो भी उसे जिस प्रकार भी प्रकट करे, अतः यह लक्षण उपयुक्त नहीं।

7. आ. रामचंद्र शुक्ल :

शुक्लजी ने दो काव्य लक्षण दिए हैं-

अ) 'कविता जीवन और जगत् की अभिव्यक्ति हैं।'

आ) ''सत्वोद्रेक या हृदय की मुक्तावस्था के लिए किया हुआ शब्द विधान काव्य है।''

पहले लक्षण में कविता की सदा रहनेवाली नव्यता और विविधता का संकेत मिलता है, जो कि रमणीयता का रूप है। पर लक्षण की दृष्टि से यह समीचीन नहीं, इसका महत्त्व उद्देश्य की दृष्टि से अवश्य है। जीवन और जगत् की समस्त अभिव्यक्ति काव्य नहीं, अतः यह अतिव्याप्ति दोष से मुक्त है। दूसरा लक्षण रस को अनिवार्य मानकर चलनेवाले काव्य के लिए ही उपयुक्त हो सकता है। क्योंकि चमत्कारपूर्ण काव्य में मन को चमत्कृत और कल्पना को प्रसन्न करने की विशेषता होती है जबकि भावात्मक काव्य में हृदय की मुक्तावस्था के सम्पादन की विशेषता है, ऐसी दशा में काव्य का यह लक्षण पूर्ण और व्यापक नहीं कहा जा सकता।

8. जयशंकर प्रसाद :

छायावादी कवियों में सबसे महत्वपूर्ण धारणा प्रसाद जी की है-

''काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।''

इस लक्षण में कई दोष हैं। पहला दोष है, अस्पष्टता, आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति, पद स्पष्ट नहीं। क्योंकि संकल्प-विकल्प मन के गुण हैं। विज्ञान से संबंध न बताते हुए भी आगे प्रसाद जी ने काव्य को अनुभूति ही माना, जबकि वास्तव में वह अभिव्यक्ति है।

लक्षण की दृष्टि से त्रुटीपूर्ण होते हुए भी इसमें मौलिक और तात्त्विक धारणा का संकेत मिलता है, जो महत्वपूर्ण है।

9. महादेवी वर्मा :

''कविता कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह चित्रण इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय में अविर्भूत होती हैं।''

यह लक्षण काव्य के पूरे क्षेत्र पर लागू नहीं हो सकता। यह केवल गीतिकाव्य की विशेषता हो सकती है कि उसमें कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण हो। इस चित्रण से वैसी ही भावनाएँ दूसरे के हृदय में उठें यह भी आवश्यक नहीं। विसंवादी भावनाएँ भी उठ सकती हैं। इसमें रमणीयता के अन्य अंग, ध्वनि,

वक्रोक्ति, अलंकार आदि का कहीं संकेत नहीं। प्रबंध काव्य की विशेषताओं का इसमें समावेश नहीं हुआ है, जिसमें दुश्चरित्रों का भी वर्णन होता है। अत: यह सीमित लक्षण है।

10. सुमित्रानंदन पंत :

''कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है।''

यह परिभाषा अस्पष्ट है, क्योंकि परिपूर्ण क्षण किसे कहा जाय? प्रत्येक व्यक्ति का कोई न कोई परिपूर्ण क्षण होगा, अत: उसकी भी वाणी कविता कही जा सकती है। तब तो प्रत्येक व्यक्ति को कवि कहना चाहिए। अत: यह लक्षण सर्वमान्य नहीं कहा जा सकता।

1.3.1.3 अंग्रेजी काव्य–लक्षण –

पाश्चात्य आचार्यों ने काव्य के लिए कल्पना, बुद्धि, भाव और शैली तत्त्व की आवश्यकता को स्वीकार करके काव्य या साहित्य के लक्षण निर्धारित किये हैं। प्रमुख अंग्रेजी (पाश्चात्य) काव्यलक्षण निम्न प्रकार हैं–

1. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (Encyclopaedia Britannica)

"Poetry is art work of the poet."

अर्थात्, कवि का कार्य, कला, काव्य है।

यह लक्षण अस्पष्ट है। पहले कवि को समझा जाय, तब उसके कार्य को काव्य कहा जाय। कवि के माध्यम से कविता की परिभाषा उचित और स्पष्ट नहीं।

2. ड्राइडन (Dryden)

"Poetry is articulate music."

अर्थात्, कविता सुस्पष्ट संगीत है।

यह परिभाषा सर्वत्र सत्य नहीं। संगीत कविता का एक पक्ष है, परंतु संगीत तत्त्व काव्य का अनिवार्य अंग नहीं। संगीत केवल सुनने की वस्तु है, पर कविता अध्ययन, पठन और मनन से भी आनंद देती है। इसके अतिरिक्त सभी कविताओं में संगीत नहीं रहता। इस लक्षण के स्वीकार करने पर उन्हें काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत करना होगा। अत: यह लक्षण उपयुक्त नहीं।

3. कॉलरिज (Coleridge)

"Poetry is the best words in their best order."

अर्थात्, ''सर्वोत्तम शब्द अपने सर्वोत्तम क्रम में कविता होती है।''

इस परिभाषा में कुछ शब्द व्याख्यासापेक्ष हैं। सर्वोत्तम शब्द कौनसे हैं और उनका सर्वोत्तम क्रम कौनसा है? स्वर्ग, सोना, पुष्प, सौंदर्य, अमृत आदि शब्द उत्तम होने चाहिए। ऐसी दशा में मृत्यु, कीचड, नरक आदि

शब्द बुरे होंगे और काव्य के क्षेत्र से उन्हें निकल जाना पड़ेगा। पर, इन शब्दों और इनके पर्यायों का उत्तम काव्य में खूब व्यवहार होता है। अत: यह परिभाषा उपयुक्त नहीं है। दूसरी बात शब्दों के क्रम की। शब्दों का कभी एक क्रम और कभी दूसरा क्रम काव्य की पंक्तियाँ बन जाता है। इसलिए यह लक्षण अस्पष्ट और भ्रामक है।

4. वर्ड्सवर्थ (Wordsworth)

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्डसवर्थ का विचार है कि, *"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotions recollected in tranquillity."*

अर्थात्, ''कविता प्रबल अनुभूतियों का सहज उद्रेक है, जिसका स्रोत शांति के समय में स्मृत मनोवेगों से फूटता है।''

वर्ड्सवर्थ की परिभाषा तथ्यपूर्ण है, क्योंकि यह भावानुभूति और अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करती है। इस लक्षण में भी आपत्ति उठाई जा सकती है। शांति के समय में सभी अपने मनोवेगों का स्मरण करते हैं और अपने प्रबल भावों को प्रकट भी करते हैं, क्या वह सब काव्य हो जाता है? यहाँ पर अभिव्यक्ति- कला और उसके प्रभाव का उल्लेख नहीं है। हम अपने सुख-दु:खपूर्ण क्षणों का स्मरण कर हँसते और रोते हैं, पर सभी का वह उल्लास और विलाप सदैव कविता नहीं बन जाता। कविता के लिए उस सहज अभिव्यक्ति में सौंदर्य, संयम और प्रभाव की आवश्यकता है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि प्रतिभा और अभिव्यक्ति कौशल से युक्त कवियों की काव्याभिव्यक्ति की प्रक्रिया यहाँ पर अवश्य स्पष्ट हुई है।

5. शेली (Shelley)

"Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and best minds."

अर्थात, ''सर्वसुखी और सर्वोत्तम मनों के सर्वोत्तम और सर्वाधिक सुखपूर्ण क्षणों का लेखा कविता है।''

यहाँ पर यह सवाल उठता है कि सबसे सुखी और सबसे उत्तम मनों को परखने की कसौटी क्या है? दूसरे उनके सर्वोत्तम और सबसे सुखी क्षण कौनसे हैं? उनका लेखा सदैव कविता होगी, यह संदिग्ध है। सुखपूर्ण क्षणों से अधिक, काव्य के बीज तो विषादपूर्ण क्षणों में उगते हैं, जैसे कि स्वयं शेली का ही विचार है कि हमारे सबसे मधुर गान वे हैं जिनमें विषादपूर्ण भाव व्यक्त किये जाते हैं। अत: यह परिभाषा भावुकतापूर्ण ही है। काव्य को लेखा कहना उचित नहीं, क्योंकि इससे कल्पना और भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, तटस्थ लेखा नहीं।

6. मॅथ्यू आर्नाल्ड (Mathew Arnold)

"Poetry is at bottom, a criticism of life."

अर्थात, ''कविता अपने मूल रूप में जीवन की आलोचना है।''

इस लक्षण में उत्तम काव्य की विशेषता स्पष्ट हुई है। परंतु, यह कोई विशिष्ट लक्षण नहीं माना जा सकता। जीवन की समीक्षा साहित्य के अन्य रूपों में भी हो सकती है, केवल कविता में ही नहीं, अतः यह आरनॉल्ड के निजी काव्यादर्श का संकेत करनेवाली उक्ति है, कविता की परिभाषा नहीं।

7. डॉ. जॉनसन (Dr. Johnson)

"Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason."

अर्थात, ''कविता वह कला है, जो कल्पना की सहायता से युक्ति के द्वारा सत्य को आनंद से समन्वित करती है।

इस परिभाषा में डॉक्टर जॉनसन ने काव्य का प्रधान स्वरूप स्पष्ट किया है। सत्य के प्रकाशन में आनंद का समावेश, रमणीयता और रोचकता के गुण का संकेत करता है और कल्पना का तो इस प्रकार के कार्य में प्रमुख हाथ रहता ही है। युक्तिसंगत होना, सत्य के स्वरूप का आधार है। वास्तविकता का आभास और विश्वसनीयता, कविता के प्रभावशाली होने के लिए अत्यंत आवश्यक है। ऐसी दशा में डॉ. जॉनसन की धारणा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है; परंतु इसमें कविता के कलात्मक पक्ष पर अधिक जोर है।

8. चैम्बर्स कोश (Chambers Dictionary)

"Poetry is the art of expressing in melodious words thoughts which are the creations of imagination and feelings."

अर्थात, कल्पना और अनुभूति से उत्पन्न विचारों को मधुर शब्दों में अभिव्यक्त करने की कला कविता है। इस परिभाषा में काव्य के समस्त तत्वों का उल्लेख हुआ है। काव्य के भीतर अभिव्यंजना कौशल रहता ही है। साथ ही कल्पना और अनुभूति तथा विचार तत्व भी काव्य में आवश्यक है। केवल इस परिभाषा में एक दोष है अव्याप्ति का। काव्य के लिए आवश्यक नहीं कि वह सदैव संगीतमय मधुर शब्दों के रूप में ही हो। काव्य में वीरता, क्रोध, भय आदि के भाव भी प्रकट होते हैं। अतः डॉ. भगीरथ मिश्र ने इस परिभाषा को निम्मलिखित शब्दों में परिवर्तित किया है–

''काव्य, कल्पना और अनुभूति से गृहीत सत्य की रमणीय शब्दों में अभिव्यक्ति है।''

1.3.2.4 निष्कर्ष –

संस्कृत, हिंदी और अंग्रेजी के कवियों, काव्यशास्त्रियों एवं आचार्यों के काव्य–लक्षणों पर विचार करने के बाद यह बात स्पष्ट हो जाती है कि काव्य की सभी विशेषताओं से युक्त परिपूर्ण काव्य लक्षण अब तक तैयार नहीं हुआ है। फिर भी संस्कृत और अंग्रेजी के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत काव्य–लक्षण काव्य का स्वरूप स्पष्ट करने में महत्त्वपूर्ण योगदान और पंडितराज जगन्नाथ के लक्षण विशेष महत्वपूर्ण हैं। पाश्चात्य आचार्यों में भी मॅथ्यू ऑरनॉल्ड और वर्डसवर्थ का मत महत्त्वपूर्ण है। वर्डसवर्थ का लक्षण अंग्रेजी में सर्वश्रेष्ठ है। हिंदी के प्राचीन विद्वान संस्कृत आचार्यों पर तथा आधुनिक विद्वान पाश्चात्य आचार्यों पर अवलंबित हैं। आज

श्रोता, पाठक एवं दर्शक काव्य या साहित्य का श्रवण, पठन एवं दर्शन तब करते हैं, जब उन्हें उसमें रस या आनंद मिलता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, 'रसमय और रमणीय अर्थ से युक्त प्रबल अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति कविता है।'

1.3.3 काव्य : हेतु (प्रेरणा/कारण)

काव्य या साहित्य के हेतु का सीधा अर्थ है- काव्य-निर्मिति के कारण। इन्हें ही साहित्य के 'प्रेरणा स्त्रोत' भी कहा जाता है। जीवन की भाँति काव्य की मूलभूत प्रेरणाओं को निश्चित कर सकना कठिन है। जिस प्रकार जीवन की मूल प्रेरणाओं के विषय में अत्यंत प्राचीन काल से विचार होता आ रहा है, उसी प्रकार काव्य की प्रेरणाओं की विवेचना भी आवश्यक हुई है। इस विषय में एक मत की संभावना नहीं हो सकती। क्योंकि प्रेरणा की दृष्टि से स्वयं कवियों के दृष्टिकोण में बहुत अंतर है। कुछ कवि सौंदर्योपासना से काव्य-कर्म में प्रवृत्त होते हैं, तो कुछ प्राकृतिक सौंदर्य के अनुपम उपकरणों से। किन्हीं को संगीत की स्वरलहरी या हिमाच्छादित शैल-श्रृंग और झरते हुए झरने काव्य की प्रेरणा प्रदान करते हैं, और कुछ ऐसे कवि भी हैं जिन्हें स्त्री दर्शन के बिना काव्य स्फुरण होता ही नहीं। पाश्चात्य कलाकारों में अधिकांश ऐसे हैं जिन्होंने अपनी काव्य प्रेरणा अवैध प्रेम तथा मदिरा से प्राप्त की, और अपनी काव्य-प्रवृत्ति की रक्षा के लिए कुछ ने तो निस्संकोच रूपसे इन साधनों को अपनाया।

भारतीय काव्यशास्त्र में इन हेतुओं का अत्यंत वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों तथा आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का मत भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के कुछ महत्वपूर्ण काव्य-हेतु निम्न प्रकार हैं-

1.3.3.1 संस्कृत-आचार्यों के मत –

1. आ. भामह :

'काव्यालंकार' में भामह ने स्वीकार किया है कि गुरू के उपदेश से जड़ बुद्धि भी शास्त्रों का अध्ययन करने में समर्थ हो सकता है, पर काव्य तो किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति में यदा-कदा ही स्फुरित होता है। वे यह स्वीकार करते हैं कि काव्य रचना के लिए व्याकरण, छंद, कोश, अर्थ, इतिहास, लोक-व्यवहार, तर्कशास्त्र तथा कलाओं का मनन करना चाहिए। उन्होंने काव्य-हेतु के तीन साधन माने हैं- प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। पर वे प्रतिभा को महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य तत्व स्वीकार करते हैं।

2. आ. दण्डी :

अपने 'काव्यादर्श' में काव्य हेतु के बारे में जो मत प्रकट किया है, उसका आशय इस प्रकार है कि, पूर्ववर्ती संस्कारों के रूप में अद्भुत प्रतिभा के विद्यमान न रहने पर भी यत्न, सत्संग और अध्ययन से वाणी निश्चय ही किसी-किसी पर कृपा करती है। दण्डी ने दो प्रकार की काव्य-कोटियाँ स्वीकार कीं-

(क) उत्तम : इसमें प्रतिभा, प्रयत्न और अध्ययन की आवश्यकता स्वीकार की है।

(ख) सामान्य : यह काव्यप्रतिभा के अभाव में भी अध्ययन, सत्संग और प्रयत्न द्वारा निर्मिति कर सकता है।

3. आचार्य वामन :

अपने 'काव्यालंकार सूत्र'में काव्य हेतु पर प्रकाश डालते हुए लिखा है-

''कवित्वबीजं प्रतिभानम्'' अर्थात्, प्रतिभा ही कवित्त्व का कारण है। प्रतिभा को मुख्य हेतु स्वीकार करने के साथही उन्होंने लोक-व्यवहार. शास्त्र, शब्दकोश तथा एकाग्रता या अवधान का भी उल्लेख किया है।

4. आ. जयदेव :

आचार्य वामन के मत का समर्थन करते हुए इन्होंने कहा है कि, ज्ञान और अभ्यास प्रतिभा-रूप बीज को अंकुरित करने के लिए मिट्टी और जल के तुल्य हैं। अत: प्रमुख कारण प्रतिभा है।

5. आ. रुद्रट :

काव्य-हेतु के रूप में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों का स्वीकार किया है।

प्रतिभा के स्थान पर वे 'शक्ति' को काव्य का प्रधान हेतु मानते हैं। एकाग्रचित्त होने पर अर्थों का अनेक प्रकार से विस्फुरण होता है तथा कमनीय पद स्वयं कवि के सामने प्रतिभासित होते हैं। जिस पदार्थ के द्वारा यह अपूर्व घटना घटित होती है उसी का नाम शक्ति है।

6. आ. आनंदवर्धन :

प्रतिभा को ही प्रमुख हेतु स्वीकार किया है। इनकी दृष्टि से प्रतिभा रहित कवि अनेक दोषों का उत्तरदायी होता है।

7. आ. राजशेखर :

'शक्ति' को प्रमुख काव्य हेतु माना है। समाधि तथा अभ्यास को उसका सहायक मानते हैं।

राजशेखर ने प्रतिभा को दो भागों में विभाजित किया है- कारयित्री और भावयित्री। कवि को काव्यकर्म में उपकार करनेवाली प्रतिभा कारयित्री और काव्यास्वाद लेने तथा उसके गुण-दोषों को समझने की शक्ति भावयित्री प्रतिभा।

8. आ. मम्मट :

काव्य हेतु के रूप में शक्ति, निपुणता और अभ्यास का सम्मिलित रूप स्वीकार किया है। शक्ति को प्रतिभा का दूसरा रूप कहा है। काव्य, शास्त्र तथा अन्य विधाओं के अनुशीलन से उत्पन्न चातुरी को 'निपुणता' कहा है। और सद्गुरू की शिक्षा से काव्य का अध्ययन अभ्यास है।

आ. मम्मट का यह मत समीक्षकों को मंजूर नहीं। क्योंकि काव्य-निर्मिति के लिए तीनों का सम्मिलित रूप आवश्यक होता, तो आदि कवि वाल्मीकि के मुँह से बिना अभ्यास और निपुणता के काममोहित क्रौंच के जोडे को देखकर श्लोक नि:सृत ही न होता जो 'रामायण' का प्रेरणा स्त्रोत बना।

काव्य हेतुओं का भावार्थ :

प्रतिभा : प्रतिभा का अर्थ स्पष्ट करते हुए भट्टतौत ने लिखा है, ''प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।'' अर्थात्, नये-नये विचारों का उन्मूलन करनेवाली शक्ति (प्रज्ञा) ही प्रतिभा है। रुद्रट के अनुसार स्थिर चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थों का स्फुरण करनेवाला गुण ही प्रतिभा है। कुंतक ने इसे पूर्व जन्म का संस्कार कहा है, तो महिमभट्ट ने कवि का तृतीय नेत्र माना है।

व्युत्पत्ति या निपुणता : आ. रुद्रट ने व्युत्पत्ति का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है, ''छंद, व्याकरण, कला, लोक की स्थिति, पद तथा पदार्थों के विशिष्ट ज्ञान से उचितानुचित विवेकपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति ही व्युत्पत्ति है।'' आ. मम्मट ने इसे निपुणता कहा है। उनके अनुसार लोक और शास्त्र के अध्ययन और अनुशीलन से जो चतुरता प्राप्त होती है, वही 'निपुणता' है।

अभ्यास : किसी कार्य को हृदयंगम करने तथा उसमें प्रवीणता हासिल करने के लिए किया जानेवाला निरंतर प्रयास ही अभ्यास है।

समाधि अथवा अवधान : स्थिर चित्त से किसी कार्य को संपन्न करना या मन के एकाग्रता की स्थिति ही समाधि है।

1.3.3.2 पाश्चात्य विद्वानों के मत –

1. कोलरिज (Coleridge)

Esemplastic Power (इसेम्प्लास्टिक पावर) या 'मूर्तविधायिनी शक्ति' को काव्य हेतु के रूप में स्वीकार किया है। प्लास्टिक पावर का अर्थ है- अनगट वस्तुओं को सुगढ़ बनाने की कला अथवा अमूर्त पदार्थों को मूर्त रूप देने की शक्ति। ईश्वर में इस विचित्र शक्ति की सत्ता कोलरिज स्वीकार करते हैं। कवि भी प्रजापति के समान सृष्टा है। ईश्वरीय सृष्टि के समान ही कविसृष्टि अमूर्त पदार्थों को मूर्त रूप प्रदान करती है। इसके लिए कवि के पास प्रधान साधन प्रतिभा है। इसीलिए कोलरिज ने अनेक स्थलों पर कवि प्रतिभा की तुलना सृष्टि के ईश्वरीय कार्य से की है।

2. शेली (Shelley)

इन्होंने Imagination (इमॅजिनेशन) अर्थात् प्रतिभा को ही काव्य हेतु माना है। प्रतिभा को ही उन्होंने 'विधायिकी शक्ति' कहा है, जिसके बल पर कवि सुदंर साहित्य का निर्माण करता है।

3. प्लेटो :

प्लेटो ने कवि के लिए स्फूर्ति, प्रेरणा या प्रतिभा की नितांत आवश्यकता बताई है। प्लेटो का कहना है कि 'दैवी पागलपन' के कारण कवि सुंदर गीतों की रचना करते हैं। वे कविता को बुद्धि व्यापार की उपज न

मानकर प्रतिभा की प्रसूति मानते हैं। प्लेटो के अनुसार मन की दो वृत्तियों हैं– बुद्धि व्यापार तथा स्फूर्ति व्यापार। प्रथम में मन नितांत सजग रहता है और दूसरे में सुप्त दशा का अनुभव करता है। बुद्धि व्यापार का चमत्कार है शास्त्र तथा स्फूर्ति व्यापार का विलास काव्य है।

4. अरस्तू (Aristotle)

अरस्तू ने प्रतिभा और अध्ययन के साथ 'अनुकरण की सहज प्रवृत्ति' पर विशेष बल दिया है। इसे काव्य की मूल प्रेरणा स्वीकार करते हुए लिखा है कि, ''जो प्रवृत्ति बालक को अपने माता-पिता के भाषा व्यवहार आदि का अनुकरण करने को प्रेरित करती है, वही प्रवृत्ति मानव को साहित्य रचना के लिए भी प्रेरणा प्रदान करती है।''

1.3.3.3 मनोवैज्ञानिकों के मत –

1. फ्रायड :

इन्होंने 'अतृप्त कामवासनाओं के दमन की स्वस्थ प्रवृत्ति' को काव्य हेतु स्वीकार किया है। फ्रायड का मानना है कि, कामवासना के प्रकाशन का दमन किया जाता है, तब मानव जीवन की प्रभावशाली घटनाओं का आविष्कार होता है। कामवासना के निरोध में तथा उदात्तीकरण में ही कला की अभिव्यक्ति होती है। फ्रायड के अनुसार हमारे हृदय की दबी हुई वासनाएँ अपने विकास का मार्ग खोजती हुई काव्य, कला एवं स्वप्न आदि की सृष्टि करती हैं। कला और काव्य के मूल में सौंदर्योपासना के भाव की विद्यमानता भी इसका समर्थन करती है। सामाजिक नियमों के कारण मानव अपनी अतृप्त कामेच्छा को व्यक्त नहीं कर पाता। तब वह अंतर्मन में दबी रहती है। काव्य ऐसी अतृप्त इच्छाओं की बाह्याभिव्यक्ति का एक कलात्मक मार्ग है।

2. एडलर :

एडलर ने 'हीनता के भाव' को काव्य हेतु स्वीकार किया है। प्रत्येक मनुष्य में कोई न कोई व्यापक दोष होता है, जो उसे समाज में हीन बना देता है। इस हीनता की ग्रंथी से उसका मन इतना उलझा रहता है कि वह सतत उसे दबाकर या उसके ऊपर आवरण डालकर उस दोष के विरुद्ध श्रेष्ठ कार्य द्वारा अपने व्यक्तित्त्व को उज्वल बनाना चाहता है। कवि उत्कृष्ट काव्य की निर्मिति करके अपने हीन तथा अधूरे व्यक्तित्व की क्षतिपूर्ति करता है।

3. युंग :

युंग ने 'जीवनेच्छा' को काव्य हेतु स्वीकार किया है। इन्होंने मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्यों को दो भागों में विभक्त किया है– बहिर्मुख और अंतर्मुख। बहिर्मुख वृत्तिवाले लोगों की दृष्टि संसार के भोगविलास की ओर लगी रहती है। जगत में प्रतिष्ठा तथा यश पाना, साथियों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बनना इनका साध्य होता है। अंतर्मुख व्यक्ति अपनी दृष्टि हमेशा बाहरी विषयों से हटाकर भीतर की ओर ले जाता है। और मानसिक शांति की खोज में रहता हैं। इनका अचेतन मन चेतन मन के विपरीत होता है। चेतन मन अगर दु:खी, उदास दिखाई देता है, तो अचेतन मन शांत तथा आनंदित होता है। इस स्थिति को युंग ने नाम दिया

है– चशपींरश्र लोशिपीरींळेप अर्थात्, मानसिक समीकरण। मानव जीवन को पूर्णता की ओर ले जाना हमारा अंतिम लक्ष्य है। अत: इसी जीवनेच्छा की प्रेरणा उत्कृष्ट काव्य का सृजन करने के लिए प्रवृत्त करती है।

1.3.3.4 निष्कर्ष

संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषा के विद्वानों ने 'प्रतिभा' को ही प्रमुख काव्य हेतु के रूप में स्वीकार किया है। व्युत्पत्ति और अभ्यास के सहयोग से प्रतिभा में निखार आ जाता है। व्युत्पत्ति को ही कुछ आचार्यों ने निपुणता तथा 'शास्त्रज्ञान' कहा है। समाधि एवं एकाग्रता की स्थिति भी काव्य कारण के रूप में स्वीकार की है। अरस्तू ने 'अनुकरण की सहज प्रवृत्ति' को काव्य हेतु स्वीकार किया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के मत भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, कामवासना, हीनता भाव तथा जीवनेच्छा को उन्होंने काव्य प्रेरणा स्वीकार किया है।

भारतीय और पाश्चात्य मतों की तुलना करे तो भारतीय विद्वानों ने काव्य हेतुओं पर विस्तार से विचार किया है। अब तक काव्य कारणों पर इतना विस्तृत विवेचन होने के बावजूद भी अन्य बहुत–सी प्रेरणाएँ बची रह जाती हैं। प्रतिभा मुख्य प्रेरणा भले ही हो, लेकिन उसे जागृत करने के लिए अन्याय, आत्माभिव्यक्ति. अतृप्त काम भावनाएँ, अचेतन मन की ग्रंथियाँ जैसे अनेक कारण हो सकते हैं। आधुनिक नारीवादी साहित्य के अध्ययन से इसका पता चलता है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा और अधिक कार्य की इस क्षेत्र में अपेक्षा है।

1.3.4 काव्य प्रयोजन

मानव जीवन का संपूर्ण कार्य व्यापार सोद्देश्य होता है। मानव की प्रत्येक कृति प्रेरणा का परिणाम तथा किसी प्रयोजन का वरदान हुआ करती है। काव्य उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। काव्य को 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा गया है। अत: इसकी सर्जना के मूल में कुछ प्रयोजनों का होना स्वाभाविक है। किसी रचना की प्रेरणा चाहे कुछ भी हो किंतु उसकी सर्जना का प्रयोजन प्राय: व्यक्त और स्पष्ट होता है। प्रयोजन को ही साहित्य का 'उद्देश्य' या 'प्रतिपाद्य' भी कहा जाता है। भारतीय (संस्कृत–हिंदी) और पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य के प्रयोजनों पर विस्तार से विचार किया है। यहाँ महत्वपूर्ण प्रयोजनों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है–

1.3.4.1 संस्कृत–आचार्यों द्वारा वर्णित काव्य–प्रयोजन –

1. आचार्य भरतमुनि :

आ. भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नाटक के छ: प्रयोजनों का उल्लेख है, जो काव्य पर भी लागू होते हैं।

''धर्म्य यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।''

अर्थात् यह नाट्य धर्म, यश, आयु, हित और बुद्धि की वृद्धि करनेवाला तथा लोकोपदेश का जनक होगा।

इन छह प्रयोजनों में से तीन-धर्मवृद्धि, आयु तथा बुद्धि का विकास प्रेक्षक या पाठक को लक्ष्य करके लिखें गए हैं, यश का संबंध कवि से है तथा हितसाधन और लोकोपदेश का समाज से।

2. आचार्य भामह :

भामहने 'काव्यालंकार' में काव्य के सात प्रयोजन बताए गए हैं। भामह ने लिखा है-

''धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।

करोति कीर्ति, प्रीति च साधुकाव्यनिषेवणम्।।''

अर्थात्, सत्काव्य का अध्ययन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति, कलाओं में निपुणता, कीर्ति और प्रीति प्रदान करता है।

भामन ने पहली बार चतुर्वर्ग फलप्राप्ति को काव्य प्रयोजनों में स्थान प्रदान किया, जिसे आगे चलकर प्राय: सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है।

3. आ. वामन :

इन्होंने काव्य के दो ही प्रयोजन बताए हैं- कीर्ति और प्रीति। वामन की मान्यता है कि काव्य रचनाकार को यश (कीर्ति) देता है और पाठक को आनंद (प्रीति)।

4. आ. मम्मट :

इन्होंने अपने ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' में प्राय: सभी पूर्ववर्ती मान्यताओं का अंतर्भाव करके अपने प्रयोजनों को प्रस्तुत किया है। मम्मट की काव्य प्रयोजन विषयक धारणा सर्वोत्तम और परिपूर्ण मानी जाती है। मम्मट के काव्य प्रयोजन इस प्रकार हैं-

''काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्य परिनिर्वृत्तये कांतासम्मिततयोपदेशयुजे।।''

अर्थात्, काव्य यशप्राप्ति, व्यवहार ज्ञान, अमंगल नाश, तत्काल लोकोत्तर आनंद की प्राप्ति और कांता के समान मधुर उपदेश के लिए होता है। इन काव्य प्रयोजनों पर हम संक्षेप में विचार करेंगे।

अ) यशप्राप्ति :

यश या कीर्ति प्राप्त करने की इच्छा प्रत्येक मानव के मन में होती है। अंग्रेजी कवि मिल्टन ने यश को मानव की अंतिम और उदात्तम कामना कहकर इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का निदर्शन किया है। रुद्रट ने लिखा है- ''महाकवि सरस काव्य की रचना करता हुआ, अपने तथा नायक के प्रत्यक्ष युगांत तक रहनेवाले जगद्व्यापी यश का विचार करता है।''

यश प्रयोजन के दो पक्ष हैं। एक स्व.पक्ष और दूसरा पर पक्ष। काव्य रचना करके कभी तो कवि अपने यश का विस्तार करता है; जैसे, कालिदास, भवभूति आदि काव्यों से किया और कभी वह काव्य रचकर दूसरों का कीर्ति-विस्तार करता है; जैसे बाण ने हर्ष आदि अपने आश्रयदाताओं का यशगान किया। पर-पक्ष को लेकर सैकडों कवियों ने अब तक काव्य सृष्टि की है।

ब) अर्थप्राप्ति :

काव्य रचना का एक उद्‌देश्य अर्थप्राप्ति भी बताया गया है। लगभग सभी संस्कृत आचार्यों ने इस प्रयोजन को महत्त्वपूर्ण काव्य प्रयोजन बताया है। कहते हैं बाण ने अर्थ के लिए, हर्ष के नाम से, 'रत्नावली', 'प्रिय दर्शिका' और 'नागानंद' की रचना की थी। हिंदी में बिहारी के बारे में यह प्रसिद्‌ध है कि उन्हे राजा जयसिंह ने एक-एक दोहे के लिए एक-एक अशर्फी दी थी। दरबारी कवियों का साहित्य इसी प्रयोजन से बना। अंग्रेजी उपन्यासकार स्कॉट ने भी ऋण चुकाने के लिए उपन्यास लिखें। उपन्यास सम्राट प्रेमचंद भी इसी उद्‌देश्य से फिल्म इंडस्ट्री में पहुँचे थे, लेकिन वहाँ का माहौल उन्हें पसंद नहीं आया। आधुनिक युग में तो यह एक प्रधान प्रयोजन है।

क) व्यवहारज्ञान :

मम्मट ने व्यवहारज्ञान की शिक्षा को भी काव्य का एक प्रयोजन माना है। अन्य संस्कृत आचार्यों ने भी इस प्रयोजन का समर्थन किया है। इस संदर्भ में आ. कुंतक ने लिखा है- ''सत्काव्य में औचित्य से युक्त व्यवहार चेष्टा का निदर्शन प्रधान रहता है।'' संस्कृत में इसी प्रयोजन की दृष्टि से बहुत-सा साहित्य रचा गया था। 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश' आदि की रचना का यही प्रयोजन था। भगवान श्रीकृष्ण ने 'गीता' का सृजन धनुर्धर अर्जुन को व्यवहारज्ञान कराने के लिए ही किया। आर्य चाणक्य ने चंद्रगुप्त को व्यवहार ज्ञान कराने के प्रयोजन से ही 'अर्थशास्त्र' लिखा।

अपने से छोटे तथा बडों के प्रति उचितानुचित व्यवहार का ज्ञान करना ही साहित्य का कार्य है। आधुनिक काल में तो साहित्य का यह एक मुख्य उद्‌देश्य बन गया है।

ड) शिवेतरक्षतये/अमंगल का विनाश :

साहित्य या काव्य भारत में केवल आनंद की वस्तु कभी नहीं रहा। बल्कि लोकहित उसका प्रधान लक्ष्य रहा है। अंत: शिवेतरक्षतये या अनिष्ट निवारण के लिए भी साहित्य लिखा जाता रहा है। संस्कृत में बहुत-सा साहित्य इसी प्रयोजन से लिखा गया है। मयूर कवि को अपनी बेटी के शाप से तो पंडितराज जगन्नाथ को लवंगी नामक यवन-कन्या से विवाह करने से कुष्ठरोग हुआ था। अत: इस अनिष्ट के निवारण हेतु दोनों ने क्रमश: 'सूर्यशतक' तथा 'गंगालहरी' की रचना की। महात्मा तुलसीदास ने भी बाहु की पीड़ा से मुक्ति के लिए 'हनुमान बाहुक' की रचना की थी।

हिंदी भक्तिकाल में कबीर ने जाति-पाँति की अमंगल प्रथा का विरोध किया। रीतिकाल में भूषण ने मुगलों के अनिष्ट शासन के दमन के लिए रचनाएँ लिखी। अंग्रजी शासन के अन्याय से मुक्ति के लिए

क्रांतिकारी काव्य का सृजन हुआ। दलित साहित्य तथा नारीवादी साहित्य तो अनिष्ट प्रथाओं के निवारण का उत्तम उदाहरण है।

इ) सद्‌य: परिनिवृत्तये :

इसका अर्थ है उच्चकोटि के आनंद की प्राप्ति। इस प्रयोजन का तात्पर्य यह है कि काव्य के आस्वादन से रस-रूप अनिर्वचनीय तथा लोकोत्तर आनंद की प्राप्ति होती है। इसी वजह से काव्य के सभी प्रयोजनों में इसे मुख्य तथा सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। इस आनंद को 'बह्मानंद सहोदर' भी कहा गया है। इसकी प्राप्ति होते ही मानव अपने पीड़ा और कष्टों से भरे जीवन में आनंद पाता है और शांतिजन्य आनंद का अनुभव करता है।

ई) कांतासम्मित उपदेश :

प्राचीन आचार्यों ने उपदेश को भी एक काव्य-प्रयोजन माना है। उपदेश की तीन शैलियाँ होती हैं- प्रभु सम्मित, सुह्रदय सम्मित और कांता सम्मित। काव्य में कांतासम्मित उपदेश समाहित रहता है। जिस प्रकार कांता (पत्नी) मधुर हाव-भावों से पुरुष को मुग्ध करके उसे अपनी इच्छानुसार नीति-मार्ग पर ले जाती है, उसी प्रकार काव्य भी मधुर कथा और ध्वनि के सहारे मनुष्य को उच्च आदर्शो की शिक्षा देता है। अर्थात् कांता या प्रिया जिस प्रकार अपने पति से मधुर वाणी से कठिन कार्य भी करवा लेती है, उसी प्रकार साहित्य की व्यंजना शक्ति द्‌वारा पाठकों में सहज परिवर्तन किया जा सकता है।

कवि बिहारी का निम्न दोहा इस प्रयोजन का उत्तम उदाहरण है, जिसने राजा जयसिंह पर प्रभाव डाला था।

''नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।

अलि, कली ही सौं बिंध्यो, आगे कवन हवाल।।''

मम्मट के यशप्राप्ति, अर्थप्राप्ति तथा शिवेतरक्षतये प्रयोजन कवि या रचनाकार के लिए हैं और व्यवहारज्ञान, सद्‌य: परिनिवृत्तये तथा कांतासम्मित उपदेश आदि सह्रदय पाठक के लिए हैं।

1.3.4.2 हिंदी-विद्‌वानों द्‌वारा वर्णित काव्य-प्रयोजन -

हिंदी के कुछ प्राचीन और आधुनिक विद्‌वानों ने काव्य प्रयोजन प्रस्तुत किए हैं। उनमें से कुछ महत्वपूर्ण इस प्रकार है

महाकवि तुलसीदास :

इन्होंने अपने प्रसिद्‌ध महाकाव्य 'रामचरित मानस' में एक उक्ति द्‌वारा काव्य का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए लिखा है-

''कीरति भनिति भूति भल सोई।

सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।''

अर्थात् कीर्ति, कविता और ऐश्वर्य-वैभव वही श्रेष्ठ है जो गंगा नदी के समान सब का हित करने वाला हो। भावार्थ यह है कि तुलसीदास जी ने गंगा नदी की पवित्रता तथा उपकारी भावना से जोड़कर लोक मंगल की स्थापना करना ही काव्य का प्रयोजन सिद्‌ध किया है।

आ. रामचंद्र शुक्ल :

इन्होंने काव्य-प्रयोजन पर बड़े विस्तार से विचार किया है। 'हृदय को मुक्तावस्था में लाना' काव्य का मुख्य प्रयोजन मानते थे। इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है- ''काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालदर्शिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे से ऊँचे लक्ष्य आ जाते है। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय भगवान के लोकरक्षक और लोकरंजक रूपसे जा मिलता है, तब वह भक्ति में लीन हो जाता है।''

महावीरप्रसाद द्विवेदी :

इन्होंने 'ज्ञान का विस्तार और मनोरंजन' को ही काव्य-प्रयोजन स्वीकार किया है।

ये 'मानव-हित' को भी काव्य-प्रयोजन मानते हैं। उन्होंने लिखा है- ''मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गतिहीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदिप्त न कर सके, जो उसके हृदय को पर-दुःखकातर और पर-दुःख संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।''

नंददुलारे वाजपेयी :

वाजपेयीजी 'आत्माभिव्यक्ति' को काव्य प्रयोजन मानते हैं। उन्होंने लिखा है- ''वह रचना काव्य नहीं, जिसमें वास्तविक अनुभूति का अभाव हो।''

डॉ. गुलाबराय :

इन्होंने 'आत्महित' को काव्य प्रयोजन माना है। प्रमुख प्रयोजनों को इसी में समाहित करते हुए लिखा है- ''भारतीय दृष्टि से आत्मा का अर्थ संकुचित व्यक्तित्त्व में नहीं, विस्तार में ही आत्मा की पूर्णता है। लोकहित भी एकात्मवाद की दृढ़ शिला पर खड़ा हो सकता है। यश, अर्थ, यौन संबंध, लोकहित सभी आत्म हित के नीचे और उनके रूप हैं।''

मुन्शी प्रेमचंद :

प्रेमचंदजी ने 'विवेक जागृति और आत्मा की उज्वलता' को काव्य प्रयोजन माना है। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है- ''साहित्य का उद्‌देश्य हमारा मनोरंजन करना नहीं है। यह काम तो भाटों, मदारियों, विदूषकों और मसखरों का है। साहित्यकार का पद इनसे बहुत उँचा है। वह हमारे विवेक को जागृत करता है, हमारी आत्मा को तेजोदीप्त बनाता है।''

1.3.4.3 पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वर्णित काव्य–प्रयोजन –

पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य या साहित्य के प्रयोजनों की स्वतंत्र चर्चा नहीं की है। उन्होंने ललित कलाओं के अंतर्गत काव्य कला को रखकर उसे शीर्षस्थ कला माना है। कला के प्रयोजन को लेकर पाश्चात्य साहित्य में अनेक मतवाद प्रचलित हुए हैं। जिनमें से प्रमुख प्रयोजनों पर हम यहाँ विचार करेंगे।

1. कला कला के लिए (Art For Arts Sake)

काव्य और कला के अत्यधिक नैतिक, धार्मिक, प्रचारवादी दृष्टिकोण ने इस वाद को जन्म दिया। काव्य उपदेशप्रधान हो और जीवन में उपयोगी बातों को ही अभिव्यक्त करे या धार्मिक प्रचार का साधन बने, इस धारणा के विरूद्ध कुछ स्वच्छंद प्रेम और श्रृंगार का चित्रण करनेवाली, कुछ अश्लील कही जानेवाली और कठोर नैतिकता के विपरित विद्रोह जगानेवाली कविता के समर्थन के लिए, कला कला के लिए अथवा कविता के लिए है, नैतिकता या धार्मिक उपदेश के लिए नहीं और उपयोगिता की स्थूल कसौटी पर वह कसी नहीं जानी चाहिए, इस दृष्टिकोण का जन्म और प्रचार हुआ। ऑस्कर वाइल्ड और उनके साथी तथा डॉ. ब्रैडले ने इस मत का समर्थन किया। सैद्धांतिक दृष्टि से देखा जाय, तो इसके दो पक्ष स्पष्ट होते हैं, एक पक्ष कवि या कलाकार का है और दूसरा समाज, पाठक या श्रोता का।

कला कला के लिए है इस मत की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि यह है कि कवि या कलाकार कविता या कलाकृति की रचना करते समय, कोई निश्चित प्रचारवादी या उपदेशात्मक उद्देश्य को लेकर नहीं बैठता। उसकी प्रतिभा के स्वच्छंद प्रस्फुटन के लिए प्रयोजन और उद्देश्य का कोई बंधन नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसका पूर्ण विकास न हो सकेगा। कवि या कलाकार का प्रमुख उद्देश्य काव्य या कला की सृष्टि ही है। अत: उसकी दृष्टि से कला कला के लिए ही है, और किसी प्रयोजन के लिए नहीं। परंतु इस मत का उपयोग कुरुचिपूर्ण, अश्लील, दूषित अथवा बीभत्स साहित्य के समर्थन और प्रचार के लिए करना अनुचित है, क्योंकि वह तो मूलत: कला या काव्य के स्वभाव के विरुद्ध है। उससे सामूहिक या उत्कृष्ट आनंद प्राप्त नहीं हो सकता।

कवि या कलाकार की दृष्टि से कला कला के लिए है, यह मत मानते हुए भी पाठक या श्रोता की दृष्टि से दूसरे प्रयोजन स्वत: आ जाते है। जब कोई रचना का पाठ करता है या कला कृति का अवलोकन करता है, तो उसे आनंद प्राप्त होता है। हो सकता है कि उससे उसे जीवन में कोई प्रेरणा भी प्राप्त हो, कोई शिक्षा मिले अथवा थोडी देर के लिए वह चिंताग्रस्त परिस्थितियों में से निकलकर कलाकार के काल्पनिक संसार में विचरण करने लगे। ऐसी दशा में जिसे कलाकार ने केवल कला के दृष्टिकोण से रचा है, वही पाठक के लिए अनेक प्रयोजनों से युक्त हो जाती है। अत: उपर्युक्त मत अन्य मतों का विरोधी नहीं है।

2. कला जीवन के लिए (Art For Life Sake)

काव्य और कला जीवन के लिए है, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। जीवन के विकास और उत्कर्ष के साथ कला का स्थान महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है, उसकी व्यापकता बढ़ती जा रही है। यदि काव्य और कलाओं को जीवन से निकाल दिया जाय, तो जीवन का जो रूप होगा उसकी हम कल्पना भी नहीं कर

सकते। इसके अतिरिक्त काव्य जीवन को प्रेरणा प्रदान करता है, उसमें एक सरसता और उत्साह का संचार करता है। उदासी और चिंता के क्षणों में मन को प्रसन्न करने की उसमें शक्ति है। आदर्श और यथार्थ जीवन के दोनों पक्षों का चित्रण काव्य करता है। यथार्थ के आधार पर हम आदर्श की ओर अग्रेसर होते हैं। अत: आदि से अंत तक काव्य और कला में जीवन की झाँकी रहती है। जीवन को काव्य एक विशेष सुंदर, स्वस्थ और उदात्त दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है। हम एक साथ थोड़े ही समय में व्यापक और सम्पूर्ण जीवन का दर्शन कर ज्ञान, आनंद और शिक्षा प्राप्त करते हैं। अत: कला यदि जीवन के लिए नहीं, तो उसका उपयोग ही क्या हो सकता है? यह मत भी कला या काव्य के सामाजिक पक्ष से संबंध रखता है।

3. कला जीवन से पलायन के लिए (Art as an escape from life)

यह मत भी उपर्युक्त मत का ही एक अंग है। हम अपने नित्यप्रति के कटु और एक रस जीवन से ऊबकर, अधिक व्यापक, बहुरंगी और सुंदर जीवन का दर्शन करने के लिए काव्य और कला का आश्रय ग्रहण करते हैं। यथार्थ जीवन की कटुता और अभावों के बीच रहते-रहते जब दम घुटने लगता है, तब हम जीवन के उस रूप में प्रवेश करना चाहते हैं जिसकी कटुता और अभाव या तो हमें ग्रस्त न करे अथवा जो सुंदर सुखद जीवन की झाँकी प्रस्तुत करे। अभाव और कटुतापूर्ण मध्ययुगीन जीवन के लिए गोस्वामी तुलसीदास के द्वारा प्रस्तुत राम की जीवनकथा, इसी प्रकार का पलायन है। 'हालावादी' काव्य का तो मुख्य प्रयोजन यही है। यह मत कवि और पाठक दोनों ही के लिए यथार्थ है।

4. कला जीवन में प्रवेश के लिए (Art as an escape in to life)

इस मत के अनुसार काव्य का उद्देश्य जीवन को पीठ दिखाकर भागना नहीं, वरन् उसके द्वारा जीवन के गहन कातार में प्रवेश कर उसमें सौंदर्य के दर्शन कराना है। कविवर पंत ने अपनी 'युगवाणी' में लिखा है-

''इस धरती के रोम-रोम में भरी सहज सुंदरता।

इसकी रज में छू प्रकाश बन मधुर विनम्र बिखरता।।''

इस मत का दृष्टिकोण प्रवृत्तिपरक है। इसमें कलाकार जीवन के सौंदर्य पक्ष का उद्घाटन कर, हमें उसमें अनुरक्ति प्रदान कर उसके प्रति प्रयत्नशील बनाता है।

5. कला मनोरंजन अथवा आनंद के लिए (Art for Joy)

काव्य और कला का प्रमुख ध्येय मनोरंजन और आनंद माना जाता रहा है। काव्य से मनोरंजन होता है, उसके मनन से आनंद मिलता है, इसमें संदेह नहीं। इसकी आनंददायिनी शक्ति के कारण ही काव्य को 'बह्मास्वाद-सहोदर'भी कहा गया है। काव्य का आनंद लोकातित है, क्योंकि इसमें अंतर्वृत्तियों की पूर्ण तन्मयता रहती है और इससे मानसिक प्रसन्नता और आत्मिक विकास भी होता है। काव्य अथवा कला के इस उद्देश्य के संबंध में मतभेद नहीं। इसे सभी स्वीकारते हैं।

6. कला सेवा के लिए (Art For Services Sake)

काव्य-कला से मानवता की सेवा करना और सद्भावनाओं का प्रचार करना, यह प्रचारवादी और नैतिक दृष्टिकोण ही है। काव्य अथवा कला से तो सेवा होती ही है। किसी बीमार या थके हुए व्यक्ति को गीत सुनकर सकुन मिलता है या किसी विमनस्क मानव को ग्रंथ पढ़कर उर्जा प्राप्त होती है, तो यह काव्य का सेवापक्ष ही है। परंतु केवल सेवा का उद्देश्य लेकर बैठने से कला की उत्कृष्टता में बाधा पड़ेगी।

7. कला आत्मसाक्षात्कार के लिए –

कविता और कला में कवि आत्मसाक्षात्कार करता है, अपनी अनुभूतियों और आकांक्षाओं को पकडता है और उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करता है। विश्व और जीवन का जो प्रतिबिंब उसके मानस-पटल पर अंकित हुआ है उसे समझना और उसी प्रकार चित्रित करना कलाकार का ध्येय है। इस आत्म साक्षात्कार की दशा में उत्कृष्ट कलाकार लोकात्मा का भी साक्षात्कार करता है। अत: जब वह अपने अनुभव का प्रकाशन करता है, तब भी उसमें लोक अपनी निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति पाता है। किसी-किसी अवस्था में उसका अनुभव विलक्षण होता है, नवीन होता है; ऐसी दशा में आश्चर्यपूर्ण आनंद की अनुभूति कलाकृति के पाठक या दर्शक को होती है। अत: आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया प्रमुखतया भावुक कलाकार और गीतकार की विशेषता है।

8. कला एक सृजनात्मक आवश्यकता के लिए (Art as a creative Necessity)

काव्य या कला के संबंध में तथ्यवादी और दार्शनिक मूलभूत दृष्टिकोण यही है। जिस प्रकार ईश्वर की सृष्टि का क्या प्रयोजन है? यह बताना कठीण है, पर सृष्टि बराबर चलती जाती है, उसी प्रकार यह काव्य-रचना एक सृजनात्मक आवश्यकता है जिसको पूरा किये बिना सर्जनकारी प्रतिभा से युक्त व्यक्ति रह नही सकता। कला कला के लिए है, यह दृष्टिकोण भी इसी पृष्ठभूमि पर आधारित है। काव्य अथवा कला के अन्य प्रयोजन इस प्रमुख प्रयोजन के उपरांत ही प्रकट होते हैं। यह तो एक स्वयं सिद्ध प्रयोजन है।

1.3.4.4 निष्कर्ष

संस्कृत-आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य-प्रयोजन विस्तृत और सूक्ष्म हैं। आ. मम्मट का प्रयोजन काव्य के सभी अंगों पर प्रकाश डालता है। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कला के माध्यम से प्रस्तुत काव्य प्रयोजन एकांगी लगते हैं, लेकिन उनका समन्वित रूप महत्त्वपूर्ण है। हिंदी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत कुछ काव्य-प्रयोजन भी महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन उन पर संस्कृत और पाश्चात्य विद्वानों का प्रभाव है।

संक्षेप में काव्य के जिन प्रयोजनों का उल्लेख ऊपर किया गया है, वे एक दूसरे के पूरक हैं। विरोधी नहीं और किसी भी काव्यकृति में वे एक साथ देखे जाते हैं। इस तरह भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों ने साहित्य अथवा काव्य के जो विविध प्रयोजन बताए हैं, उनका समन्वित रूप ही काव्य कृति में देखा जाता है।

1.3.5 काव्य के प्रकार

भारतीय दृष्टि से काव्य का एक अर्थ साहित्य (गद्य, पद्य, मिश्र, दृश्य) है, तो दूसरा अर्थ कविता। यहाँ हमें पद्य या कविता की दृष्टि से ही काव्य के प्रकारों का अध्ययन करना है। पद्य या काव्य (कविता) के परंपरागत रूप से बंध के आधार पर प्रबंध और मुक्तक, दो भेद माने जाते हैं। प्रबंध के भी महाकाव्य और खंडकाव्य दो भेद हैं। महाकाव्य और खंडकाव्य का पद्य मे विशेष महत्त्व है। मुक्तक के भी दो भेद किये जाते हैं- (1) पाठयमुक्तक और (2) गेयमुक्तक। इसमें गेम मुक्तक या गीतिकाव्य का ही विशेष महत्त्व है।

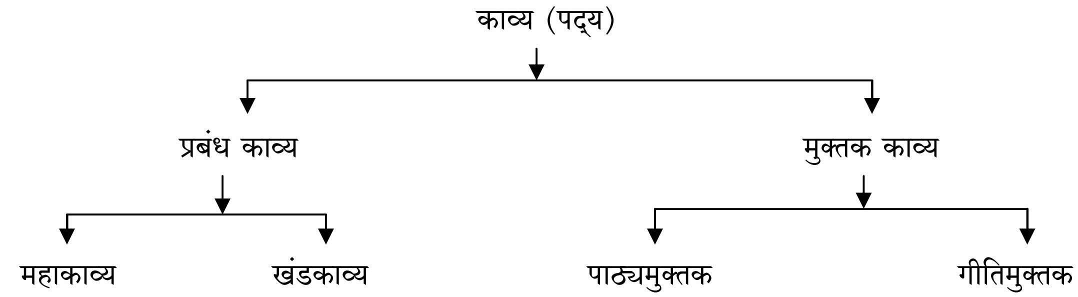

अब हम काव्य के भेदों एवं प्रकारों का सामान्य परिचय देखेंगे-

1.3.5.1 महाकाव्य

महाकाव्य शब्द 'महत्' और 'काव्य' दो शब्दों से मिलकर बना है। इनमें पहला शब्द विशेषण और दूसरा विशेष्य है। यहाँ विशेष्य का अधिक महत्त्व है। दोनों शब्दों का अर्थ होता है- 'बड़ा काव्य', क्योंकि 'महत्' से 'विशाल', 'उत्कृष्ट' का भी भाव प्रकट होता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि महाकाव्य जीवन के महत् का विवेचन होता है। महाकाव्य में जीवन की समग्र रूप में अभिव्यक्ति की जाती है। कथा की दीर्घता के साथ महाकाव्य में आकार की विशालता और भावों की बहुलता विद्यमान रहती है।

महाकाव्य का स्वरूप :

महाकाव्य के स्वरूप पर भारतीय आचार्यों ने विस्तार से विचार किया है। यहाँ संक्षेप में उनके मातों को देखेंगे-

आचार्य भामह :

संस्कृत में महाकाव्य के स्वरूप पर विचार करनेवाले सर्वप्रथम आचार्य भामह थे। उन्होंने उसका स्वरूप स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित विशेषताएँ मानी हैं-

1. महाकाव्य में कई सर्ग होने चाहिए।
2. उसमें उदात्त चरित्रवाले किसी महापुरुष का नायक के रूप में वर्णन रहना चाहिए।

3. उसमें किसी महत् कार्य का वर्णन होना चाहिए।

4. उसमें श्लिष्ट एवं नागर प्रयोग तथा अलंकारों की योजना रहनी चाहिए।

5. जीवन की विविध रूप झाँकी, प्रस्तुत की जानी चाहिए।

6. उसमें पंच संधियों आदि की योजना रहनी चाहिए।

7. कथानक का उपयुक्त संघटन किया जाना चाहिए।

8. उसमें सांस्कृतिक समृद्धता होनी चाहिए।

आ. रुद्रट :

इन्होंने 'काव्यालंकार' में पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का स्वीकार कर कुछ नए तथ्य भी दिए हैं–

1. नायक के गुणों का विस्तार किया है। उनके अनुसार उसे त्रिवर्ग-प्राप्ति (धर्म, अर्थ, काम) में संलग्न, शक्ति-त्रय से संपन्न (प्रभुत्त्व शक्ति, मंत्र-शक्ति तथा उत्साह शक्ति), संपूर्ण राज्य का विधिवत् पालनकर्ता, सर्वगुण संपन्न, परहित-निरत, धर्मपरायण होना चाहिए।

2. उसमें प्रतिनायक और उसके वंशादि का भी वर्णन रहता है।

3. महाकाव्य में कुछ अतिप्राकृतिक तत्त्व भी रहते हैं। कुछ ऐसी घटनाएँ और चित्र नियोजित किए जाते हैं जिनसे महाकाव्य में दिव्यता का संचार होता है।

4. प्राकृतिक परिवेश, गीत, नृत्य, श्रृंगार-चर्चा आदि का वर्णन हो।

5. महाकाव्य में मानव जीवन की ऐसी घटनाओं का वर्णन नहीं किया जाता जो अस्वाभाविक प्रतीत हो।

आ. दण्डी :

उनके 'काव्यादर्श' में दिए गए लक्षण में निम्न विशेषताएँ, नए तथ्य प्रस्तुत किए हैं–

1. प्रारंभ में आशीर्वचन, स्तुति या कथावस्तु का संकेत होना चाहिए।

2. महाकाव्य को विविध वृत्तांतों से युक्त लोकरंजक होना चाहिए।

3. उसमें प्रस्तुत काव्य, युगों और कालों तक अमर होना चाहिए।

विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विशेषताएँ महाकाव्य के उच्च गौरव, उसके सामाजिक मूल्य और व्यापक प्रभाव को स्पष्ट करनेवाली हैं। महाकाव्य में कल्पित वृत्तांत का निषेध है। दंडी ने नायक के चरित्रोत्कर्ष के लिए और भी उपाय बताये हैं। नायक के गुणों का पहले निरूपण करके फिर अत्याचारी प्रतिनायक के कार्यों का निराकरण करना सबसे सहज मार्ग है। महाकाव्य में शत्रु के भी उच्चवंश, वीर्यबल, विद्या आदि की महानता का वर्णन करना चाहिए, क्योंकि इससे उसके ऊपर विजय प्राप्त करनेवाले नायक का उत्कर्ष हो जाता है।

सर्गों की संख्या के संबंध में थोड़ा बहुत मतभेद है, जैसे ईशान संहिता में कहा गया है कि– ''महाकाव्य आठ सर्ग से कम न हो और तीस सर्गों से अधिक न हो और उसके भीतर किसी महापुरुष की कीर्ति का वर्णन होना चाहिए।'' अत: प्रमुखतया कथा का एक प्रभावशाली और अच्छा विस्तार और नायक की महत्ता का संकेत लगभग समस्त लक्षणों में किया गया है।

1.3.5.2 खण्डकाव्य

संस्कृत काव्यशास्त्र में 'खण्डकाव्य' पर महाकाव्य के समान विस्तार से विचार नहीं है। महाकाव्य की विशेषताओं को आंशिक रूप में इसमें स्वीकारा है। खंडकाव्य या खंडप्रबंध प्रबंधकाव्य का ही दूसरा भेद है। लेकिन इसमें कथावस्तु महाकाव्य की तरह संपूर्ण न होकर उसका एक अंश होती है। प्राय: जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना या दृश्य का मार्मिक उद्घाटन होता है और अन्य प्रसंग संक्षेप में रहते हैं। साहित्यदर्पणकार आ. विश्वनाथ ने खंडकाव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है–

''खंडकाव्यं भवेतकाव्यस्यैकदेशानुसारि च।''

अर्थात्, काव्य के एक देश और एक अंश का अनुसरण करनेवाला खण्डकाव्य है। उदा. 'मेघदूत' इसमें कथा संगठन आवश्यक है, सर्गबद्धता नहीं। इसमें भी वस्तु वर्णन, भाव–वर्णन एवं चरित्र का चित्रण किया जाता है, पर कथा विस्तृत नहीं होती। कथा को आठ से कम सर्गो में ही समेटना आवश्यक होता है। पात्रों की संख्या भी सीमित होती है और उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक फल की प्राप्ति करना होता है।

विद्वानों ने खंडकाव्य के दो भेद किए हैं– संघात या एकार्थ। जिसमें एक प्रकार के छंद में ही एक घटना या दृश्य का वर्णन किया जाता है उसे 'संघात खंडकाव्य' और जिसमें अनेक प्रकार के छंदों में विविध भावों के साथ जीवन के एक अंश का चित्रण होता है उसे 'अनेकार्थ खंडकाव्य' कहा जाता है।

आधुनिक युग में गद्य के प्रभाव के कारण कथा काव्य का ऱ्हास होता गया है। परिणामत: खंडकाव्य की परंपरा का विकास रूक–सा गया है। फिर भी डॉ. धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया', नरेंद्र शर्मा की 'द्रौपदी' तथा नागार्जुन की 'भूमिजा' उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

1.3.5.3 गीतिकाव्य

मुक्तक काव्य : जिस काव्य में किसी जीवन–कथा या घटना की अन्विति का बंधन न हो उसे 'मुक्तक' या 'स्वतंत्र' काव्य कहते हैं। मुक्तक का प्रत्येक पद स्वतंत्र होता है। प्रत्येक अपने आप में पूर्ण होता है। इसके दो मुख्य भेद माने जाते हैं– गेय मुक्तक या गीतिकाव्य और पाठ्यमुक्तक या अगीतिकाव्य। इन दो भेदों में से प्रगीत या गीतिकाव्य का विशेष महत्व है।

प्रगीत या गीतिकाव्य का स्वरूप :

जिस गीत को गाया जा सके अर्थात जिसमें गेय–तत्त्व प्रधान हो उसे 'प्रगीत' या 'गीति काव्य' की संज्ञा दी जाती है। गीतिकाव्य अंग्रेजी के 'लीरिक' शब्द का पर्यायवाची है। 'लारिक' (ङ्मीळल) शब्द 'लाइर'

से बना है और 'लाइर' एक प्रकार का सारंगी या वायलन के समान वाद्य यंत्र होता है। वाद्ययंत्र का संबंध संगीत के साथ है। अत: जिस गीत को वाद्य यंत्रों अथवा मौखिक रूप से गाया जा सके उसे गीति काव्य के अंतर्गत लिया जा सकता है।

परिभाषा :

हरवर्ट रीड : ''गीत साधारणतया उस रचना को कहते हैं, जिसमें सूक्ष्म अनुभूति हो, अथवा इन अनुभूतियों की वे प्रतिक्रियाएँ हो जो एकांत आनंद से जागृत होती हैं।''

श्यामसुंदर दास : ''गीतिकाव्य में कवि अपनी अंतरात्मा में प्रवेश करता है और बाह्य जगत् को अपने अंत:करण में ले जाकर उसे अपने भावों से रंजित करता है।''

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि, कलाकार की व्यक्तिगत अनुभूति को प्रगीत काव्य व्यक्त करता है।

गीतिकाव्य की विशेषताएँ –

1. वैयक्तिक अनुभूति –

गीतिकाव्य में व्यक्ति के निजी सुख-दु:ख की भावनाओं का गायन अथवा सहज उच्छलन होता है। प्रगीत में एक ही भाव या अनुभूति होती है। अनुभूति की तीव्रता से गीत का जन्म होता है।

2. संगीतात्मकता –

प्रगीत में काव्यमयता के साथ-साथ संगीतात्मकता का संचार रहता है। भाषा शैलीबद्ध होती है, जिसके कारण अपने आप संगीतात्मकता उत्पन्न होती है।

3. गेयता –

गीतिकाव्य गाये जाने योग्य होना चाहिए। यह इसका मूलभूत आधार है। विभिन्न रागों में प्रगीत गाये जाते हैं।

4. भाषा की कोमलता –

प्रगीत के लिए मधुर तथा कोमल भाषा आवश्यक होती है। इस कारण प्रगीत में कोमलकांत पदावली का ही प्रयोग होता है। लयात्मकता इसका प्रमुख गुण है।

5. संक्षिप्तता –

प्रगीत में एक ही भाव या अनुभूति होती है। अत: संक्षिप्तता अपने आप आ जाती है। प्रभाव की दृष्टि से भी संक्षिप्तता आवश्यक है।

1.3.5.4 निष्कर्ष

काव्य या कविता के प्रकारों पर विचार करने के बाद पता चलता है कि संस्कृत के आचार्यों ने महाकाव्य और खंडकाव्य विधाओं का सूक्ष्म अध्ययन करके लक्षण प्रस्तुत किए हैं। लेकिन खंडकाव्य में महाकाव्य के ही लक्षणों को आंशिक रूप से स्वीकारा है। गीतिकाव्य में व्यक्तिगत अनुभूति का स्थान महत्त्वपूर्ण रहता है।

1.3.6 काव्य गुण :

प्रस्तावना :

काव्य में सौंदर्य बढानेवाले कुछ धर्म होते हैं । इन्हें ही गुण कहते हैं। विविध विद्वानों ने गुण की संख्या विविध मानी है। आ. भरत मुनि और आ. दंडी ने गुणों की संख्या दस ही मानी हैं। गुण याने काव्य की शोभा बढानेवाले विशिष्ट धर्म ही हैं।

काव्या सर्जन में कुछ तत्त्व सक्रिय रहते हैं। जिनका उपयोग कवि या रचनाकार करता है। शब्द और अर्थ तो काव्य के शरीर होते हैं । रस ही उसकी आत्मा के स्थान पर रहता है। रस ही काव्य में मुख्य होता है और 'गुण' इस मुख्य रस के ही धर्म होते हैं और काव्य में रस के साथ गुण का साक्षात संबंध रहता है।

रस को काव्य की आत्मा और अलंकारों को कविता का बाह्य सौंदर्य बढ़ानेवाला धर्म स्वीकारने वाले आचार्यों ने गुण का उल्लेख रस और अलंकार दोनों के संदर्भ में किया है।

आचार्य मम्मट ने गुण की परिभाषा दी है –

''ये रसस्यादिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।

उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयों गुणाः ।।''

अर्थात् जिस तरह मनुष्य के शरीर में 'शौर्य' आदि गुणों की स्वाभाविक स्थिति होती है, वैसे ही कविता में रस को उत्कर्ष प्रदान करनेवाले धर्म को गुण कहा जाता है।

'अग्निपुराण' में कहा गया है कि किसी नारी के शरीर पर स्वाभाविक सौंदर्य आदि गुणों के अभाव में जिस तरह हार आदि आभूषण भार लगते हैं, वैसे ही अलंकारों से युक्त होकर भी काव्य गुण के अभाव में आनंद प्राप्त नहीं हो सकता । आचार्य दंडी ने गुण को काव्य का प्राण रूप माना है। गुणों की संख्या के बारे में साहित्यशास्त्रियों के बीच प्रारंभ में मतभेद रहा है। लेकिन अंततः काव्य गुणों की संख्या दस मानी है।

1) श्लेष 2) प्रसाद 3) समता 4) समाधि 5) माधुर्य

6) ओज 7) सुकुमारता 8) अर्थव्यक्ति 9) उदारता 10) कांति।

अधिकांश आचार्यों ने (दंडी, मम्मट, कुंतक, हेमचंद्र, विश्वनाथ, आनंदवर्धन आदि) माधुर्य, ओज एवं प्रसाद इन तीन गुणों को प्रमुख माना है।

आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ ने इन्हीं तीन गुणों में अन्य का समावेश स्वीकृत किया है। हिंदी के अधिकतर आचार्यों ने भी इन्ही तीन गुणों को महत्त्वपूर्ण माना है। इन गुणों का परिचयात्मक विश्लेषण निम्नलिखित है –

1.3.6.1 प्रसाद गुण :

आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि सूखे ईंधन में अग्नि के समान या धुले हुए वस्त्र में पानी की भाँति तत्काल मन में व्याप्त हो जानेवाला गुण प्रसाद है। यह गुण ऐसा सरल और सुबोध अर्थ व्यक्त करता है कि पंक्तियों से गुजरते ही कविता साकार हो उठती है।

प्रसाद गुण की रचनात्मक विशेषताएँ निम्न है

(अ) प्रसाद गुण के लिए कोई वर्ण संघटना नहीं है।

(ब) प्रसाद गुण के लिए कोई वर्ण त्याज्य या सीमित नहीं।

(क) सभी रस में तत्काल अर्थ प्रदान करता है।

(ड) प्रसाद गुण व्याप्त एवं प्रसन्नता देता है।

उदा.

''चारूचंद्र की चंचल किरणे, खेल रहीं हैं जल-थल में।
बिमल चाँदनी बिछी हुई है, अवनि और अंबरतल में।
पुलक प्रकट करती है, धरती हरित तृणों की नोकों से।
मानो झीम रहे हैं तरू भी मंद पवन के झोंकों से ।।'' (पंचवटी)

1.3.6.2 माधुर्य गुण :

जिस काव्य की रचना से अंत:करण आनंद से भर जाय, वहाँ माधुर्य गुण होता है। कविता में माधुर्य गुण के समावेश के कारण श्रृंगार आदि रसों की प्रस्तुती में आकर्षण का समावेश होता है। इसमें मधुरता व्यंजक शब्द तथा वर्ण का प्रयोग किया जाता है। ताकि कविता में लगातार रसात्मकता और मधुरता का बोध होता रहे।

माधुर्य गुण की रचनात्मक विशेषताएँ निम्नलिखित है –

(अ) इसमें ट, ठ, ड, ढ– का प्रयोग न हो।

(ब) वर्गान्त्य वर्णों के प्रयोग से सुकुमारता बढती है।

(क) र, ण – वर्ण भी माधुर्य – व्यंजक होते हैं।

(ड) इसमें बहुत छोटे-छोटे समास प्रयुक्त हो।

उदा.

''कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि ।

कहत लखन सन राम हृदय गुनि ।

मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही।

मनसा विश्व विजय कहँ कीन्ही ।। (रामचरितमानस)

1.3.6.3 ओज गुण :

ओज गुण- जिस काव्य गुण के कारण चित्त में स्फूर्ति एवं मन में तेज उत्पन्न हो, उसे ओज कहा गया है। ओजपूर्ण कविता के सुनने मात्र से मन में जोश और आवेग उत्पन्न हो जाता है। इसी कारण वीर, बीभत्स और रौद्र जैसे रसों के लिए ओजगुण की योजना की जाती है। वक्र अर्थवाले लम्बे सामासिक पदों और कठोर वर्णों से बने काव्य द्वारा ओज गुण की प्रस्तुती की जाती है।

ओज गुण की रचनात्मक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(अ) इसमें र, फ युक्त वर्णों का प्रयोग होता है।

(ब) ट, ठ, ड, ढ तथा श, ष वर्णों का प्रयोग ओजवर्धक होता है।

(क) इसमें दीर्घ समासवाली रचना होनी चाहिए।

(ड) इसकी पदयोजना या रचना औचित्यपूर्ण हो

उदा.

''इंद्र जिमि जंभ पर बाडव सुअंभ पर

रावन - सदंभ पर रघुकुल राज है,

पौन बारिबाह पर, संभु रतिनाह पर,

ज्यों सहस्त्रबाहु पर राम द्विजराज हैं।'' (भूषण)

1.3.7 काव्य दोष:

आचार्य भरत ने जब महान निर्दोषिता को काव्य गुण की संज्ञा दी थी, तभी दोष रहित काव्य सृजन की पहल की थी। आचार्य भामह ने लिखा है कि काव्य सृजन न करना कोई अपराध नहीं है, लेकिन सदोष काव्य रचना करना तो साक्षात मृत्यु है।

काव्य में दोषों को टालना कविता की प्रारंभिक अनिवार्यता के रूप में अनेक साहित्य- शास्त्रियों ने मान्यता दी है। मम्मट ने तो काव्य की परिभाषा में ही दोषों का विरोध किया है-

''तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतिः पुनः क्वापि ।''

आचार्य भरत एवं वामन ने काव्य दोष को काव्य गुण का विपर्य माना है। काव्य दोषों की संख्या पर काफी विचार विमर्श विविध विद्वानों ने किया है। आचार्य विश्वनाथ ने दोष की परिभाषा देते हुए लिखा है– ''रसापकर्षका दोषाः'' मतलब 'दोष' वे हैं जो रस या काव्य के आत्मतत्त्व के अपकर्षक होते हैं। सभी मतों का सार रूप स्वीकार करे तो आज काव्यदोष के तीन भेद स्वीकार किए गये हैं– शब्ददोष, अर्थदोष, रसदोष।

1.3.7.1 शब्द दोष (पद दोष) :

काव्य में आनंद प्रदान करनेवाला प्रारंभिक अवयव शब्द या पद होता है। इस नाते यदि शब्दों के संघटना में ही दोष हो, तो संपूर्ण कविता का प्रभाव तथा आनंद समाप्त होता है। इसीलिए जहाँ शब्द या पद रचना और प्रयोग के कारण काव्यार्थ की प्रतीति में बाधा उत्पन्न होती है, वहाँ पदगत दोष या पद दोष कहा जाता है। आचार्य मम्मट ने पद दोष के १६ प्रकार बताए हैं। उनमें से कुछ दोषों का विवेचन निम्न प्रकार है–

(अ) श्रुति कटुत्व : काव्य रचना करते समय सुनने में मधुर शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। रस के विपरित कानों को खटकनेवाले कठोर वर्ण प्रयोग से श्रुति कटुत्त्व दोष होता है।

उदा.

''ठाट है सर्वत्र घर या घाट है।

लोक-लक्ष्मी की विलक्षण हाट है।''

इन पंक्तियों में ट, ठ कठोर वर्ण प्रयोग के कारण श्रुति कटुत्व आया है।

(ब) अश्लीलता : यह दोष किसी ऐसे पद के प्रयोग के कारण होता है, जिससे अभिप्रेत अर्थ निकलने के साथ ही कोई लज्जा, घृणा और अमंगलकारी अर्थ भी निकलते हैं।

उदा.

''गिर जाय कहीं यदि किसी से मूल्यवान वस्तु

लोभ से उठाना उसे चाटना है नाक का।''

यहाँ 'नाक का चाटना' घृणा व्यंजक होने के कारण अश्लीलता प्रकट करता है।

शब्द या पद दोषों के माध्यम से यही सूचित होता है कि कविता में सरल, सहज एवं बोध गम्य शब्दों का प्रयोग होना चाहिए।

1.3.7.2 अर्थगत दोष (अर्थ दोष) :

काव्य में शब्दों का अर्थ-ग्रहण ही आनंद एवं प्रभाव उत्पन्न करता है। जहाँ अर्थ ग्रहण में बाधा होती है वहाँ अर्थ दोष पाए जाते हैं। आचार्य मम्मट ने 23 प्रकार के अर्थ दोषों का उल्लेख किया है। अर्थ समझने में

किसी प्रकार के कष्ट नहीं होने चाहिए। अर्थ में परस्पर विरोध नहीं होने चाहिए। अर्थ प्रकटीकरण में नवीनता आनी चाहिए। अर्थ को जान लेने पर चित्त में न तो अमंगल की भावना होनी चाहिए और न उद्वेग ही उत्पन्न होना चाहिए।

आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार किसी पद के मुख्य अर्थ के अनुपकारी होने पर अपुष्ट दोष होता है। जिस पद की अनुपस्थिति पर भी अर्थ को हानी नहीं पहुँचती हो।

उदा.

''सारे उपवन के विशाल वायुमंडल में

प्रेमी प्रीति - संभव के मंगल मनाते हैं।''

प्रस्तुत पद में विशाल विशेषण निरर्थक है, क्योंकि वायुमंडल तो विशाल होता ही है। जहाँ एक ही शब्द और अर्थ की बार-बार आवृत्ति हो, वहाँ पुनरुक्त अर्थ दोष होता है। इससे कवि के शब्द दारिद्र्य का पता चलता है।

उदा.

''धन्य है कलंक हीन जीना एक क्षण का

युग-युग जीना सकलंक धीक्कार है।''

स्पष्ट है कि पुनरूक्त अर्थदोष के कारण कविता वे प्रभाव और आनंद में बाधा उपस्थित हुई है।

1.3.7.3 रसगत दोष (रस दोष) :

रस कविता का अनिर्वचनीय आनंद है, लेकिन जहाँ रसास्वाद में बाधा उत्पन्न हो जाती है - वहाँ विद्वानों ने विविध रस दोषों को स्वीकृत किया है। वैसे देखा जाय तो कविता में रस का स्पष्ट उल्लेख अपने आप में एक दोष है। कई कवियों ने रस के स्थायी, संचारी और व्याभिचारी भावों को स्वयं वर्णित कर रस के स्वाभाविक उद्रेक को बाधित किया है। आचार्य मम्मट ने तेरह प्रकार के रस दोषों की चर्चा की है। स्वशब्दवाच्यता तो सर्वप्रमुख रस दोष है।

उदा.

''आह कितना सकरुण मुख था,

आर्द्र सरोज अरुण मुख था।''

इन पंक्तियों में करुण रस का कवि स्वयं उल्लेख करता है।

जहाँ रस स्थायीभाव या व्यभिचारी भाव की पुष्टि उनसे संबंधित भावों का वर्णन किए बिना ही उनके शब्दश: कथन से की जाए वहाँ रसदोष होता है।

उदा.

''ज्यों ही चूमा प्रिय ने उसको
लज्जा मन आयी।''

रसों के पारस्परिक विरोध की एक पंक्ति

उदा.

''इस पार प्रिये तुम हो मधु है
उस पार न जाने क्या होगा?''

कुल मिलाकर दोषपूर्ण काव्य निंदा का पात्र होता है, चाहे उसमें शब्द, अर्थ और रसदोष में से कोई भी एक हो । कविता का अपकर्ष करनेवाले दोषों से बचकर ही कोई श्रेष्ठ कवि हो सकता है।

1.3.8 शब्दशक्ति, शब्दशक्ति के भेद।

1.3.8.1 शब्दशक्ति :

शब्द का अस्तित्त्व उसके अर्थ पर निर्भर करता है। शब्द के उच्चारण और उसके अर्थ के बीच एक अप्रत्यक्ष क्रिया होती है वही शब्दशक्ति है। शब्दशक्ति को शक्ति, वृत्ति या व्यापार कहा जाता है। जैसे ईमली का नाम लेते ही मुँह में पानी आता है और भूत का नाम लेते ही भय का संचार हो जाता है। इससे कहा जा सकता है कि हर शब्द के साथ उसका अर्थ जुड़ा होता है। जिस शक्ति के द्‌वारा शब्द का अर्थगत प्रभाव पड़ता है वह शब्दशक्ति है। कविता में शब्द और अर्थ का संबंध निहित होता है। सार्थक शब्दों के माध्यम से साहित्यकार अपने भावों, विचारों, कल्पनाओं, अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है। आग और उष्णता का संबंध जिस प्रकार का है ठीक उसी प्रकार का संबंध शब्द और अर्थ के बीच का है। काव्य में रस की निष्पत्ति शब्द-शक्ति के द्‌वारा ही होती है। हमारे मन में उत्पन्न भाव शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं।

दरअसल शब्द में एक से अधिक अर्थ छिपे होते हैं; जो समय, स्थिति, प्रसंग के अनुरूप व्यक्त होते हैं। जिस कारण या जिस व्यवहार से मनुष्य शब्द के अर्थ ग्रहण करता हैं उसे ही शब्दशक्ति कहा जाता है। कवि काव्य भाषा की वाक्य रचना में अनेक प्रकार के शब्दों का प्रयोग आशय-विषय के अनुसार करता है। शब्द की शक्ति शब्द में अंतर्निहित अर्थ को व्यक्त करने का व्यापार है। संस्कृत आचार्य के अनुसार 'शब्दार्थ-संबंध: शक्ति:' अर्थात् शब्द और अर्थ के परस्पर संयोग से शब्द शक्ति कहते हैं अर्थात् शब्द के जिस व्यापार से उसके अर्थ का बोध होता है उसे शब्द शक्ति कहते हैं। हर शब्द किसी-न-किसी अर्थ का वाचक होता है तो कई बार शब्द एक से अधिक अर्थ का द्‌योतक होता है, समय, स्थिति एवं प्रसंग के अनुसार वह विशेष अर्थ को व्यक्त करता है।

जिस शक्ति से शब्द का अर्थगत प्रभाव पड़ता है असल में वही शब्दों की शक्ति होती है अर्थात् शब्द का अर्थबोध कराने वाली शक्ति ही शब्दशक्ति है। रीतिकालीन आचार्य चिंतामणि ने इस संदर्भ में ठीक ही लिखा है-'जो सुन पड़े सो शब्द है, समझि परै सो अर्थ' अर्थात् जो सुनाई पड़े वह शब्द है और जो सुनकर समझ में आए या अवगत हो वही उसका अर्थ है यानी जो ध्वनि सुनाई पड़ती है वह शब्द और उस ध्वनि से जो संकेत मिलता है या अर्थ समझ में आता है वही उसका अर्थ है। दरअसल शब्द से अर्थ का बोध होता है।

इस प्रक्रिया में शब्द बोधक यानी बोध कराने वाला है और इसका अर्थ हुआ बोध्य अर्थात् जिसका बोध कराया जाए। जितने प्रकार के शब्द होंगे उतनी प्रकार की शब्द शक्तियाँ होंगी। शब्द तीन प्रकार होते हैं-वाचक, लक्षक, व्यंजक। ठीक इसी के अनुरूप शब्द के तीन अर्थ होते हैं-वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। शब्द और अर्थ के अनुरूप शब्द की तीन शक्तियाँ बनी है अभिधा, लक्षणा औ व्यंजना।

वाचक शब्द यानी वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) का संबंध अभिधा शब्द शक्ति से, लक्षक यानी लक्ष्यार्थ का संबंध लक्षणा शब्द शक्ति से और व्यंजना यानी व्यग्यार्थ का संबंध व्यंजना शब्द शक्ति से होता है। इसे निम्नलिखित रूप से अच्छी तरह से समझाया जा सकता है-

अनु.क्र.	शक्ति	शब्द	अर्थ
1.	अभिधा	वाचक/अभिधेय	वाच्यार्थ/अभिधेयार्थ/मुख्यार्थ
2.	लक्षणा	लक्षक/लाक्षणिक	लक्ष्यार्थ
3.	व्यंजना	व्यंजक	व्यंग्यार्थ/व्यंजनार्थ

वाच्यार्थ मुख्यार्थ होता है जबकि लक्ष्यार्थ लक्षित और व्यंग्यार्थ व्यंजित, सूचित, प्रतीत या ध्वनित होता है। शब्द के तीन भेद है-१) वाचक शब्द, २) लक्षक शब्द, ३) व्यंजक शब्द। इनका विवेचन-विश्लेषण निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत है-

1) वाचक शब्द :

जो शब्द साक्षात अर्थ की प्रतीति देता है उसे वाचक शब्द कहा जाता है। ये शब्द मुख्य अर्थ या सांकेतिक अर्थ का बोध कराते हैं अर्थात् जिस शब्द का अर्थ अभिधा शब्दशक्ति द्वारा जाना जाता है उसे वाचक शब्द कहते हैं। इसके चार भेद माने जाते हैं; जैसे-जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और द्रव्यवाचक। वाचक शब्द से वाच्यार्थ की प्राप्ति होती है। वाच्यार्थ: किसी शब्द का अभिधा शब्दशक्ति द्वारा प्राप्त अर्थ वाच्यार्थ कहा जाता है और उसे मुख्यार्थ भी कहा जाता है।

2) लक्षक शब्द:

जो शब्द मुख्य अर्थ से भिन्न या अन्य अर्थ को ध्वनित करता है उन्हें लक्षक शब्द कहते हैं। ज्यो शब्द लक्षणा शब्द शक्ति द्वारा लक्ष्य अर्थ को द्योतित करता है उसे लक्षक शब्द कहा जाता है। लक्षक शब्द से लक्ष्यार्थ का बोध होता है। लक्ष्यार्थ: लक्षणा शब्दशक्ति द्वारा ज्ञात शब्दार्थ को लक्ष्यार्थ कहा जाता है।

3) व्यंजक शब्द :

जिन शब्दों से व्यंग्य अर्थ का बोध होता है उन्हें व्यंजक शब्द कहते हैं और उस अर्थ को व्यंग्यार्थ कहा जाता है। दूसरे शब्दों में जिस शब्द से व्यंजना शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ प्राप्त हो जाता है उसे व्यंजक शब्द कहते हैं। व्यंग्यार्थ: व्यंजना शक्ति द्वारा प्राप्त अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं।

वाचक, लक्षक और व्यंजक शब्दों के आधार पर वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्राप्ति होती है और इसी अर्थ के आधार पर शब्द की तीन शक्तियाँ बनी हुई है–1) अभिधा 2) लक्षणा और व्यंजना।

- **शब्दशक्ति के भेद :**

शब्द के विविध अर्थों के आधार पर शब्द शक्ति के प्रकारों का निर्धारण किया जाता है। शब्द के जितने प्रकार के अर्थ होते हैं भाषा में उतने ही प्रकार की शब्द शक्तियाँ होती है। शब्दों से ही अर्थ का बोध होता हैं। प्रक्रिया या पद्धति के आधार हर भाषा में शब्द शक्ति के अंतर्गत तीन प्रकार के शब्द होते हैं। 1) अभिधा 2) लक्षणा 3) व्यंजना। लेकिन कुछ आचार्यों ने वाक्य का वास्तविक मंतव्य बोध कराने वाली चौथी तात्पर्या शब्द शक्ति मानी है। अभिहितान्वयवादी मीमांसकों का कहना है कि शब्दों में वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ को ज्ञात कराने वाली शक्ति निहित होती है, किंतु वाक्य में उनके एक–दूसरे से अन्वित होने पर ही वे वक्ता के वास्तविक तात्पर्य को ग्रहण कर पाते हैं। उनके अनुसार वाक्य, योग्यता, सन्निधि और आकांक्षा से युक्त पद समूह और उनका तर्क संगत संबंध ज्ञान हो जाने पर ही वाक्य का ज्ञान अवगत होता है। इसे तात्पर्यावृत्ति (चौथी) शब्द शक्ति कहते हैं। इस संदर्भ में डॉ. भोलाशंकर व्यास अपनी 'ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धांत' किताब में लिखते हैं 'तात्पर्य नामक चौथी शक्ति (वृत्ति) वस्तुत: शब्द की शक्ति न होकर वाक्य की शक्ति है, अतः उसका समावेश शब्द शक्तियों में उपचार रूप से ही किया जाता है।' इससे स्पष्ट होने में देर नहीं लगती कि शब्दों में तीन ही शक्तियाँ होती है और वह है अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इन तीनों शब्द शक्तियों का विवेचन निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत है–

- **अभिधा :**

जिस शब्द शक्ति के द्वारा शब्द के मुख्य/पहला/प्रसिद्ध/प्रचलित/पूर्वविदित/अभिधेय अर्थ का बोध होता है उसे अभिधा शब्द शक्ति कहते हैं। इस शक्ति से शब्द के सामान्य, प्रचलित या मुख्य अर्थ का बोध होता है। ये शब्द मुख्य या प्रथम अर्थ का बोध कराते हैं इसी कारण उसे अग्रिमा, प्रथमा, मुख्या, अभिधा शब्द शक्ति कहते हैं। यह शब्द शक्ति साधारण और व्यावहारिक अर्थ को प्रकट करती है। इस शब्द शक्ति से शब्द का कोशगत अर्थ लिया जा सकता है। नाम जाति, गुण, द्रव्य या क्रिया का होता है और ये सारे साक्षात संकेतित होते हैं। ये वाचक शब्द गुणवाचक, जातिवाचक, द्रव्यवाचक तथा क्रियावाचक चार प्रकार के होते हैं। सार यह कि सांकेतिक या मुख्य अर्थ का बोध कराने वाली शब्द शक्ति को अभिधा शब्द शक्ति कहते हैं।

अभिधा शब्द वाक्य के अंतर्गत मुख्य या सांकेतिक अर्थ को ही प्रकट करते हैं। संकेत ग्रह संकेतिक अर्थ ग्रहण या अर्थ ज्ञान से हो जाता है। वाचक शब्द और अभिप्रेत अर्थ -इन दोनों के बीच; जो संबंध होता है; उसका ग्रहण या ज्ञान ही संकेत ग्रह है। संकेत ग्रह निम्नलिखित साधनों से होता है-व्याकरण, उपमान पद, कोश, आप्त वाक्य, व्यवहार, सिद्‌ध पद का सान्निध्य, वाक्यशेष और विवृत्ति या टीका। इसमें अर्थों का बोध नाम या सूचना से ही मिल जाता है; जैसे बैल, गधा, गंगा, पर्वत, हाथी आदि वाचक शब्द है। इनके उच्चारण से मूल अर्थ का बोध हो जाता है। उदा. बैल खड़ा है। यह वाक्य सुनते ही बैल नामक एक विशेष प्रकार का जीव हम जान लेते हैं। बैल शब्द से आदमी या किताब का बोध नहीं होता। बैल वाचक शब्द है, जिसका मुख्यार्थ विशेष जीव है। वाचक शब्द से सीधे अर्थ का बोध होता है। अभिधा शब्द शक्ति से तीन प्रकार के शब्दों का अर्थबोध हो जाता है। 1) रूढ शब्द 2) यौगिक शब्द 3) योग रूढ़ शब्द।

- **रूढ़ शब्द :**

ये वे शब्द होते हैं, जो खंडित नहीं किए जा सकते। खंडित करने पर इनका अर्थ बिखर जाता है। ये शब्द जातिवाचक होते हैं। इन शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती; जैसे- पेड़, चंद्र, घोड़ा, गढ़, राजा, मनुष्य आदि।

- **यौगिक शब्द :**

ये वे शब्द हैं जिनका अर्थ बोध अवयवों (प्रकृति और प्रत्ययों) या दो शब्दों के पृथक्-पृथक् या एक साथ होने पर होता है। इन यौगिक शब्दों की व्युत्पत्ति की जा सकती है। जैसे-भूपति, नरपति, पाचक, दिवाकर, सुधांशु आदि। 'भू' का अर्थ है - पृथ्वी और 'पति' का अर्थ है -स्वामी। इन दोनों के मिलन से पृथ्वी का स्वामी अर्थ प्रतीत होता है। इस तरह से अन्य शब्दों की व्यत्पत्ति की जा सकती है।

- **योग रूढ़ :**

ये वे शब्द हैं जिनका अर्थबोध समुदाय या अवयवों की शक्ति से होता है। दरअसल ये शब्द यौगिक ही होते हुए भी अर्थ विशेष में रूढ़ होते हैं; उदा: जलज अर्थात् जल में उत्पन्न होने वाली कोई वस्तु या वनस्पती। लेकिन जलज का अर्थ कमल के लिए रूढ़ हो गया है। आज यह अर्थबोध योगरूढ़ बन गया है। उसी प्रकार पंकज है जिसका अर्थ पंक या कीचड़ में उत्पन्न होने वाली वस्तु, लेकिन पंकज का अर्थ आज कमल के लिए रूढ़ हो चुका है अर्थात् यह अर्थबोध योग रूढ़ हो चुका है।

- **लक्षणा :**

जहाँ शक्ति के द्‌वारा शब्द का मुख्य अर्थ समझने में बाधा आ जाती है और रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर मुख्यार्थ से भिन्न या अन्य अर्थ को लक्ष्य किया जाता है वहाँ लक्षणा शब्द शक्ति होती हैं। लक्षणा शब्द शक्ति के द्‌वारा ज्ञात कराने वाले अर्थ को लक्ष्यार्थ या लक्षक कहते हैं। इस शब्द शक्ति में मुख्य अर्थ के ग्रहण में बाधा आ जाती है। रूढ़ि या प्रयोजन का आधार बनाकर मुख्य अर्थ से संबंधित अन्य अर्थ लक्षित होता है, वही लक्षणा शब्द शक्ति है। इसमें लक्षक और लक्ष्य महत्त्वपूर्ण होता है। उदा: सुरेश

गधा है। यहाँ गधे का लक्ष्यार्थ मुर्ख है, किसी जानवर से नहीं। यहाँ गधे का मुख्यार्थ न लेकर गधे की भाँति 'मुर्ख' लिया गया है याने सुरेश गधे के समान मुर्ख है। लक्षणा शब्द शक्ति से भाषा में प्रभाव या चमत्कार उत्पन्न हो जाता है।

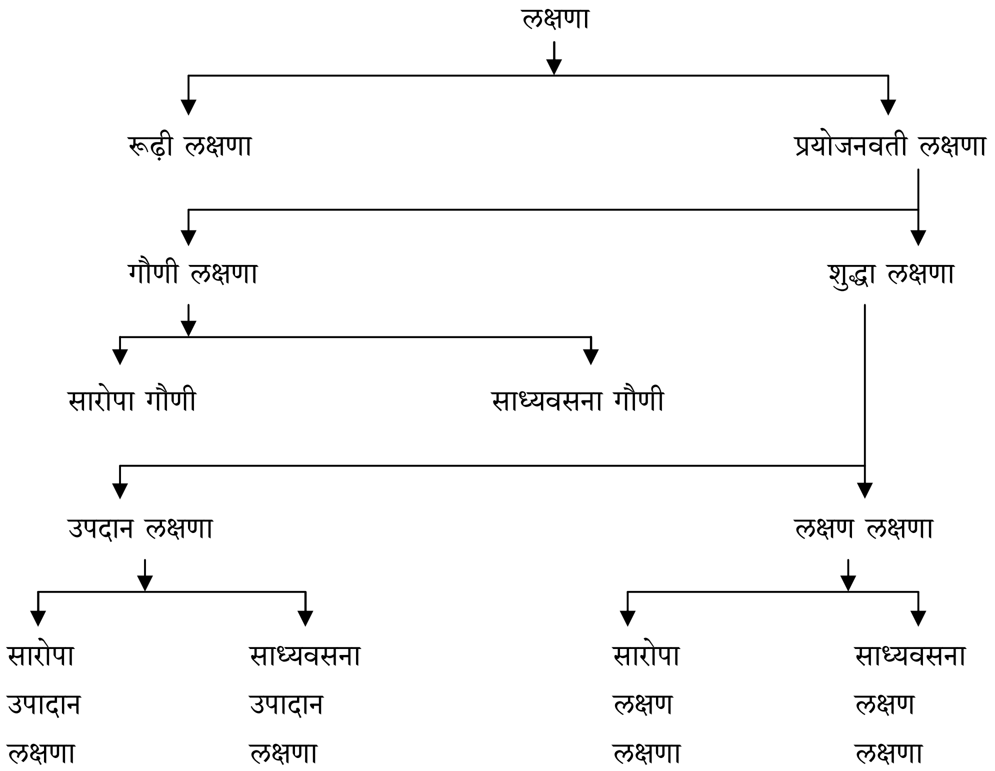

➢ लक्ष्यार्थ के आधार पर लक्षणा शब्द शक्ति के दो भेद है-

- **रूढ़ा लक्षणा :**

जहाँ रूढ़ि के कारण मुख्य अर्थ के स्थान पर लक्षित अर्थ को ग्रहण किया जाता है, वहाँ रूढ़ा लक्षणा शब्द शक्ति होती है। दूसरे शब्दों में-जहाँ मुख्य अर्थ ग्रहण करने में बाधा आ जाती है, वहाँ रूढ़ि के आधार पर अर्थ ग्रहण किया जाता है, उस शक्ति को रूढ़ा लक्षणा शब्द शक्ति कहते हैं। उदा. पंजाब वीर हैं-इस वाक्य में पंजाब का लक्ष्यार्थ है - पंजाब के निवासी। यह अर्थ रूढ़ि के आधार पर ग्रहण किया गया है। अत: रूढ़ा लक्षणा है।

- **प्रयोजनवती लक्षणा :**

जहाँ मुख्य अर्थ ग्रहण करने में बाधा आ जाती है, वहाँ किसी विशेष प्रयोजन के लक्षित अर्थ का बोध किया जाता है, उस शक्ति को प्रयोजनवती लक्षणा शब्द शक्ति कहते हैं। यहाँ मुख्य अर्थ का बोध हो जाता है, मगर किसी विशेष प्रयोजन के कारण मुख्य अर्थ से संबंध रखने वाला लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है, उसे प्रयोजनवती लक्षणा कहा जाता है। साहित्यदर्पणकार ने इसके 80 भेद माने हैं। उदा. सोहन उल्लू है। इस

वाक्य में उल्लू का लक्ष्यार्थ मुर्ख लिया गया है और यह सोहन की मुर्खता को व्यक्त करने के प्रयोजन से लिया गया है। उदा. तुम तो पूरे बैल हो। इस वाक्य में मुख्यार्थ बाध है। यहाँ बैल कहने का प्रयोजन मुर्खता को प्रभावी ढंग से व्यक्त करना है। प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद माने जाते हैं–

- **गौणी लक्षणा :**

सादृश्य संबंध या समान गुणविशेष या गुणधर्म के चलते लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ गौणी लक्षणा होती है। जैसे मुख कमल। यहाँ मुख्य अर्थ में बाधा आ जाती है क्योंकि मुख कमल नहीं हो सकता, मगर गौणी लक्षणा के द्वारा कमल जैसा सुंदर, कोमल मुख है। यहाँ सुंदरता या कोमलता उसका गुण है। इन गुणों के कारण वह गौणी लक्षणा है। दूसरा उदा. आपका गाँव पानी में बसा है। दरअसल पानी में गाँव नहीं बसता। पानी का अर्थ जलधारा का तट है। अर्थात् तट पर बसे गाँव में पानी समान शीतलता या पवित्रता है। गौणी लक्षणा के दो भेद बताए जाते हैं–

- **सारोपा गौणी लक्षणा :**

किसी पद में उपमेय और उपमान दोनों को शब्द के द्वारा निर्देश दिया जाता है और अभेद भी कहा जाता है, वहाँ सारोपा लक्षणा होती है अर्थात् जिस लक्षणा में आरोप्य भाव (विषय) और आरोप का विषय इन दोनों की शब्द द्वारा उक्ति हो जाती है, वहाँ सारोपा गौणी लक्षणा होती है। आज भुजंगों से बैठे हैं वे कंचन के घड़े दबाए। वे (पूँजीपतियों) विषयी और विषय दोनों ही शब्दों द्वारा उक्त है।

- **साध्यवसाना गौणी लक्षणा :**

जहाँ सिर्फ उपमान का कथन होता है और लक्ष्यार्थ की प्रतीति हेतु उपमेय पूरी तरह से लुप्त हो जाता है, वहाँ साध्यवसना लक्षणा होती है। इसमें आरोप का विषय लुप्त रहता है, शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं किया जाता जबकि विषयी द्वारा ही उसका कथन हो जाता है। उदा. जब शेर आया तो युद्ध क्षेत्र से गीदड़ भाग गए। यहाँ शेर का अर्थ वीर पुरुष से है और गीदड़ का अर्थ कायर लिया गया है। उपमेय को पूरी तरह से छिपा देने के कारण ही यहाँ साध्यवसना लक्षणा है।

- **शुद्धा लक्षणा :**

लक्षणा के जिस रूप से मुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ में कोई समानता व्यक्त नहीं होती बल्कि सादृश्य से भिन्न संबंध स्थापित किए जाते हैं। सादृश्य संबंध के विपरीत किसी अन्य संबंध से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। इस लक्षणा में गुण का सहारा नहीं लिया जाता बल्कि अन्य संबंध से अर्थ का सहारा लिया जाता है। इसमें सादृश्य के अतिरिक्त अन्य संबंध यानी तात्कर्म्य संबंध या आधाराधेय भाव संबंध से लक्षित अर्थ का बोध हो जाता है। उदा.

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

इसमें मुख्य अर्थ में बाधा आ जाती है क्योंकि आँचल में दूध नहीं है जबकि आँचल के सामीप्य के कारण स्तन में दूध का होना अर्थ ग्रहण किया है। दरअसल मातृत्त्व का बोध कराना लक्षणा का प्रयोजन है। समान गुणधर्म के बजाय दूसरे नजदीकी संबंध से लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो रही है, इसलिए यह शुद्धा लक्षणा है।

- **उपादान लक्षणा :**

जिस शक्ति में मुख्यार्थ बना रहता है और लक्ष्यार्थ का बोध मुख्यार्थ के साथ ही हो जाता है; वहाँ उपादान लक्षणा होती है। दूसरे शब्दों में प्रयोजन प्राप्त अर्थ की सिद्धी हेतु अन्य को ग्रहण किए जाने पर मुख्य अर्थ का बने रहना यानी उपादान लक्षणा है। इस शब्द शक्ति को अजहरस्वार्थी भी कहते हैं। इसमें मुख्य अर्थ को त्याग नहीं दिया जाता जबकि उसे ग्रहण किया जाता है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार 'वाक्यार्थ में अंग के रूप से अपने अन्वय की सिद्धी के लिए जहाँ मुख्य अर्थ अन्य अर्थ का आक्षेप करता है, वहाँ आत्मा अर्थात् मुख्यार्थ के बने रहने से, उस लक्षणा को उपादान लक्षणा कहते हैं।' उदा. लाल पगड़ी आ रही है। इस वाक्य में लाल पगड़ी भी आ रही है और लाल पगड़ी पहना हुआ सिपाही भी आ रहा है। इसमें लाल पगड़ी-मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ-सिपाही का भी बोध हो जाता है-यही उपादान लक्षणा है। इसके दो भेद हैं-1) सारोपा उपादान लक्षणा, 2) साध्यवसाना उपादान लक्षणा।

- **लक्षण लक्षणा :**

इसे स्वार्थी भी कहते हैं। जहाँ मुख्य अर्थ की बाधा हो जाने पर प्रसंगानुरूप मुख्यार्थ को त्याग दिया जाता है और लक्षित अर्थ ग्रहण किया जाता है; जिसमें मुख्यार्थ खत्म हो जाता है और लक्ष्यार्थ का बोध हो जाता है, उस शक्ति को लक्षण लक्षणा कहा जाता है। जैसे-मोहन गया है। यह लक्षण लक्षणा का उदाहरण है। इसके दो भेद है-1) सारोपा लक्षण लक्षणा, 2) साध्य लक्षण लक्षणा।

- **व्यंजना :**

वि + अंजना = दो शब्दों के योग से व्यंजना शब्द बनता है। व्यंजना का सीधा अर्थ है विशेष प्रकार का अंजन। जैसे अंजन लगाने से नेत्रों की ज्योति बढ़ जाती है और परोक्ष वस्तु दिखाई देने लगती है। व्यंजना शब्द शक्ति के द्वारा अप्रकट अर्थ प्रकट होते हैं। जहाँ अभिधा और व्यंजना शब्द शक्ति अर्थ व्यक्त करने या बतलाने में असमर्थ हो जाती है वहाँ व्यंजना शब्द शक्ति होती है। यह शब्द शक्ति काव्य में छिपे गुढ़ अर्थ को व्यक्त करती है। जहाँ अभिधा और लक्षणा शब्द शक्ति शब्द का अर्थ स्पष्ट करने में असमर्थ हो जाती है वहाँ व्यंजना शब्द शक्ति व्यंजित अर्थ का बोध कराती है उसे व्यंजना शब्द शक्ति कहा जाता है।

व्यंजना शब्द शक्ति में मुख्य अर्थ और लक्ष्य अर्थ से भिन्न अर्थ का बोध हो, ऐसे शब्दों को (व्यंजक और अर्थ को) व्यंग्यार्थ कहते हैं। कभी-कभी अभिधा या व्यंजना से अर्थ का बोध नहीं हो पाता तब अभिप्रेत अर्थ तक पहुँचाने के लिए व्यंजना शब्द शक्ति का उपयोग किया जाता है। शब्द का अर्थ विशेष रूप से खोलने या विशेष रूप से स्पष्ट करने या विकसित करने का कार्य व्यंजना शब्द शक्ति करती है। उदा.

सूर्य का अस्त हुआ। इसका मुख्य अर्थ है-सूर्य डूब गया और लक्ष्यार्थ हुआ-संध्या हो गई। किंतु व्यंग्यार्थ प्रसंग या परिस्थिति के अनुरूप कई हो सकते हैं; जैसे-संध्योपसना का समय हो गया। ग्वाले के लिए इसका अभिप्राय है-पशुओं को घर ले जाने का समय हो गया है। श्रमिकों के लिए इसका अर्थ होगा-'काम खत्म कर घर जाने का समय हो गया। चोर के लिए अब चोरी के लिए जाने की तैयारी करनी चाहिए। नवविवाहिता के लिए पति के आने का समय हो गया है। व्यंजना शब्द शक्ति के दो भेद माने गए हैं। 1) शाब्दी व्यंजना 2) आर्थी व्यंजना।

- **शाब्दी व्यंजना :**

शाब्दी व्यंजना में शब्द विशेष के कारण व्यंग्यार्थ का बोध होता है। यदि वह शब्द हटा दिया जाए तो व्यंग्यार्थ खत्म हो जाता है। इसमें शब्दों का प्राधान्य या महत्त्व होता है। कवि द्वारा प्रयुक्त शब्द के स्थान पर समानार्थक शब्द या पर्यायवाची शब्द रखा जाए तो व्यंग्यार्थ समाप्त हो जाता है। यहाँ व्यंग्यार्थ किसी शब्द विशेष पर निर्भर करता है। व्यंजक शब्द के स्थान पर दूसरा समानार्थी शब्द रखने पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो पाती।

उदा. चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।

को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के वीर।।

अगर इनमें से वृषभानुजा या हलधर के वीर इन शब्दों के कारण ही व्यंजना सौंदर्य है। ये ऐसे शब्द हैं जिसके स्थान पर समानार्थी या पर्यायवाची शब्द का प्रयोग संभव नहीं है। इन्हीं शब्दों पर ही संपूर्ण व्यंग्यार्थ आश्रित है। इस शक्ति में शब्द का ही महत्त्व होता है; इसलिए उसे शाब्दी व्यंजना कहा जाता है।

- **अभिधामूला शाब्दी व्यंजना :**

जिस शक्ति द्वारा अनेकार्थी शब्दों के संयोग से एक अर्थ निश्चित हो जाने पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है, उसे अभिधामूला शाब्दी व्यंजना कहा जाता है। ये शाब्दी व्यंजना शब्दों पर निर्भर करती है। जहाँ एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; वहाँ प्रकृतोपयोगी एकार्थ का संयोगादि द्वारा निश्चित होकर अभिप्रेत अर्थ व्यंजित हो उठता है, उसे अभिधामूला शाब्दी व्यंजना कहा जाता है। उदा. सोहत नाग न मद बिना, तान बिना नहीं राग। इस उदाहरण में नाग और राग दोनों अनेकार्थी शब्द हैं, किंतु वियोग के कारण इनका अर्थ नियंत्रित हो गया है। इसमें नाग का अर्थ हाथी और राग का अर्थ रागिनी है। नाग का पर्यायवाची भुजंग रख दिया जाए तो व्यंग्यार्थी हो जाएगा।

- **लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना :**

जिस प्रयोजन के लिए लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है और उस प्रयोजन की प्रतीति कराने वाली शब्द शक्ति को लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं। जहाँ शब्दों पर आधारित व्यंजना के लिए लक्षणा की जरूरत पड़ती है वहाँ लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना कहा जाता है। इसमें उद्देश्य पूर्ति के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है। अन्य शब्द रख देने पर व्यंजना खत्म हो जाती है। जिस शब्द शक्ति के द्वारा लक्षित

अर्थ से व्यंग्यार्थ उत्पन्न हो जाता है उसे लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं। उदा. आप तो निरै विशाखनंदन हैं। यहाँ लक्षणा है मुर्खता, मगर वैशाखनंदन शब्द व्यंग्यार्थ तक पहुँचाता है। यहाँ वैशाखनंदन शब्द की जगह पर अन्य शब्द रख दिया जाए तो व्यंजना का खत्म हो जाती है। उदा. वह मनुष्य नहीं निरा उल्लू है। यहाँ उल्लू शब्द से महामुर्ख व्यंजित है और यह शब्द गुणकृत साधर्म्य के आधार पर लाक्षणिक है।

- **आर्थी व्यंजना :**

जहाँ व्यंजना किसी शब्द विशेष पर आश्रित न होकर अर्थ पर आश्रित होती है वहाँ आर्थी व्यंजना होती है। इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि व्यंग्यार्थ या ध्वन्यार्थ किसी विशेष शब्द पर निर्भर नहीं होता बल्कि अर्थ पर निर्भर होता है। इसमें व्यंग्यार्थ संपूर्ण वाक्यार्थ पर निहित होता है। उदा. किसी धूर्त व्यक्ति द्वारा लोगों से ठगते देखकर कोई कहे कि आप बड़े महात्मा है। इस वाक्य में महात्मा से व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है। दुष्ट व्यक्ति ऐसा अर्थ निकालते हैं। यहाँ महात्मा के स्थान पर साधु, पंडित, सज्जन शब्द के इस्तेमाल पर भी व्यंजना बनी रहेगी।

1.4 सारांश

1. साहित्य और काव्य एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं।

2. भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं द्वारा साहित्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। भारतीय विद्वानों की परिभाषाओं में संस्कृत की परिभाषाएँ मौलिक हैं और हिंदी विद्वानों की परिभाषाओं पर संस्कृत और पाश्चात्य विद्वानों के मतों का प्रभाव है।

3. भारतीय विद्वानों ने काव्य हेतुओं पर विस्तार से विचार किया है, पाश्चात्य विद्वानों में मनोवैज्ञानिकों के मत महत्त्वपूर्ण हैं।

4. काव्य के प्रकारों के अंतर्गत केवल पद्य या कविता के भेदों पर विचार किया है, अर्थात काव्य का अर्थ पद्य लिया है। पद्य के महाकाव्य, खंडकाव्य और गीतिकाव्य ही महत्वपूर्ण भेद हैं।

5. रस सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र की अत्यंत महत्त्वपूर्ण देन है। काव्यानंद ही काव्यरस है।

6. शब्द में अंतर्निहित अर्थ को प्रकट करने वाले व्यापार को शब्द शक्ति कहा जाता है। शब्द का अर्थ बोध कराने वाली शक्ति को शब्दशक्ति कहा जाता है।

7. जो शब्द साक्षात् अर्थ की प्रतीति देता है उसे वाचक शब्द कहा जाता है। ये शब्द मुख्य अर्थ या सांकेतिक अर्थ का बोध कराते हैं अर्थात् जिस शब्द का अर्थ अभिधा शब्दशक्ति द्वारा जाना जाता है उसे वाचक शब्द कहते हैं।

8. जो शब्द मुख्य अर्थ से भिन्न या अन्य अर्थ को ध्वनित करता है उन्हें लक्षक शब्द कहते हैं। ज्यो शब्द लक्षणा शब्द शक्ति द्वारा लक्ष्य अर्थ को द्योतित करता है उसे लक्षक शब्द कहा जाता है।

9. जिन शब्दों से व्यंग्य अर्थ का बोध होता है उन्हें व्यंजक शब्द कहते हैं और उस अर्थ को व्यंग्यार्थ कहा जाता है। दूसरे शब्दों में जिस शब्द से व्यंजना शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ प्राप्त हो जाता है उसे व्यंजक शब्द कहते हैं।

10. जिस शब्द शक्ति के द्वारा शब्द के मुख्य/पहला/प्रसिद्ध/प्रचलित/पूर्वविदित/अभिधेय अर्थ का बोध होता है उसे अभिधा शब्द शक्ति कहते हैं। इस शक्ति से शब्द के सामान्य, प्रचलित या मुख्य अर्थ का बोध होता है।

11. जहाँ शक्ति के द्वारा शब्द का मुख्य अर्थ समझने में बाधा आ जाती है और रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर मुख्यार्थ से भिन्न या अन्य अर्थ को लक्ष्य किया जाता है वहाँ लक्षणा शब्द शक्ति होती हैं।

12. जहाँ अभिधा और लक्षणा शब्द शक्ति शब्द का अर्थ स्पष्ट करने में असमर्थ हो जाती है वहाँ व्यंजना शब्द शक्ति व्यंजित अर्थ का बोध कराती है उसे व्यंजना शब्द शक्ति कहा जाता है।

13. साधारणीकरण रसास्वादन के पूर्व की प्रक्रिया है; जिसके प्रभाव से रस की विभावादि सामग्री लौकिक रूप का त्याग कर आस्वाद्य रूप को धारण करती है।

14. साधारणीकरण का विवेचन करने वाले संस्कृत आचार्यों में भट्ट नायक, अभिनव गुप्त, कविराज विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

15. डॉ. नगेंद्र के अनुसार साधारणीकरण भाषा या काव्य भाषा का धर्म है। साधारणीकरण का मूल आधार मानव की सहानुभूति है; जो सभी के हृदय में एक जैसी उत्पन्न होती है।

16. आचार्य शुक्ल भाव और विभाव का सामंजस्य जरूरी मानाते हुए आलंबन धर्म का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं।

17. काव्य गुण मुख्य रस के धर्म होते हैं। काव्य में रस के साथ गुण का साक्षात् संबंध रहता है।

18. काव्य दोष के तीन भेद स्वीकार किए गये हैं, शब्ददोष, अर्थदोष, रसगतदोष

1.5 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

प्रश्न 1 : निम्नलिखित वाक्यों में दिए गए पर्यायों में से उचित पर्याय चुनकर वाक्य फिर से लिखिए।

1. संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रंथ .... माना जाता है?

   (क) नाट्यशास्त्र (ख) काव्यप्रकाश (ग) काव्यशास्त्र (घ) काव्यादर्श।

2. ''शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'' .... का काव्यलक्षण है?

   (क) भामह (ख) दण्डी (ग) भरतमुनि (घ) वामन।

3. 'साहित्यदर्पण' के रचनाकार .... हैं?

   (क) आ. विश्वनाथ (ख) आ. भामह (ग) भरतमुनि (घ) आ. मम्मट।

4. आ. भामह ने .... को प्रमुख काव्य हेतु माना है?

(क) प्रतिभा (ख) व्युत्पत्ति (ग) अभ्यास (घ) शास्त्रज्ञान।

5. जीवनेच्छा को काव्य हेतु स्वीकार किया है?

(क) युंग (ख) एडलर (ग) फ्रायड (घ) अरस्तू।

6. 'कांतासम्मित उपदेश' काव्य प्रयोजन दिया है?

(क) मम्मट (ख) भामह (ग) दण्डी (घ) रूद्रट।

7. महाकाव्य और खंडकाव्य .... के भेद हैं?

(क) प्रबंधकाव्य (ख) निबंधकाव्य (ग) मुक्तक (घ) गीतिकाव्य।

8. गेयता .... की विशेषता है?

(क) प्रगीतकाव्य (ख) खंडकाव्य (ग) महाकाव्य (घ) गद्यकाव्य।

9. रससूत्र के जनक .... हैं?

(क) भरतमुनि (ख) विश्वनाथ (ग) नगेंद्र (घ) रुद्रट।

10. .... ने उत्पत्तिवाद का सिद्धांत प्रस्तुत किया?

(क) भट्टलोल्लट (ख) शंकुक (ग) भट्टनायक (घ) गुप्त।

11. 'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यं' यह .... का काव्य लक्षण है।

(क) भरत (ख) पं. जगन्नाथ (ग) हेमचंद्र (घ) भामह।

12. कविता सुस्पष्ट संगीत है .... ने कहा है।

(क) कार्लाइल (ख) ड्राइडन (ग) अरस्तू (घ) वर्डसवर्थ।

13. शेली ने काव्य हेतु .... को माना है।

(क) प्रतिभा (ख) प्रतीक (ग) प्रेम (घ) प्रमाण।

14. रस के .... भेद हैं।

(क) पाँच (ख) दो (ग) नौ (घ) ग्यारह।

15. रस के अंग .... हैं।

(क) पाँच (ख) दो (ग) चार (घ) तीन।

16. विभाव के भेद .... हैं?

(क) दो (ख) तीन (ग) चार (घ) पाँच।

17. वीर रस की देवता .... है।

(क) शंकर (ख) विष्णु (ग) महेंद्र (घ) इंद्र।

18. रौद्र रस का स्थायीभाव .... है।

(क) क्रोध (ख) भय (ग) हास्य (घ) निर्वेद।

19. लक्षणा शब्द शक्ति में .... अर्थ लगता है।

क) मुख्यार्थ ख) व्यंग्यार्थ ग) लक्ष्यार्थ घ) वाच्यार्थ

20. अभिधा शब्द शक्ति में कौन सा अर्थ नहीं लिया जाता ....

क) मुख्यार्थ ख) वाच्यार्थ ग) प्रयोजनार्थ घ) कोशगत अर्थ

21. लाल पगड़ी आ रही है-वाक्य में .... शब्द शक्ति है।

क) उपादान लक्षणा ख) लक्षण लक्षणा ग) सारोपा गौणी लक्षणा घ) रूढा लक्षणा

22. 'जिस शब्द शक्ति के द्वारा शब्द के मुख्यार्थ का बोध होता है उसे .... शब्द शक्ति कहते हैं।'

क) अभिधा ख) व्यंजना ग) लक्षणा घ) रूढा लक्षणा

23. 'साधारणीकरण' शब्द का सबसे पहले प्रयोग .... ने किया।

अ) भट्टनायक ब) अभिनव गुप्त क) विश्वनाथ ड) पंडितराज जगन्नाथ

24. आचार्य रामचंद्र शुक्ल .... का साधरणीकरण स्वीकार करते हैं।

अ) आलंबन धर्म ब) भाषा या काव्य भाषा धर्म

क) भाव तादाम्य ड) कवि की अनुभूति

25. ....की दृष्टि में साधारणीकरण भाषा या काव्य भाषा का धर्म है।

अ) डॉ. नगेंद्र ब) आ. शुक्ल

क) डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त ड) बाबू गुलाबराय

26. रस-सूत्र के प्रख्यात व्याख्याकार .... ने भट्ट नायक के रस-सूत्र की व्याख्या में संशोधित करते हुए अपने ढंग से साधारणीकरण की विस्तृत व्याख्या की है।

अ) भरतमुनि ब) अभिनव गुप्त क) पंडितराज जगन्नाथ ड) कविराज विश्वनाथ

27. अभिनव गुप्त ने .... का साधारणीकरण स्वीकार किया है।

अ) आलंबन धर्म ब) स्थायी भाव क) भाव तादाम्य ड) कवि की अनुभूति

28. समीक्षाशास्त्र का प्राचीनतम ग्रंथ आचार्य भरतमुनि का .... है।

(क) काव्यशास्त्र (ख) नाट्यशास्त्र (ग) रस शास्त्र (घ) संस्कृति शास्त्र

29. आचार्य भामह का .... संप्रदाय है।

(क) अलंकार (ख) ध्वनि (ग) रिती (घ) औचित्य

30. काव्य मे सौंदर्यकारक तत्वों को .... कहते हैं।

(क) रस (ख) निरस (ग) ध्वनि (घ) अलंकार

31. कविता की आत्मा ..... होती है।

(अ) रस (ब) शब्द (क) अर्थ (ड) अलंकार

32. अधिकतर विद्वान काव्य में प्रमुख ..... गुण मानते हैं।

(अ) पाँच (ब) तीन (क) दो (ड) एक

33. ओज गुण मन में........ उत्पन्न करता है।

(अ) तेज (ब) निराशा (क) आनंद (ड) क्रोप

34. जहाँ अर्थ ग्रहण में बाधा होती है वहाँ .... दोष होता है।

(अ) पद (ब) अर्थ (क) शब्द (ड) श्रृति

1.6 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

1. अतिव्याप्ति = किसी लक्षण या कथन के अंतर्गत लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य वस्तु के आ जाने को न्याय में अतिव्याप्ति दोष कहते हैं।
2. व्याख्या सापेक्ष = जिस शब्द की परिभाषा देना अनिवार्य लगे।
3. विलाप = दु:ख, शोक।
4. यत्न = प्रयत्न।
5. प्रतिभासित = प्रकाशमय, भ्रमयुक्त।
6. नि:सृत = निकला हुआ।
7. सन्निहित = समाविष्ट।
8. कांतार = भयानक वन।
9. अन्विति = परस्पर संबंध।
10. रंजित = अनुरक्त, प्रसन्न।
11. उच्छलन = उपर उठने की क्रिया।
12. अनुमापक-अनुमाप्य = गम्य-गमक।

13. रज्जु = डोर।

14. उदिप्त = तीव्र।

15. तिरोभाव = अंतर्धान, गोपन।

16. चिन्मय = ज्ञानमय, परमात्मा।

17. ज्ञाप्य = वह पत्र जिसपर स्मृति के निमित्त कोई बात लिखी हो।

18. अभिधा-नाम, संज्ञा, स्पष्ट उक्ति, निर्देश, वाच्यार्थ प्रकट करने वाली शब्दशक्ति।

19. लक्षणा-सामन्य अर्थ से भिन्न अर्थ देने वाली शक्ति, उद्देश्य, लक्ष्य।

20. व्यंजना-भाव प्रकट करने की एक शब्द शक्ति।

21. वाचक-बोलनेवाला, बोध कराने वाला, सुनाने वाला, कहना, बताना, प्रतिपादन।

22. लक्ष्यार्थ-लक्षितार्थ।

23. व्यंजक-व्यक्त करने वाला, व्यंजना द्‌वारा अर्थ प्रकट करने वाला शब्द, आंतरिक भाव प्रकट करने वाली चेष्टा या हाव भाव, आंतरिक भाव प्रदर्शन।

24. साधारणीकरण-साधारण रूप में लाना, रस की निष्पत्ति की तादात्म्य परक स्थिति।

25. रसानुभूति-रस की अनुभूति।

26. सहृदय-कोमलचित्त, दयालु, सच्चा, समझदार, रसिक।

27. तादात्म्य-तल्लीनता, एक हो जाना।

28. आस्वाद्‌य-जिसका स्वाद लिया जा सके।

29. उपभोक्ता-उपभोग करनेवाला।

30. आलंबन-सहारा, नींव, भाव का आधार।

31. तरू - वृक्ष

32. संध्या - शाम

33. चिरजीवि - अमर

34. जोरी - जोडी

35. वृषभ - बैल

36. नूपुर - पायल

37. चारू - सुंदर

38. तरू - वृक्ष, पेड

39. बिमल - स्वच्छ, पवित्र

40. उपवन – बगिचा

41. अरूण – लाल रंग

1.7 स्वयं–अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1 :

1. नाट्यशास्त्र	2. भामह	3. आ. विश्वनाथ।
4. प्रतिभा	5. युंग	6. मम्मट।
7. प्रबंधकाव्य	8. प्रगीतकाव्य	9. भरतमुनि।
10. भट्टलोल्लट	11. पं. जगन्नाथ	12. ड्राइडन।
13. प्रतिभा	14. ग्यारह	15. चार।
16. दो	17. महेंद्र	18. क्रोध।
19. लक्ष्यार्थ	20. प्रयोजनार्थ	21. उपादान लक्षणा
22. अभिधा	23. भट्टनायक,	24. आलंबन धर्म,
25. डॉ. नगेंद्र,	26. अभिनव गुप्त,	27. स्थायी भाव।
28. (ख) नाट्यशास्त्र	29. (क) अलंकार	30. (घ) अलंकार
31. (अ) रस	32. (ब) तीन	33. (अ) तेज
34. (ब) अर्थ		

1.8 स्वाध्याय

प्रश्न 1 : दीर्घोत्तरी प्रश्न।

1. भारतीय विद्वानों की काव्य की परिभाषाओं पर प्रकाश डालिए।
2. पाश्चात्त्य विद्वानों के काव्य–लक्षण विशद कीजिए।
3. काव्य की प्रेरणाओं को विशद कीजिए।
4. काव्य के प्रयोजनों पर प्रकाश डालिए।
5. भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत काव्य प्रयोजन समझाइए।
6. पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत काव्य का उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।
7. काव्य के प्रकार विशद कीजिए।

8. रस निष्पत्ति पर प्रकाश डालिए।
9. रस के अंगों को विशद कीजिए।
10. रस के भेद स्पष्ट कीजिए।
11. शब्द शक्ति का परिचय दीजिए।
12. शब्द शक्ति के भेद सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
13. लक्षणा शब्द शक्ति के भेद सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
14. व्यंजना शब्द शक्ति के भेद स्पष्ट कीजिए।
15. साधारणीकरण पर विभिन्न विद्वानों के विचार प्रस्तुत कीजिए।
16. साधारणीकरण का विवेचन कीजिए।
17. भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा को संक्षिप्त में स्पष्ट कीजिए।
18. भारतीय काव्यशास्त्र के विकासक्रम को लिखिए।

प्रश्न 2 : लघुत्तरी प्रश्न।

1. काव्य का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. महाकाव्य का स्वरूप समझाइए।
3. खण्डकाव्य का परिचय दीजिए।
4. प्रगीतकाव्य का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
5. काव्य हेतु के बारे में मनोवैज्ञानिकों की धारणा विशद कीजिए।

प्रश्न 3 - निम्नलिखित विषयों पर टिप्पणियाँ लिखिए।

1. काव्य गुण की विवेचना ।
2. माधुर्य गुण ।
3. ओज गुण।
4. प्रसाद गुण।
5. काव्य दोष की विवेचना।
6. पदगत दोष।
7. अर्थगत दोष।
8. रसगत दोष।

1.9 क्षेत्रीय कार्य

1. मराठी के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत काव्य-परिभाषा की तुलना हिंदी विद्वानों की परिभाषाओं से कीजिए और अपनी नई परिभाषा बनाइए।
2. अपने पास-पडोस के साहित्यकारों से मिलकर काव्य-प्रेरणा तथा काव्य-प्रयोजन के बारे में उनके विचार प्राप्त कीजिए।
3. विविध काव्य-प्रकारों को पढ़कर उनका काव्य भेदों के अनुसार वर्गीकरण कीजिए।
4. विविध गीतों को सुनकर लक्षणों को आत्मसात कीजिए।
5. विविध साहित्य कृतियों को पढ़कर उसमें निहित रसों को समझने की कोशिश कीजिए।
6. अभिधा शब्दों का संग्रह कीजिए।
7. लक्षणा शब्दों का संग्रह कीजिए।
8. व्यंजक शब्दों का संग्रह कीजिए।
9. साधारणीकरण की अवधारणा पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।
10. किसी एक नाटक में चित्रित पात्रों के सहृदय भावों का विवेचन कीजिए।
11. विविध कविताओं में माधुर्य, ओज, प्रसाद गुण ढूँढकर लिखिए।।
12. विविध कविताओं में पद्गत, अर्थगत, रसगत दोष लिखिए।।

1.10 अतिरिक्त अध्ययन के लिए।

1. काव्यशास्त्र - डॉ. भगीरथ मिश्र, प्रकाशक-विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
2. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत (भाग 1, 2) - गोविंद त्रिगुणायत, प्रकाशक-एस.चंद्र अॅण्ड कंपनी लि; नई दिल्ली
3. साहित्य-विवेचन - क्षेमचंद्र 'सुमन', योगेंद्रकुमार मल्लिक, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली
4. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र - डॉ. यतींद्र तिवारी, प्रकाशक-साहित्य निलम, कानपूर।
5. भारतीय साहित्यशास्त्र - बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक-कैलाशनाथ भार्गव, नंदकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी
6. रस-सिद्धांत - डॉ. नगेंद्र, प्रकाशक-नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली
7. काव्यशास्त्र भारतीय एवं पाश्चात्य-डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी
8. काव्यशास्त्र-डॉ. यतींद्र तिवारी

9. साहित्यशास्त्र-डॉ. संजय नवले
10. काव्यशास्त्र : विविध आयाम-डॉ. मधु खराटे
11. रस सिद्धांत-डॉ. नगेंद्र
12. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य - सिद्धांत-डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त
13. काव्यशास्त्र : भारतीय एवं पाश्चात्य-डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी
14. साहित्य रूप : शास्त्रीय विश्लेषण-ज्ञानराज गायकवाड
15. भारतीय काव्यशास्त्र-डॉ. सत्यदेव चौधरी
16. भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र - देवीशरण रस्तोगी
17. काव्यशास्त्र डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी, डॉ. अमित अवस्थी
18. काव्यशास्त्र डॉ. बालेन्दु तिवारी, डॉ. सुरेश माहेश्वरी
19. साहित्यशास्त्र - डॉ. भरत सगरे
20. हिंदी भाषा और साहित्यशास्त्र डॉ. माधव सोनटक्के

❑❑❑

सत्र 3 : इकाई 2
रस सिद्धांत – अलंकार सिद्धांत – रीति सिद्धांत

अनुक्रम

2.1 उद्देश्य

2.2 प्रस्तावना

2.3 विषय–विवेचन

2.3.1 रस सिद्धांत

2.3.1.1 रस का स्वरूप

2.3.1.2 रस के अंग

2.3.1.3 रस निष्पति और उसके सिद्धांत

2.3.1.4 रस के भेद

2.3.1.5 साधारणीकरण की अवधारणा

2.3.2 अलंकार सिद्धांत

2.3.2.1 अलंकार की परिभाषा एवं स्वरूप

2.3.2.2 अलंकार की अवधारणा

2.3.2.3 अलंकार के भेद

2.3.2.4 निष्कर्ष

2.3.3 रीति सिद्धांत

2.3.3.1 रीति का अर्थ एवं परिभाषा

2.3.3.2 रीति की अवधारणा

2.3.3.3 रीति के भेद

2.3.3.4 रीति एवं शैली

2.3.3.5 निष्कर्ष

2.4 सारांश

2.5 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

2.6 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

2.7 स्वयं-अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

2.8 स्वाध्याय

2.9 क्षेत्रीय कार्य

2.10 अतिरिक्त अध्ययन के लिए।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप -

1. रस, अलंकार, रीति सिद्धांत की अवधारणा से परिचित होंगे।
2. रस, अलंकार, रीति सिद्धांत की परिभाषा तथा स्वरूप से ज्ञात होंगे।
3. अलंकारों के वर्गीकरण से परिचित होंगे।
4. रीति के भेद से परिचित होंगे।

2.2 प्रस्तावना

रस सिद्धांत पर विचार करते हुए यह स्पष्ट होता है कि रस शब्द बहुत व्यापक है। इसको ब्रह्मास्वाद सहोदर माना जाता है। रस को साहित्य का प्राण तत्त्व निश्चित किया गया है। रसास्वाद प्राप्त करने के लिए ही पाठक साहित्य का पठन करता है। रस सिद्धांत को भारतीय काव्यशास्त्र में सबसे महत्त्वपूर्ण रूप में माना जाता है।

संस्कृत एवं हिंदी के कतिपय आचार्योंने रस को ही काव्य की आत्मा माना है। रस के चार अंग आ. भरतमुनि मानते हैं। भारतीय कामशास्त्र में रस निष्पत्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान है। रस निष्पत्ति को लेकर परवर्ती आचार्यों ने गहन अध्ययन किया है। साधारणीकरण रस सिद्धांत की एक ऐसी प्रक्रिया है जो रसास्वादन के लिए सहायक सिद्ध हुई है।

अलंकार सिद्धांत का भारतीय साहित्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ विद्वान अलंकार को ही काव्य का प्राणभूत तत्व मानते हैं। आ. भामह ने अलंकार को 'सौदर्य' का पर्यायवाची माना है, जिन्हें अलंकार संप्रदाय के प्रधान प्रवर्तक माना जाता है।

रीति सिद्धांत के प्रवर्तक आ. वामन ने रीति की विस्तृत व्याख्या की है। आ. वामन रीति को गुणों के आश्रित मानते हैं। आ. वामन ने रीतियों की संख्या तीन मानी है। किंतु रीतियों की संख्या के संबंध में आचार्यों में मतभेद है।

2.3 विषय–विवेचन

अब हम क्रमशः रस, अलंकार, रीति सिद्धांत पर विचार करेंगे।

2.3.1 रस सिद्धांत

2.3.1.1 रस का स्वरूप

आ. भरत रस–सिद्धांत के आदि और सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। रस सिद्धांत के अनुसार रस ही काव्य का एकमात्र मुख्य तत्व है। भरत ने रस को 'नाट्य रस' की संज्ञा दी है। लेकिन रस संपूर्ण साहित्य का प्राण है। रस रहित काव्य काव्य नहीं होता। आचार्य भरत के अनुसार तो रस के बिना किसी काव्य में अर्थ की प्रवृत्ति भी नहीं होती–

''नहिं रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।''

रस की प्रतिष्ठा केवल रसवादियों में ही नहीं रही है, अलंकारवादियों, वक्रोक्तिवादियों तथा रीतिवादियों ने भी प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

'रस' शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ –

संस्कृत में 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति 'रसस्यतेऽसौ इति रसः' इस प्रकार दी गई है। अर्थात जिससे आस्वाद मिले वही रस है। रस भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में से है। सामान्य व्यवहार में इसका चार अर्थों में प्रयोग होता है– (1) पदार्थों का रस (2) आयुर्वेद का रस (3) साहित्य का रस और (4) मोक्ष या भक्ति रस।

हमारी दृष्टि से यहाँ 'साहित्य का रस' महत्वपूर्ण है। साहित्य जनित रसानंद उपनिषदों के ब्रह्मरूप रसानंद के समकक्ष माना गया है। रस रहित कोई भी शब्दार्थ साहित्य का विधान नहीं कर सकता, इसीलिए रस साहित्य का प्राण निश्चित किया गया है।

भरतमुनि का रस सूत्र –

रस सम्प्रदाय का मूलभूत सूत्र है–

''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।''

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा है विचार करने में यह उतना ही सारगर्भित है। भरत ने इस सूत्र पर जो भाष्य लिखा है वह बड़ा ही सरल और सुबोध है। किसी रमणीय काव्य के पढ़ने से तथा रमणीय नाट्य के देखने से चित्त में जो अलौकिक आनंद उन्मीलित होता है वही रस है।

रस के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए आ. विश्वनाथ ने लिखा है–

''विभाग, अनुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से व्यक्त होकर, सहृदय के हृदय में स्थित 'रति' आदि स्थायी भाव ही 'रसत्त्व' प्राप्त कर लेते हैं। 'सत्त्व' के उद्रेक के कारण यह रस अखंड, अद्‌वितीय स्वयं प्रकाश स्वरूप, आनंदमय एवं चिन्मय होता है। इस रस के साक्षात्कार के समय दूसरे ज्ञातव्य विषयों का स्पर्श तक नहीं होता और इसीलिए यह बह्मानंद सहोदर होता है। इस रस का प्राण एक ऐसा अलौकिक चमत्कार होता है, जिसकी उपलब्धि कुछ (सहृदय) व्यक्तियों को ही हो सकती है। इस रस के आस्वादन के समय रस भोक्ता का इससे पृथक् व्यक्तित्व नहीं रह पाता।

भट्‌टनायक ने तो रस को ब्रह्मास्वाद से भी श्रेष्ठ सिद्‌ध किया है। स्पष्ट है भारतीय आचार्य रस को काव्य का प्राण मानते हैं और वही काव्य को रोचक बनाता है।

2.3.1.2 रस के अंग

रस के अंगों को ही उपकरण, अवयव तथा सामग्री कहा जाता है। भरतमुनि का रस के प्रसंग में दिया गया लक्षण (रससूत्र) ही भाव-विवेचन का प्रमुख आधार है। भरतमुनि के अनुसार जब स्थायी भाव का विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के साथ संयोग होता है तब रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र से रस के चार अवयव निश्चित होते हैं-

(1) विभाव (2) अनुभाव (3) स्थायीभाव (4) व्यभिचारी भाव या संचारी भाव.

1. **विभाव :**

मानव अपने हृदय में स्थित काम, क्रोध, भय आदि भावों का अनुभव विशेष कारण से करता है जो कारण इन भावों को जागृत करते हैं वे 'विभाव' कहलाते हैं। विभाव के दो भेद किए जाते हैं- आलंबन और उद्‌दीपन।

1. **आलंबन विभाव :** जिनका अवलंब (सहारा) लेकर हृदय में स्थित भावों की जागृति होती है उन्हें 'आलंबन विभाव' कहते हैं। उदा. किसी भयानक शेर को देखकर हृदय में स्थित भाव भय की जागृति होती है। अत: यहाँ भयानक शेर आलंबन है जिसे देखकर राकेश को भय की प्रतीति होती है। जिस व्यक्ति के हृदय में भाव की जागृति होती है वह आश्रयी कहलाता है, अत: राकेश आश्रयी है।

2. **उद्‌दीपन विभाव :** वे उपकरण, वस्तुएँ अथवा वातावरण जिनसे उत्पन्न भाव को और भी अधिक उत्कर्ष मिले वे उद्‌दीपन विभाव के अंतर्गत आते हैं। उदा. भयानक शेर को देखकर हृदय में उत्पन्न भाव उस समय और भी अधिक उदिप्त हो जाता है, जब वह अपने को सुनसान भयानक जंगल में देखता है। यहाँ सुनसान भयानक जंगल उद्‌दीपन के अंतर्गत आयेंगे।

2. **अनुभाव :**

'अनु' का अर्थ है 'पीछे' अर्थात स्थायी भाव के पश्चात् प्रकट होनेवाले मनोविकार और आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं। अनुभाव स्थायी भावों और विभावों के पश्चात प्रकट होते हैं और आश्रय में

प्रकट होते हैं। अत: अनुभाव पूर्णत: आश्रयगत होते हैं। आचार्यों ने अनुभाव के दोन भेद बताए हैं– सात्त्विक या अयत्नज् और कायिक या यत्नज।

(अ) सात्त्विक : 'स्वत्व' का अर्थ है अंत:करण। अंत:करण में उद्बुद्ध स्थायी भाव के विकार जब प्रत्यक्ष होते हैं, तब उन्हें 'सात्त्विक अनुभाव' कहा जाता है। इनके प्रकटन के लिए यत्न की जरूरत नहीं होती, इसलिए इन्हें 'अयत्नज' भी कहा जाता है। विद्वानों ने इसके आठ भेद किए हैं–

*1. **स्तंभ :*** प्रेम, शोक, भय, क्रोध आदि के कारण शरीर की गति का रूक जाना 'स्तंभ' कहलाता है।

*2. **स्वेद :*** प्रेम, भय, लज्जा आदि के कारण शरीर पर पसीना आ जाना 'स्वेद' कहलाता है।

*3. **रोमांच :*** प्रेम, हर्ष, भय आदि के कारण शरीर पर रोंगटों का खड़ा हो जाना 'रोमांच' कहलाता है।

*4. **स्वरभंग :*** प्रेम, शोक, भय आदि के कारण मुख से वाणी का स्वाभाविक गति से न निकलना 'स्वरभंग' होता है।

*5. **कम्प :*** प्रेमाधिक्य, क्रोध व भय के कारण शरीर काँपने लगना कम्प कहलाता है।

*6. **वैवर्ण्य :*** भय, शोक, शंका आदि के कारण मुखमंडल का कांतिहीन हो जाना 'वैवर्ण्य' कहलाता है।

*7. **अश्रु :*** हर्षातिरेक या शोक के कारण आँखों में पानी आ जाना ही 'अश्रु' है।

*8. **प्रलय :*** विरह, दु:ख, शोक, भय, क्रोध के कारण इंद्रियों का चेतना शून्य हो जाना 'प्रलय' कहलाता है।

(ब) कायिक अनुभाव : कायिक अनुभाव अनंत होते हैं। इसका संबंध आश्रय की कायिक चेष्टाओं से होता है। इनको करने के लिए आश्रय को यत्न करना पड़ता है। उदा. क्रोध में थप्पड मारना, पत्थर फेंकना, गोली चलाना, दाँत पीसना आदि सयत्न होते हैं। व्यक्ति, स्थान और समय के अनुसार ये अनेक प्रकार से व्यक्त होते हैं।

3. **स्थायीभाव :**

स्थायीभाव सहृदय सामाजिक के हृदय में वासना रूपमें (जन्मजात) स्थित वे अनुभूतियाँ हैं, जो स्थायी रूप से विद्यमान रहती हैं। मानव हृदय के ये मूल भाव हैं, और इनसे कोई भी सहृदय मानव अछूता नहीं रहता।

ये स्थायी भाव स्थायी रूप में चित्त में स्थिर रहते हैं। इनको कोई भी विरोधी भाव छुपा नहीं सकता। इसी कारण इन्हें आचार्यों ने 'स्थायी भाव' कहा है। इनकी संख्या कहीं नौ तो कहीं दस मानी गई हैं। अब यह संख्या ग्यारह तक पहुँच गई है। स्थायी भाव निम्न हैं–

(1) रति (2) हास (3) शोक (4) उत्साह (5) क्रोध (6) भय (7) जुगुप्सा (8) विस्मय (9) निर्वेद (10) वत्सल (11) भगवत् प्रेम.

4. व्यभिचारी भाव या संचारी भाव :

संचारी भाव ये मनोवेग या शारीरिक प्रतिक्रियाएँ हैं, जो स्थायी भावों की पुष्टि के लिए संचरणशील होते हैं। एकही संचारी भाव अनेक रसों की पुष्टि के लिए प्रकट हो जाता है; अत: एक भाव के साथ इनका नियत संबंध न रहने के कारण भरत ने इन्हें 'व्यभिचारी भाव' कहा है। इनकी संचरणशील प्रवृत्ति के कारण इन्हें संचारी तथा अस्थिर भाव भी कहते हैं। रसवादी आचार्यों ने इनकी तीन विशेषताएँ बताई हैं–

1. ये स्थायी भाव के उपकारक धर्म हैं।

2. स्थायी भावों के साथ इनका संबंध सागर एवं तरंगों के समान होता है।

3. क्षणिकता ही इनका लक्षण है।

आचार्यों ने संचारी भावों की संख्या प्रमुख रूप से ३३ मानी है–

(1) निर्वेद (2) आवेग (3) दैन्य (4) श्रम (5) मद (6) जडता (7) उग्रता (8) मोह (9) विबोध (10) स्वप्न (11) अपस्मार (12) गर्व (13) मरण (14) आलस्य (15) अमर्ष (16) निद्रा (17) अवहित्थ (18) औत्सुक्य (19) उन्माद (20) शंका (21) स्मृति (22) मति (23) व्याधि (24) त्रास (25) व्रीडा (26) हर्ष (27) असूया (28) विषाद (29) धृति (30) चपलता (31) ग्लानि (32) चिंता और (33) वितर्क।

2.3.1.3 रस निष्पत्ति और उसके सिद्धांत

रस निष्पत्ति भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय है। वास्तव में रस का विवेचन रस की निष्पत्ति से ही आरंभ होता है, क्योंकि भरत ने मूलत: रस के स्वरूप का नहीं रस की निष्पत्ति का ही व्याख्यान किया है–

''विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रस रस निष्पत्ति:''

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है।

इस सूत्र में 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्दों का अर्थ अस्पष्ट है और इन्हीं को लेकर परवर्ती आचार्यों में गहन शास्त्रार्थ हुआ है, जिनमें भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त प्रमुख हैं। इनके रस निष्पत्ति विषयक सिद्धांत क्रमश: उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन चारों वादों में भरतसूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' को आधार बनाकर अलग-अलग व्याख्याएँ की गयी हैं। हम इन वादों को संक्षेप में देखेंगे–

1. भट्टलोलट (उत्पत्तिवाद):

इसे ही 'आरोपवाद' भी कहा जाता है। भट्टलोल्लट ने भरत के रस-सूत्र की व्याख्या अपने ढंग से की। उनके अनुसार संयोगात् का अर्थ त्रिमुखी है– विभावादि और स्थायीभाव में उत्पादक और उत्पाद्य संबंध, तथा अनुभवादि और स्थायी भाव में अनुमापक अनुमाप्य संबंध तथा व्यभिचारी भाव और स्थायी

भाव में पोषक-पोष्य संबंध है। अर्थात विभावादि से उत्पन्न हुए, अनुभावादि से प्रतीति के योग्य लिए गए तथा व्यभिचारियों से पुष्ट किया जाने पर स्थायी भाव की रस रूप में निष्पत्ति होती है।

भट्टलोल्लट ने निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति लिया है। उनका मत है कि जिस प्रकार रज्जू में सर्प की प्रतीति भ्रम जन्य होने पर भी सत्य-सी प्रतीत होती है, उसी प्रकार अभिनयादि में दर्शक, नट में रामादि का आरोप कर बैठता है। नट में विभावादि के संयोग से रस की उत्पत्ति होने के कारण इसे उत्पत्तिवाद भी कहते हैं।

समीक्षा–

1. उत्पत्ति में कार्य-कारण संबंध रहता है। यह संबंध प्रत्यक्ष वस्तुओं में ही संभव है। किंतु अभिनय के समय विभावादि, जो कारण रूप हैं, प्रत्यक्ष नहीं होते। कारण के प्रत्यक्ष न होने पर कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

2. विभावादि और स्थायीभाव के उत्पादक उत्पाद्य संबंध मान लेने पर उत्पादक सामग्री की न्यूनता या प्रचुरता पर उत्पाद्य सामग्री की न्यूनता या प्रचुरता निर्भर रहेगी किंतु रस अखंड वस्तु है। उसे हम न तो न्यून कह सकते हैं और न प्रचुर।

3. यदि भाव की उद्दीप्तावस्था की रस दशा मानें तो फिर शोकादि की उद्दीप्तावस्था करूणाजनक होगी, रस रूप नहीं।

4. उत्पादक-उत्पाद्य संबंध मानने पर करूण रस के प्रसंग में शोक स्थायी से आनंद रूप करूण रस की उत्पत्ति कैसे स्वीकार करेंगें, क्योंकि कार्य तो कारण के अनुकूल ही होता है।

2. शंकुक (अनुमितिवाद) :

इसे ही 'अनुमानवाद' भी कहा जाता है। शंकुक रस को अनुमान का विषय मानते हैं। रंगमंच के ऊपर अभिनय की कला में चतुर तथा काव्य-नाटक में व्युत्पत्ति रखनेवाला अभिनेता नाटक के मूल पात्रों का अभिनय इतनी स्वाभाविकता तथा रोचकता से करता है कि दर्शक आनंद में विभोर हो जाते हैं और वे उस नट को ही राम से अभिन्न समझने लगते हैं। यह अभिन्नता 'चित्रतुरंगन्याय' की तरह होती है। अर्थात् जिस तरह बच्चा चित्र में दिखाई देनेवाले घोडे को ही सच्चा घोडा समझने लगता है, उसी प्रकार किसी पात्र का अभिनय करनेवाले नट को ही दर्शक मूल पात्र समझता है। दर्शक यह अनुमान के आधार पर करता है।

समीक्षा–

1. विभावादि जो प्रत्यक्ष नहीं होते, उनसे रस की निष्पत्ति कैसे सिद्ध की जाय?

2. बहुत-से नायक-नायिका के प्रति हमारी भावना सदैव पवित्र रहती है, अत: उनकी रति भावना में कैसे अपनत्त्व का अनुभव करे?

3. चित्र-तुरंग न्याय हास्यास्पद है, क्योंकि दर्शक बच्चा नहीं होता।

4. करूण, जिसका स्थायीभाव शोक है रस कैसे हो सकता है?

3. भट्टनायक (भुक्तिवाद या भोगवाद) :

भट्टनायक ने लोल्लट और शंकुक के मतों का विरोध करके भुक्तिवाद का प्रवर्तन किया। इन्होंने 'संयोगाद्' शब्द का अर्थ भोज्य-भोजक संबंध लिया है। उनके मत में रस भोज्य है और विभावादि भोजक हैं। निष्पत्ति का अर्थ वे भुक्ति लेते हैं। इन्होंने दर्शक के महत्व को भली भाँति अपनाया है। इनकी दृष्टि से काव्य में व्यापार ही मुख्य होता है। इस व्यापार के तीन रूप हैं- (1) अभिधा (2) भावकत्त्व (3) भोजकत्त्व। अभिधा के द्वारा शब्द अर्थ की प्रतीति करता है। भावकत्त्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के बल पर नाट्य में अभिनीत पात्र अपने ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत निर्देश को छोड़कर सामान्य व्यक्ति के रूप में ही ग्रहण किया जाता है। अभिज्ञान-शाकुंतल नाटक का नामक दुष्यंत हस्तिनापुर का चंद्रवंशी राजा न होकर सामान्य रूप से एक शौर्य-मण्डित नेता के रूप में ही स्वीकार किया जाता है। भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक रस का भोग करता है तथा इस अवसर पर उसके हृदय में राजस तथा तामस भावों को सर्वथा दबाकर सात्विक भाव का ऐकांतिक उदय होता है। सात्विक भाव के उदय होने पर ही रसभुक्ति की दशा उत्पन्न होती है।

समीक्षा-

1. नई शब्द शक्तियों की कल्पना अपने में स्वयं एक समस्या बन गई है। इस कल्पना का कोई आधार नहीं है।

2. रस आंनद रूप होता है और भोग सुख रूप, अत: रस के भोग की बात अच्छी नहीं लगती।

3. भावकत्त्व और भोजकत्त्व की कल्पना का कोई आधार नहीं है। स्वेच्छया शब्दव्यापार की कल्पना अनुचित लगती है।

4. अभिनव गुप्त (अभिव्यंजनावाद) :

अभिनवगुप्त रस के विषय में अभिव्यंजनावादी हैं। इनके मत से भरत सूत्र 'विभावानुभाव' में संयोग का अर्थ है व्यंग्यव्यंजकभाव तथा रसनिष्पत्ति का अर्थ है रस की अभिव्यक्ति या रस की व्यंजना। इनके अनुसार प्रत्येक श्रोता या वक्ता में स्थायीभाव- प्रेम, शोक, क्रोधादि वासनारूप में विद्यमान रहता है। यह वासना पूर्वजन्म के संस्कारों से उत्पन्न होती है या इसी जन्म के काव्यादि के सेवन से प्रादुर्भूत होती है। परंतु संस्कार रूप से यह रहती है अवश्य प्रत्येक द्रष्टा या श्रोता के हृदय में। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के द्वारा इस स्थायीभाव की अभिव्यंजना होती है। ये भाव सामान्य रूप में ही गृहीत होते हैं। ललित वस्तुओं के गुणग्रहण के अवसर पर प्रत्येक पदार्थ साधारण रूप से ही तथा संबंध-रहित होकर ही स्वीकृत किया जाता है। किसी वाटिका में लगे हुए गुलाब के फूल को देखिए। उसकी शोभा देखते हुए जब आपका चित्त प्रसन्न होता है तब आपकी उसके प्रति कौनसी भावना होती है? उसे यदि आप अपना समझते तो उसे तोडने के लिए आगे बढते। शत्रु का समझते तो उससे द्वेष उत्पन्न होता। यदि किसी तटस्थ व्यक्ति का समझते तो

उससे विरक्ति उत्पन्न होती। फलत: यह गुलाब का सुंदर फूल न तो आपका है, न तो आपके शत्रू का है, और न किसी उदासीन व्यक्ति का है। इस विषय में संबंध के ग्रहण तथा परित्याग की कोई बात ही नहीं उठती। गुलाब एक सुंदर फूल है। वह सुंदर वस्तु का प्रतिनिधि है। ललित कला के विषय में साधारणीकरण का यही भाव सर्वत्र जागरूक रहता है। अभिनवगुप्त ने इस सामान्य नियम का प्रयोग रस की मीमांसा के अवसर पर किया है। रस के उद्बोधक जितने भाव हैं, वे सामान्य रूप में ही गृहीत होते हैं और तभी रस की अभिव्यक्ति संभव है। रस की अभिव्यक्ति के समय भी अनुभवकर्ता अपने आपको भी सामान्य रूप में ही ग्रहण करता है। अनुभव के समय वह समझता है कि जितने सहृदय हैं उनके हृदय में उस रस की अनुभूति समान रूप से होती है।

रस आनंद रूप है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। जो वस्तु संसार में भय या शोक भी उत्पन्न करती है या क्रोध का कारण बनती है वही वस्तु काव्य में वर्णित होते ही अलौकिक रूप धारण कर लेती है।

रस-निष्पत्तिसंबंधी इस विवेचन के आधार पर आ. नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में हम कह सकते हैं-

''ये चारों मत क्रमश: काव्य की प्रेषणीयता और काव्य रस के आस्वादन की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं और उनमें से प्रत्येक मत समस्या के एक-एक पहलू को लेकर आगे बढ़ता है। कवि-कल्पित नायक से लेकर-अभिनेता के नाट्य प्रदर्शन, सहृदय के भाव और काव्य की ध्वन्यात्मकता के पक्षों की व्याख्या करनेवाले ये मत हमारी दृष्टि में काव्य की एक अत्यंत आवश्यक समस्या के उद्घाटन की एक क्रमबद्ध योजना के रूप में उपस्थित किए गए हैं- यह बात दूसरी है कि खंडन-मंडन के वाग्जाल में पड़ जाने से उनका मूलवर्ती आशय या प्रयोजन भूला दिया गया हो। परंपरा सुरक्षित है किंतु उसका स्वरूप विकृत हो गया है।''

2.3.1.4 रस के भेद/प्रकार

आचार्य भरत मुनि ने नाटक में आठ ही रस स्वीकार किए थें। आगे विद्वानों ने रसों की संख्या नौ स्वीकार की। वात्सल्य और भक्ति को भी अलग रस स्वीकार करने से आज इनकी संख्या ग्यारह हुई है।

(1) श्रृंगार (2) वीर (3) करूण (4) हास्य (5) रौद्र (6) भयानक (7) बीभत्स (8) अद्भुत (9) शांत (10) वात्सल्य और (11) भक्ति। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है-

1. श्रृंगार रस : श्रृंगार को 'रसराज' कहा गया है, जिसका प्रमुख कारण यह है कि इसके भीतर अधिकांश संचारी भाव तथा सभी रस भी संचारी रूप में समाविष्ट हो जाते हैं। भोजराज के विचार से यही एकमात्र रस है।

विभावानुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से परिपक्व अवस्था में पहुँचा हुआ रति स्थायी भाव श्रृंगार रस में परिणत होता है। श्रृंगार का प्रभाव तुरंत पडता है। इसमें समस्त संचारी, विभाव, अनुभाव आ सकते हैं। इसके आलंबन नायक-नायिका और उद्दीपन ऋतु सौंदर्य आदि हैं। श्रृंगार का वर्ण श्याम और देवता विष्णु माने गए हैं।

इसके दो भेद हैं- संयोग श्रृंगार और वियोग या विप्रलंभ श्रृंगार।

संयोग श्रृंगार वहाँ होता है, जहाँ नायक-नायिका की मिलन अवस्था का वर्णन किया जाता है। इसमें नायक-नायिका के परस्पर हास-विलास, आलिंगन, स्पर्श, चुंबन आदि का वर्णन रहता है।

वियोग श्रृंगार वहाँ होता है, जहाँ नायक और नायिका में परस्पर उत्कट प्रेम होने पर भी उनका मिलन नहीं हो पाता।

2. वीर रस : सहृदय सामाजिक के हृदय में स्थित उत्साह स्थायीभाव विभाव, अनुभाव-व्यभिचारी भावों के संयोग से उद्‌बुद्‌ध होकर रसावस्था में पहुँचता है तो वह 'वीर रस' कहलाता है।

यह प्रधान रसों में से एक है। इसका देवता महेंद्र माना जाता है और इसका वर्ण सोने के समान गौर है। आलंबन-शत्रु, ऐश्वर्य, साहसिक कार्य आदि; उद्‌दीपन-चेष्टा, प्रदर्शन, ललकार, अनुभाव-आँखों का लाल होना, भुजाओं का संचालन; संचारी भाव- गर्व, उग्रता, धैर्य, असूया, मति आदि। इसके चार भेद हैं- युद्‌धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर।

3. करूण रस : सम्बद्‌ध विभावानुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से सहृदय सामाजिकों के हृदय में वासना रूप से स्थित शोक स्थायीभाव परिपक्व अवस्था में पहुँचकर करूण रस में परिणत हो जाता है। संस्कृत के आचार्यों ने इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति को करूण रस का कारण माना है।

करूण रस अत्यंत प्रभावशाली होता है। इस रस में सभी को तुरंत द्रवित करने की शक्ति होती है। भोजराज ने जिस प्रकार श्रृंगार को ही एकमात्र रस के रूप में स्वीकार किया था, भवभूति उसी प्रकार 'करूण' को ही एकमात्र रस मानते थे। उन्होंने कहा भी है- ''एको रस: करूण एवं निमित्तभेदात्।'' अर्थात करूण ही एकमात्र रस है, अन्य रस तो इसके भेद हैं।

करूण रस का वर्ण कपोतवत् और देवता यम माने गए हैं। इस रस का स्थायीभाव 'शोक' है। करूण रस का आलंबनप्रिय व्यक्ति या वस्तु का अनिष्ट, हानि या विनाश है। उद्‌दीपन-दुःखपूर्ण अस्त-व्यस्त दशा का वर्णन या श्रवण है। अनुभाव-रुदन, वैवर्ण्य, विलाप, भाग्य या दैव को कोसना, शरीर का शिथिल हो जाना आदि हैं। संचारी भाव-चिंता, ग्लानि, विषाद, स्मृति, जडता, व्याधि, निर्वेद, मरण आदि हैं।

4. हास्य रस : साधारण अनोखी विचित्र वस्तु या व्यक्ति को देखकर, किसी की विचित्र वेशभूषा के कारण, विचित्र चेष्टाएँ या विचित्र बातों से हास्य रस की उत्पत्ति होती है।

हास्य रस का वर्ण श्वेत और देवता प्रथम (शंकर के गण) माने जाते हैं। इसका स्थायीभाव है- 'हास'। इसका आलंबन-विकृत रूप, आकार, वेषभूषा, विचित्र अंतर्गल वचन, विलक्षण चेष्टाएँ हैं। उद्‌दीपन-विचित्र अंग-भंगिना, क्रिया-कलाप आदि हैं। अनुभाव-आँखों और मुख का विकसित होना, खिलखिलाना आदि हैं। संचारी भाव-चपलता, हर्ष, गर्व आदि हैं।

अनुभावों के आधार पर हास्य रस के अनेक भेद किए जाते हैं, जिनमें छह प्रमुख हैं- (1) स्मित, (2) हसित (3) विहसित (4) अवहसित (5) अपहसित (6) अतिहसित आदि।

5. रौद्र रस : विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से सामाजिकों के हृदय में वासना रूप से स्थित 'क्रोध' स्थायीभाव आस्वादित होता हुआ रौद्र रस में परिणत हो जाता है। शत्रु की चेष्टा, अपमान, अपकार तथा प्रिय गुरूजनों की निंदा सुनकर रौद्र रस की निर्मिति होती है।

रौद्र रस का वर्ण लाल और देवता रूद्र माने जाते हैं। इसका स्थायीभाव है- क्रोध। आलम्बन- शत्रु. कपटी तथा दुराचारी व्यक्ति या देशद्रोही व्यक्ति होता है। उद्‌दीपन- गालियाँ, अपमान और निंदा से भरे वचन होते हैं। अनुभाव- भौंहे तानना, दाँत पीसना, ललकारना, काँपना, मुँह लाल हो जाना, हाथ चलाना, हथियार उठाना आदि हैं। संचारी भाव- गर्व, अमर्ष, चपलता, आवेश, मोह, मद आदि हैं।

6. भयानक रस : विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से जब सहृदय सामाजिकों के हृदय में वासना रूप से विद्‌यमान 'भय' स्थायीभाव, उद्‌बुद्‌ध होकर रस रूप में परिणत होता है, तब वहाँ भयानक रस होता है। किसी भयावह वस्तु या व्यक्ति को देखने पर अथवा घोर अपराध होने पर दंड की कल्पना से जब मन व्याकुल होता है, तब भयानक रस की निर्मिति होती है।

इसका वर्ण कृष्ण या श्याम और देवता कालदेव माने जाते हैं। भयानक रस का स्थायीभाव 'भय' होता है। इसके आलंबन-हिंस्त्र स्वभाव वाले जीव तथा उग्र स्वभाव और आचरण वाले व्यक्ति तथा चोर, डाकू आदि हैं। उद्‌दीपन-विकृत और उग्र ध्वनि तथा भयावह चेष्टाएँ, निर्जनता आदि हैं। अनुभाव-हाथ-पैर का काँपना, आँखों का फाड़ना, रोंगटे खड़े हो जाना, विवर्णता, कंठावरोध, चिल्लाना, भागना, गिडगिडाना आदि हैं। संचारी भाव-शंका, मोह, दैन्य, आवेग, चिंता, त्रास, चपलता, मरण, जुगुप्सा आदि हैं।

7. बीभत्स : घृणित वस्तुओं को देखकर अथवा सुनकर 'जुगुप्सा' स्थायीभाव उद्‌बुद्‌ध होता है, जो सम्बद्‌ध विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से परिपक्व अवस्था में पहुँच कर 'बीभत्स रस' में परिणत हो जाता है।

बीभत्स रस का वर्ण नीलवर्ण और देवता महाकाल माने जाते हैं। इसका स्थायीभाव जुगुप्सा या घृणा है। इसके आलंबन-घृणास्पद व्यक्ति अथवा वस्तु, स्मशान, मूलमूत्र, रूधिर, मांस, फूहडपन, सडी-गली तथा दुर्गंधिमय वस्तुएँ हैं। उद्‌दीपन-उपरोक्त वस्तुओं की चर्चा करना, देखना आदि हैं। अनुभाव-थूंकना या थू-थू करना, मुँह फेरना, नाक सिकोडना, कम्प आदि हैं। संचारी भाव-भय, आवेग, व्याधि, अपस्मार, जडता, चिंता आदि हैं।

इसके दो भेद किए हैं- (1) क्षोभज् या शुद्‌ध (2) उद्‌वेगी या अशुद्‌ध।

8. अद्‌भुत रस : आश्चर्यजनक व्यक्तियों, वस्तुओं, विचित्र दृश्यों एवं अलौकिक वस्तुओं या घटनाओं के द्‌वारा अद्‌भुत रस की उत्पत्ति होती है। सम्बद्‌ध विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से सहृदय

सामाजिक के हृदय में वासना रूप से स्थित 'विस्मय' स्थायीभाव जब आस्वाद का रूप धारण करता है, तब अद्‌भूत रस की निष्पत्ति होती है।

अद्‌भुत रस का वर्ण पित और देवता ब्रह्मा माने जाते हैं। इसका स्थायीभाव 'विस्मय या आश्चर्य' है। इस रस का आलम्बन-अलौकिक चरित्र, दृश्य अथवा विचित्र वस्तु है। उद्‌दीपन-ऐसे चरित्र, दृश्य अथवा वस्तु के संबंध में सुनना या उन पर बार-बार विचार करना है। अनुभाव- आँखें फाड़कर देखना, रोमांच, स्तब्ध हो जाना, अवाक् हो जाना आदि हैं। संचारी भाव-भ्रम, हर्ष, औत्सुक्य, चंचलता, प्रताप, हर्ष, निर्वेद आदि हैं।

9. शांत रस : शांत रस को शास्त्रीय मान्यता दिलाने का श्रेय आचार्य उद्‌भट को दिया जाता है। आ. उद्‌भट से पूर्व शांत रस को रस नहीं माना जाता था, किंतु परवर्ती समस्त आचार्यों ने शांत रस को पूर्णतया अपनी स्वीकृति प्रदान की है। आज श्रृंगार, वीर और शांत रस की गणना प्रधान रसों में होती है। क्योंकि ये रस उदात्त वृत्तियों के प्रेरक हैं और महाकाव्य में इनमें से एक प्रधान या अंगी रस के रूप में प्रतिष्ठित होता है।

सम्बद्‌ध विभावानुभाव और संचारी भावों के संयोग से जब सहृदय सामाजिकों के हृदय में वासना रूप से स्थित 'निर्वेद' स्थायीभाव उद्‌बुद्‌ध होकर रस रूप में परिणत हो जाता है, तब वहाँ शांत रस होता है। तत्वज्ञान या वैराग्य से शांत रस की उत्पत्ति होती है।

शांत रस का वर्ण कुंद पुष्प या चंद्रमा के समान शुक्ल माना गया है तथा इसके देवता विष्णु माने गए हैं। इस रस का स्थायीभाव 'निर्वेद' है। इसके आलम्बन-संसार की असारता और क्षणभंगुरता तथा आध्यात्मिक ज्ञान आदि हैं। उद्‌दीपन-सत्संग, स्मशान, तीर्थदर्शन, मृतक, ऋषियों के आश्रय आदि हैं। अनुभाव-रोमांच, अश्रु, ग्लानि, पश्चाताप, साधुवृत्ति, तल्लीनता आदि हैं। संचारी भाव-हर्ष, स्मृति, मति, स्मरण, विबोध आदि हैं।

10. वात्सल्य रस : सम्बद्‌ध विभावानुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से सहृदय सामाजिकों के हृदय में वासना रूप से स्थित 'वत्सल' स्थायीभाव उद्‌बुद्‌ध होकर रस रूप में परिणत हो जाता है, तब वहाँ वात्सल्य रस होता है। बच्चों की तुतली बोली, उनकी घर के आँगन में भरी जानेवाली किलकारियाँ एवं अबोधजन्य क्रिया-कलाप, वात्सल्य रस के उत्पादक कारण होते हैं। सूरदास और तुलसीदास की रचनाओं में वात्सल्य रस के सुंदर उदाहरण मिलते हैं।

वात्सल्य रस के आलंबन हैं- बालक या शिशु, पशु-पंछियों के छोटे बच्चे आदि। उद्‌दीपन-बच्चों की भोली-भाली चेष्टाएँ तथा विद्‌या-दया आदि। अनुभाव-प्रफुल्लित होना, सिर चूमना, गोद में लेना आदि। संचारी भाव- हर्ष, औत्सुक्य, मति आदि संयोग में और विषाद, चिंता, शंका आदि वियोग में।

इसके दो भेद हैं- (1) संयोग और (2) वियोग।

11. भक्ति रस : भक्ति को शांत के भीतर नहीं रखा जा सकता; क्योंकि शांत निर्वेद या वैराग्य पर आश्रित है और भक्ति अनुराग पर। पं. जगन्नाथ ने इसे स्वतंत्र रस स्वीकार किया है।

सहृदय सामाजिकों के हृदय में वासना रूप में विराजित 'भगवत्प्रेम' स्थायीभाव सम्बद्ध विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से भक्ति रस में परिणत होता है।

स्थायीभाव- भगवत्प्रेम, आलंबन-ईश्वर या उसका कोई रूप, उद्दीपन-पुराणादि का श्रवण; अनुभाव-रोमांचादि, व्यभिचारी भाव- हर्ष, दैन्य।

2.3.1.5 साधारणीकरण की अवधारणा

साधारणीकरण का विवेचन भट्ट नायक, अभिनव गुप्त, कविराज विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ आदि संस्कृत आचार्यों ने किया है। कई विद्वान भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' के 'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते' कथन को साधारणीकरण का बीज रूप मानते है। जब भावों का सामान्य रूप से प्रस्तुतीकरण होता है तो वहाँ रसों की निष्पत्ति हो जाती है। वस्तुत: असाधारण बात को साधारण रूप से परिणत करना ही साधारणीकरण है। साधरणीकरण के बिना रसास्वाद असंभव है। काव्यजनों को अनुभूति, आनंदानुभूति और रस दशा में परिचित कराने हेतु रस का साधारणीकरण जरूरी है। साधारणीकरण शब्द 'साधारण+च्वि+करण = साधारणीकरण' इस तरह से बना है। इसमें संस्कृति व्याकरण का प्रत्यय 'च्वि' अभूत तद्भव में होता है जिसका अर्थ है; जो वस्तु पहले वैसी नहीं थी, मगर बाद में वैसे हो जाना अर्थात् साधारणीकरण का अर्थ असाधारण का साधारण बन जाना है। काव्यगत अनुभूतियाँ व्यक्ति-विशेष तक सीमित न रहते हुए सर्वसाधारण तक पहुँच जाना ही साधारणीकरण है। साधारणीकरण को सामाजिकरण या सामान्यीकरण भी कहा जा सकता है। उदा. राम लीला में लक्ष्मण शक्ति के प्रसंग में राम को अपने भाई के मूच्छित हो जाने से शोकपूर्ण स्थिति में दिखाई देते हैं। कवि राम के शोक का चित्रण करता है, पाठक या श्रोताओं का नहीं। इसके बावजूद राम के शोक में पाठक या दर्शक डूब जाते हैं। काव्य में व्यक्त शोक किसी एक व्यक्ति का शोक नहीं रहता जबकि वह समग्र मानव समाज का शोक बन जाता है। इस प्रसंग में चित्रित राम का शोक होता है, मगर पाठक उस शोक से समरस हो जाता है। यह समरस होना ही साधारणीकरण है।

भरतमुनि के रससूत्र के व्याख्याकार भट्टनायक ने 'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग सबसे पहले किया। भट्टनायक के अनुसार 'विभावादि साधाणीकरणात्मना... भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रस ... भोगेन परं भुज्यत इति।' भट्टनायक की व्याख्या के विश्लेषण से विदित होता है कि साधारणीकरण विभावादि का होता है। यह वास्तव में भावकत्व व्यापार का प्राण है। दोनों में एक ही रस होता है। भावकत्त्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है। यह रसास्वाद के पहले की वह प्रक्रिया है जो रस के विभिन्न अवयवों को अपने विशेष भाव से आस्वाद्य रूप में प्रस्तुति देता है।

अभिनव गुप्त ने भट्टनायक के मत को संशोधित करते हुए साधारणीकरण के प्रसंग में लिखा है-'तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेष रूपत्वाभावाद्भीत इति, त्रासकस्यापार-मार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिग्डितम्।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि साधारणीकरण विभावादि का नहीं जबकि स्थायी भाव

का होता है। जिस तरह स्थायी भाव के कारण विभावादि होते हैं उसी प्रकार स्थायी भाव के साधारणीकरण से साधारणीकरण हो जाता है। कला के क्षेत्र में भावों का साधारणीकरण निजी न होकर सामूहिक होता है। सिर्फ एक प्रमाता भाव मुक्त नहीं होता, समग्र सामाजिक एकचित्त में भाव का सामूहिक रूप से अनुभव करते हैं। जहाँ भट्टनायक ने अनुकार्य के भाव का साधारणीकरण मान्य किया है, जबकि अभिनव गुप्त ने भाव का संबंध पाठक या दर्शक के हृदय के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। अनुकार्य के जिस भाव का साधारणीकरण हो जाता है वही भाव रसिक प्रेक्षक के हृदय में एक भाव उद्दीप्त हो जाता है। इसमें अनुकार्य और दर्शक या पाठक के हृदय में एक ही भाव का तादाम्य हो जाता है। अभिनव गुप्त के अनुसार यही साधारणीकरण है।

कविराज विश्वनाथ के मतानुसार सामाजिक काव्य और नाट्य में चित्रित रामादि के साथ अभिन्नता ही साधारणीकरण है। सामाजिक (श्रोता या पाठक) के हृदय में वीर कर्मों की तरह रत्यादिभाव उत्पन्न हो जाता है। पंडितराज जगन्नाथ काव्य और नाट्य में चित्रित दुष्यंतादि पात्रों के साथ सामाजिकों की अभिन्नता और तादात्म्य के अलावा 'भावना दोष' को साधारणीकरण मानते हैं। उनका कहना था कि काव्य या नाटक में कवि या नट के द्‌वारा विभाव, अनुभाव और संचारी भाव उत्पन्न होते हैं। बाद में व्यंजना व्यापार के कारण दुष्यंत की शकुंतला के प्रति आसक्ति पैदा होती है। सहृदयता के कारण दुष्यंतादि के विषय में फिर संशोधन करते हैं और भावना दोष के कारण हमारी आत्मा कल्पित दुष्यांतादि प्रभावित हो जाती है। स्पष्ट है कि आचार्य विश्वनाथ ने रस समग्र अवयवों का साधारणीकरण स्वीकार किया है। उन्होंने आश्रय के साथ दर्शक के तादाम्य को भी स्वीकार किया है अर्थात् उन्होंने अनुकार्य के भाव का साधरणीकरण स्वीकार कर लिया है।

साधारणीकरण के विवेचन में हिंदी आचार्यों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, गुलाबराय, डॉ. नगेंद्र और आचार्य वाजपेयी का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। काव्य में प्रस्तुत आलंबन धर्म का साधारणीकरण स्वीकार करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं कि 'साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि किसी काव्य में वर्णित आलंबन केवल भाव की व्यंजना करने वाले पात्र (आश्रय) का ही आलंबन नहीं रहता बल्कि पाठक या श्रोता का भी एक ही नहीं अनेक पाठकों और श्रोताओं का भी आलंबन हो जाता है। अत: उस आलंबन के प्रति व्यंजित भाव में पाठकों या श्रोताओं का भी हृदय योग देता हुआ उसी भाव का रसात्मक अनुभव करता है।'आचार्य शुक्ल भाव और विभाव का सामंजस्य जरूरी मानाते हुए आलंबन धर्म का साधरणीकरण स्वीकार करते हैं। साधारणीकरण आलंबन धर्म का होता है। इस बारे में वे लिखते हैं–'कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्‌ध हुआ कि साधारणीकरण आलंबन धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।' आ. शुक्ल जी अभिनव गुप्त की भाँति आलंबन धर्म का साधारणीकरण और कविराज विश्वनाथ की भाँति विभावादि सहित काव्य

निबद्ध पात्रों के साथ सामाजिकों के तादात्म्य का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं। आ. शुक्ल साधारणीकरण की सबसे अधिक विशेषता आलंबन धर्म की मानते हैं।

बाबू गुलाबराय कवि के संबंधों का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार–'साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं वरन् उनके संबंधों का होता है। कवि भी अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर साधारणीकृत हो जाता है। वह लोकप्रतिनिधि होकर भावाभिव्यक्ति करता है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बंधनों को तोड़कर लोक सामान्य की भाव-भूमि में आ जाता है। उसका हृदय कवि और लोक हृदय के साथ प्रतिस्पंदित होने लगता है। ... भावों का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उनसे भी 'अयं निजः परवो' की भावना ताजी रहती है।' स्पष्ट है कि गुलाबराय कविता में व्यक्त भावों के साथ पाठक या सामाजिक तादात्म्य को स्वीकार करते हैं।

नायक के भाव के साथ दर्शक का साधरणीकृत भाव तादाम्य मान्य करते हुए प्रसिद्ध रसवादी आलोचक डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त ने लिखा है–'वस्तुतः साधारणीकरण एवं तादाम्य दो भिन्न क्रिया व्यापार नहीं है, अपितु एक ही कार्य के दो पक्ष हैं। जहाँ वस्तु की दृष्टि से वह साधारणीकरण है वहाँ पाठक या सामाजिक की दृष्टि से वह तादाम्य की प्रक्रिया है।' पाठक का भाव के साथ तादाम्य होना ही साधारणीकरण है। सचमुच भाव साधारणीकरण ही भाव तादाम्य है। साधारणीकरण न आलंबन का होता है और आलंबन धर्म का और न सहृदय चेतना का। आ. वाजपेयी के शब्दों में–'साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना की समरूपता ही है।' स्पष्ट है कि कवि एवं सहृदय का भाव तादात्म्य ही साधारणीकरण है।

कवि की भावनाओं का साधारणीकरण स्वीकार करते हुए डॉ. नगेंद्र लिखते हैं–'साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके।' दरअसल कवि वही है, जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके और जिसे लोक हृदय की पहचान हो। इसमें आश्रय का व्यक्तित्व घृणा या क्रोध का विषय बन जाता है। यदि आश्रय नायक की भर्त्सना करता है, अवहेलना करता है तो भी रसानुभूति में बाधा नहीं आ जाती क्योंकि हमारे अंदर वही अनुभूति जाग उठेगी, जोंकि कवि प्रतीक द्वारा व्यक्त हो चुकी है। संक्षेप में डॉ. नगेंद्र के अनुसार साधारणीकरण भाषा या काव्य भाषा का धर्म है। साधारणीकरण का मूल आधार मानव की सहानुभूति है; जो सभी के हृदय में एक जैसी उत्पन्न होती है। सार यह कि कवि हृदय या पाठक के हृदय का एकाकार होना या कवि हृदय में उत्पन्न भाव कविता पढ़ने के बाद पाठक के हृदय में उत्पन्न होना ही साधारणीकरण है।

2.3.2 अलंकार सिद्धांत

भारतीय साहित्यशास्त्र में अलंकार सिद्धांत अपना विशिष्ट स्थान और महत्त्व रखता हैं। साहित्य को सुंदर बनाने वाले साधन के रूप में तो अलंकारों की चर्चा अत्यंत प्राचीन काल से ही होती आयी है। पर कुछ आचार्यों ने इन्हें काव्य के प्राणभूत तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करके अलंकार सम्प्रदाय की स्थापना की

है। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक और अनुवर्ती आचार्यों का अलंकार विवेचन विवादास्पद होते हुए भी रोचक है।

2.3.2.1 अलंकार की परिभाषा तथा स्वरूप –

अलंकार का अर्थ संकोच होने के बावजूद भी अलंकारवादी आचार्योंने अलंकार को ही काव्य की आत्मा माना है। इनमें प्रमुख हैं– आ. भामह, दण्डी, उद्‌भट, वामन और रूद्रट। इनके द्‌वारा प्रस्तुत अलंकार की परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं–

1. **आ. भामह –**

''वक्राभिधेमशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः।''

अर्थात् शब्द और अर्थ का वैचित्र्य ही अलंकार है।

2. **आ. दण्डी –**

''काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।''

अर्थात् अलंकार काव्य को सौंदर्य प्रदान करने वाला धर्म हैं।

3. **आ. वामन –**

''काव्यं ग्राहयमलंकारात् सौंदर्यमलंकारः।''

अर्थात् अलंकार द्‌वारा ही काव्य ग्राह्य होता है और सौंदर्य ही अलंकार है।

4. **आ. विश्वनाथ –**

''शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेअंगदादिवत्।।''

अर्थात् अलंकार काव्य–शोभा को बढ़ाने वाले, रस, भाव आदि के उत्कर्ष में सहायक शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। अंगद आदि आभूषणों के समान ही ये अस्थिर धर्म भी काव्य के आभूषण या अलंकार कहलाते हैं।

5. **पंडितराज जगन्नाथ –**

''काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजकाः अलंकाराः।''

अर्थात् काव्य की आत्मा, जो व्यंजनागम्य अर्थ है, उसे रमणीयता प्रदान करनेवाले तत्व अलंकार कहलाते हैं।

6. **आ. शुक्ल –**

हिंदी के प्रसिद्‌ध विद्‌वान आचार्य शुक्ल भी रसवादी थे, उनकी परिभाषा है–

''भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव करने में कभी–कभी सहायक होनेवाली युक्ति अलंकार है।''

अलंकार का स्वरूप

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार के स्वरूप के संबंध में दो मत हैं। एक मत अलंकारवादियों का है, जो अलंकार को काव्य की आत्मा मानते हैं। उनकी दृष्टि में अलंकार ही चारूत्त्व है और रस, ध्वनि आदि सब तत्त्व अलंकार के भेद हैं। इन आचार्यों ने रसों का अंतर्भाव रसवत् आदि अलंकारों में तथा ध्वनि का अंतर्भाव समासोक्ति आदि अलंकारों में कर लिया है। वक्रोक्ति को ये स्वयं 'अलंकार रूपा' मानते हैं, रीति के घटक गुण भी इन आचार्यों के मत में अलंकारों से भिन्न नहीं है।

अलंकार के लक्षणकारों में दूसरा वर्ग अलंकारेत्तर सम्प्रदायों के आचार्यों का है। वे अलंकारों को केवल काव्य के उपकारक अनित्य धर्म मानते हैं जिनका काव्य में उतना ही महत्त्व है जितना मानव सौंदर्य में आभूषणों का। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है- ''वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी-कभी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है। कभी उसके रूप रंग या गुण की भावना को उस प्रकार के और रूप रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्म वाली वस्तुओं को सामने करना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिराकर भी कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं।''

काव्य में अलंकारों का महत्व असंदिग्ध है, परंतु उन्हें काव्य की आत्मा मानना संभव नहीं। उन्हें उसी अर्थ में ग्रहण करना ठीक है, जिस अर्थ में रसवादी या ध्वनिवादी करते हैं।

2.3.2.2 अलंकार की अवधारणा

आजकल हिंदी में 'अवधारणा' शब्द का अंग्रेजी के Conception (कन्सेप्शन) शब्द के पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाता है। अंग्रेजी के शब्द Conception का अर्थ दिमाग में आना, समझना आदि है। इस प्रकार अलंकार की अवधारणा से तात्पर्य यह है कि आप अलंकार से क्या समझते हैं? अलंकार का सर्वप्रथम निरूपण किसने किया? यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, क्योंकि कुछ लोगोंने वेदों की संहिताओं में से भी अलंकारों को ढूँढ निकाला है। परंतु भरत के बाद आचार्य भामह ही अलंकार मत के प्रमुख आचार्य हैं। उन्होंने अलंकारशास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतंत्रता से मुक्त करके एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया। अंत: भामह को अलंकार-सिद्धांत का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। आ. उद्भट, दण्डी, रूद्रट एवं प्रतिहारेंदुराज भी इसी मत के अनुयायी आचार्य हैं।

अलंकार-सिद्धांत के अंतर्गत अलंकार को ही काव्य की आत्मा माना है। आचार्य भामह ने अलंकार को काव्य का आवश्यक तत्व मानते हुए लिखा है-

''न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।''

अर्थात् प्रकृत रूप से कांत होने पर भी वनिता के मुख पर भूषण के बिना जिस प्रकार आभा नहीं आती, उसी प्रकार नितांत प्रकृत रूप से वाणी में चारूता नहीं आती।

अलंकारों का विकास क्रम–

संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम शास्त्रीय ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में भरत मुनि ने केवल चार अलंकारों का निर्देश किया है। इस ग्रंथ के बाद का प्रामाणिक ग्रंथ 'अग्निपुराण'है। इसमें अलंकारों की संख्या 16 दी गई है। अग्निपुराण के बाद ईसा की छटी शताब्दी तक का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं किंतु इस काल में भी अलंकारों की संख्या का क्रमिक विकास होता रहा। इसका प्रमाण भामह और दंडी के ग्रंथों से मिल जाता है। भामह ने 'काव्यालंकार' में 38 अलंकारों का उल्लेख किया है। ये अलंकार भामह की अपनी नवीन उद्भावनाएँ नहीं हैं बल्कि इसमें भामह ने अपने पूर्ववर्ती कई आचार्यों के मतों को स्पष्ट किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि इन अलंकारों का भामह से पूर्व ही विकास हो चुका था। ईसा की आठवी शताब्दी तक अलंकारों की संख्या 52 हो गई थी। दण्डी, उद्भट, वामन आदि आचार्यों ने इनका उल्लेख किया है। ईसा की नौवीं शताब्दी में मम्मट, रूय्यक, रूद्रट, भोज आदि के समय में 103 अलंकारों का निर्माण हुआ। यह युग अलंकार विकास का मध्य युग माना गया है। जयदेव, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ के समय तक (ई. 18 वीं शताब्दीं) यह संख्या 191 तक परिवर्धित हो गई।

2.3.2.3 अलंकार के भेद

अलंकारों का निर्माण मनोवैज्ञानिक आधार पर हुआ है। अतएवं प्रत्येक अलंकार में स्वरूप और भाव-वैचित्र्य होते हुए भी उनके मूल तत्वों में साम्य रहता है। कुछ अलंकारों के मूलतत्त्व एक ही आधार पर आधारित हैं। मूलतत्व की इसी एकात्मता के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण किया गया है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा अलंकारों का वर्गीकरण निम्न रूपमें किया गया है–

भामह और दण्डी –

अलंकारों के वर्गीकरण का क्रम अलंकार संप्रदाय के प्रवर्तन के साथ ही प्रारंभ हो गया था। भामह ने संपूर्ण वाङ्मय को 'वक्रोक्ति और वार्ता' नामक दो भागों में विभाजित किया था। उन्होंने प्रकारांतर से स्वभावोक्ति को 'अनलंकृत कथन या वार्ता' कहा था, जिसमें साहित्येतर वाङ्मय का समावेश होता है, किंतु आगे चलकर आचार्य दण्डी ने स्वभावोक्ति को भी साहित्य में सम्मिलित कर लिया और साहित्य के दो भेद किए- वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति।

उद्भट –

अलंकारों के व्यापक वर्गीकरण का प्रथम प्रयास उद्भट ने 'काव्यालंकार संग्रह' में किया। परंतु यह वर्गीकरण किसी वैज्ञानिक मानदंड पर आधारित नहीं था। उन्होंने सब अलंकारों को 6 वर्गो में बाँटा था।

रूद्रट –

इसके बाद रूद्रट का वर्गीकरण ध्यान आकर्षित करता है। उन्होंने सब अर्थालंकारों को चार वर्गीं में विभाजित किया है, वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। इनका स्वरूप निम्न प्रकार है–

1. **वास्तव :** यह स्वरूप का कथन करने वाले अलंकारों का वर्ग है, जिसके अंतर्गत समुच्चय, यथासंख्य आदि अलंकार आते हैं।

2. **औपम्य :** इस वर्ग में उपमाधर्मी अलंकारों की गणना की जाती है, जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि।

3. **अतिशय :** इस वर्ग में रूद्रट ने 'नियमविपर्यय' वाले अलंकारों को समाविष्ट किया है, जिसमें विभावना, विशेषोक्ति आदि की गणना होती है।

4. **श्लेष :** श्लेष का अर्थ अनेकार्थकता है। इसमें विरोध आदि अलंकारों का भी समावेश होता है।

रूय्यक का वर्गीकरण –

अलंकारों के वर्गीकरण के क्षेत्र में सबसे मौलिक योगदान रूय्यक का है। रूय्यक ने 'अलंकार सर्वस्व' में अलंकारों को 6 वर्गों में बाँटा है–

1. **सादृश्यमूलक अलंकार :** जो अलंकार सादृश्य पर आधारित होता है, उन्हें सादृश्यमूलक अलंकार कहते हैं। इनके दो भेद हैं– भेदाभेद प्रधान– जैसे उपमा और अभेद प्रधान जैसे रूपक, उत्प्रेक्षा आदि।

अभेदप्रधान साम्यमूलक अलंकारों के पुन: दो उपभेद किए गए हैं– आरोपमूलक (रूपक, परिणाम, संदेह आदि) और अध्यवसायमूलक (उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि)

2. **औपम्यगर्भ अलंकार :** जिन अलंकारों में चमत्कार का आधार प्रस्तुत और अप्रस्तुत की उपमा (समानता) होती है, उन्हें औपम्य गर्भ अलंकार कहते हैं। इसके 6 भेद हैं–

1. पदार्थगत औपम्य : तुल्ययोगिता, दीपक।
2. वाक्यर्थगत औपम्य : प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना।
3. भेद प्रधान : व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति।
4. विशेषण विच्छिति : समासोक्ति, परिकर।
5. विशेष्य–विच्छिति : परिकरांकुर।
6. विशेषण–विशेष्य विच्छिति : श्लेष।

3. **विरोधगर्भ अलंकार :** विरोध, भावना, विशेषोक्ति।

4. **श्रृंखलाकार अंलकार :** कारणमाला, मालादीपक, सार।

5. **न्यायमूलक अलंकार :** इसके तीन उपभेद हैं–

1. तर्कन्याय मूलक : काव्यलिंग, अनुमान।

2. वाक्यन्याय मूलक : यथासंख्य, पर्याप्य।

3. लोकन्याय मूलक : प्रत्यनीक, प्रतीप।

6. **गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक अलंकार :** सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति।

यह वर्गीकरण रूय्यक और विद्याधर की संयुक्त मान्यताओं पर आधारित है तथा अत्यंत वैज्ञानिक है। आधुनिक विद्वानों ने जो व्यावहारिक वर्गीकरण किया है, वह रूय्यक के इसी वर्गीकरण पर आधारित है। उसका स्वरूप निम्न प्रकार है

आधुनिक विद्वानों ने अलंकारों का वर्गीकरण तीन भागों में किया है- (1) शब्दांलकार (2) अर्थालंकार एवं (3) उभयालंकार।

1. **शब्दालंकार :** जिन अलंकारों में उक्ति का चमत्कार उसमें प्रयुक्त शब्दों पर आधारित होता है, उन्हें 'शब्दालंकार' कहते हैं। यदि चमत्कार के केंद्र शब्द को हटाकर उसकी जगह समानार्थी शब्द डाल दिया जाए, जो वह चमत्कार समाप्त हो जाता है। अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि अलंकार इसी वर्ग में आते हैं।

2. **अर्थालंकार :** जिन अलंकारों में उक्ति का चमत्कार अर्थ में निहित रहता है, उन्हें 'अर्थालंकार' कहते हैं। इन अलंकारों में किसी शब्द को हटाने और उसके स्थान पर उसके पर्यायवाची शब्द का प्रयोग करने से अलंकार के सौंदर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उपमा, अनन्वय, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, समासोक्ति आदि अलंकार इसी वर्ग में आते हैं।

3. **उभयालंकार :** जहाँ काव्य में प्रयुक्त अलंकार में निहित चमत्कार शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित होते है उन्हें उभयालंकार कहते हैं। जैसे, यमक।

अनेक विद्वान इस भेद को स्वीकार नहीं करते। जहाँ चमत्कार शब्द और अर्थ दोनों के सौंदर्य पर आधारित होता है, वहाँ भी उसका केंद्र केवल शब्द होता है। शब्द के बदलते ही सौंदर्य समाप्त हो जाता है, 'कनक, कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।' में चमत्कार का केंद्र 'कनक' की द्वयर्थता है। कोई अन्य शब्द इसका स्थान नहीं ले सकता।

2.3.2.4 निष्कर्ष

साहित्यरूपी सुंदरी के सौंदर्य में इजाफा करने का काम अलंकार करते हैं। अलंकारों की चर्चा वेदों में भी है, लेकिन आचार्य भरत के बाद आ. भामह ही प्रमुख आचार्य हैं, जिन्होंने अलंकारशास्त्र को स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान किया। 'नाट्यशास्त्र' में चार ही अलंकारों की चर्चा थी; आ. पंडितराज जगन्नाथ तक आते-आते उनकी संख्या 191 हो गई है। अधिकतर विद्वानों ने अलंकार को काव्य के सौंदर्य में वृद्धि करनेवाले तत्व के रूप में स्वीकार किया है। संस्कृत के विद्वानों ने अलंकारों के वर्गीकरण पर विस्तार से विचार किया है। आधुनिक विद्वानों का वर्गीकरण (शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार) अधिक उचित लगता है।

2.3.3 रीति सिद्धांत

ईसवी सन् 600 से 700 तक–सौ वर्षों के अंतराल में रीति संप्रदाय भारतीय साहित्य समीक्षा का प्रमुख आधार था। गुण और दोष की व्यापक प्रतिष्ठा हो जाने से रीति सम्प्रदाय को बड़ा बल मिला और गुण सहित तथा दोष रहित रचना की आदर्श पदावली ही रीतिमत के अनुसार काव्य की आत्मा बन गई। लेकिन आगे गुण, दोष और अलंकारों की विवेचना रीति से स्वतंत्र आधार पर होने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि रीति संप्रदाय की व्यापकता घटती चली गई और अंत में उसे रस सिद्धांत की एक शाखा के रूप में परिणत होना पड़ा।

2.3.3.1 रीति का अर्थ एवं परिभाषा

रीति का अर्थ

रीति शब्द की उत्पत्ति 'रीङ्' धातु से 'ऋण' प्रत्यय के योग से हुई है। इसका अर्थ है मार्ग, पंथ या गति। महाराजा भोज ने 'सरस्वती कंठाभरण' में इसकी उत्पत्ति इस प्रकार दी है–

''वैदर्भादिकृत: पन्था: काव्ये मार्ग इति स्मृत:

रीङ् गताविति धातो: सा व्युत्पत्त्या रीतिरूच्यते।''

अभिव्यक्ति के विभिन्न मार्ग होते हैं। लेखक अपनी रूचि के अनुसार इन मार्गों का अनुसरण करते हैं। रीति शब्द इसी अभिव्यक्ति की विभिन्नता का द्योतक है। वामन से पूर्व रीति के स्थान पर अधिकतर मार्ग शब्द प्रयुक्त किया जाता था। आज कल हिंदी में इसके लिए शैली शब्द का प्रयोग होता है। शैली शब्द की उत्पत्ति भी शील शब्द से हुई है। यह भी लेखक के स्वभाव की ओर ही संकेत करता है। प्राचीन संस्कृत शास्त्र में शैली शब्द किसी व्याख्यान पद्धति के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता था। कुल्लूक भट्ट की टीका में शैली का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है।

रीति की परिभाषा

सर्वप्रथम आ. वामन ने ही रीति को परिभाषाबद्ध कर उसकी विस्तृत व्याख्या की है। 'काव्यालंकारसूत्र' में उन्होंने रीति का लक्षण इस प्रकार दिया है–

''विशिष्ट पदरचना रीति:। विशेषो गुणात्मा''

अर्थात् माधुर्य आदि गुणों से युक्त रचना ही रीति है। उन्होंने रीति में गुणों को सर्वाधिक महत्त्व दिया है।

आचार्य वामन के अतिरिक्त रीति सम्प्रदाय का अन्य कोई प्रसिद्ध विद्वान नहीं है जिसने रीति पर विचार किया हो। इसका कारण है कि मम्मट आदि के रसवादी सिद्धांत के सम्मुख रीति सम्प्रदाय अधिक मान्य न हो सका।

रीति सम्प्रदाय के बहिर्गत कुछ अन्य आचार्यों ने रीति के स्वरूप को स्पष्ट किया है। यह वामन द्वारा निर्देशित रीति के लक्षण से साम्य रखता है। वक्रोक्तिवादी कुंतक ने रीति को 'कवि प्रधान हेतु' या कवि कर्म की विधि कहा है।

आनंदवर्धनाचार्य ने इसे 'वाक्यवाचक चारूत्व हेतु' कहकर रीति को शब्द और अर्थ में चारूता लाने वाला उपादान माना है। उन्होंने रीति का रस से संबंध स्थिर करने का प्रथम और सारगर्भित प्रयास करते हुए कहा है कि, पद रचना माधुर्य आदि गुणों के आधार पर आश्रित रहती और रस की अभिव्यक्ति में सहायक होती है।

आचार्य वामन के 'विशेषो गुणात्मा' वाले कथन को इन्होंने 'संघटना' शब्द द्वारा व्यक्त किया है। संघटना का अर्थ है पदों की सम्यक् या शोभन रचना।

'साहित्यदर्पण' के प्रणेता आ. विश्वनाथ ने भी आनंदवर्धनाचार्य के अनुसार रीति का स्वरूप स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं–

''पदसंघटना रीतिः अंगसंस्थाविशेषवत्

उपकर्थी रसादीनाम् ....''

अर्थात् जिस प्रकार कामिनी के अंगों का एक निश्चित संघटन सौंदर्यशाली होता है उसी प्रकार पदों की नियमबद्ध संघटना भी सुंदर होती है, उसे 'रीति' कहते हैं। इस प्रकार की पदसंघटना या रस रीति आदि काव्य सौंदर्य के विविध तत्त्वों के परिवर्तन में सहायक होती है। मम्मट ने भी सभी रचनाओं में प्रसाद गुण की स्थिति अवश्य मानी है। इस प्रकार आ. वामन के समान सभी आचार्यों ने रीति में गुणों को स्वीकार किया है।

रीति की गरिमा पाश्चात्य आलोचकों ने भी अंगीकृत की है। फ्लाउबे (Flaubert), वाल्टर रेले (Walter Raleight) तथा वाल्टर पेटर (Walter Pater) ने काव्य में रीति को पर्याप्त महत्व दिया है। फ्लाउबे का कथन है कि 'जिस प्रकार जीवित प्राणियों में रक्त शरीर का पोषण करता है तथा इसके बाह्य स्वरूप का निर्णय करता है, उसी प्रकार काव्य में जीवनविधायक तत्व रीति ही है। रीति किसी वस्तु की समग्र अंतरंगता तथा रंगीनता के साथ अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट तथा परिपूर्ण प्रकार है।

2.3.3.2 रीति की अवधारणा

रीति की अवधारणा (कन्सेप्शन) का तात्पर्य यह है कि आप रीति से क्या समझते हैं? रीति संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए इस सम्प्रदाय की नींव डाली।

''रीतिरात्मा काव्यस्य।''

इसमें संदेह नहीं कि वामन से पूर्व भी रीति की चर्चा होती रही थी। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र'में नाट्यप्रयोग के संदर्भ में चार प्रादेशिक प्रवृत्तियों का उल्लेख किया हैं। वे कहते हैं–

''चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता: नाट्यप्रयोगात:।

अवंती दक्षिणात्याच पांचाली चौड्रमागधी।।''

अर्थात् नाट्यप्रयोग में चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया हैं- आवंती, दाक्षिणात्य, पांचाली और ओड्रमागधी। भरतमुनि के नाटयशास्त्र का आधार लेकर अग्निपुराण में महर्षि वेदव्यास ने रीतियों का विवेचन किया है और पहली बार काव्य और नाट्य के संबंध में रीति शब्द का प्रयोग किया है-

''वाविद्या समप्रति ज्ञाने रीति: चापि चुतर्विधा:।''

अर्थात् बोलने के ढ़ंग की पहचान से रीति चार प्रकार की होती है- वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी।

सातवीं शताब्दी के कवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में उदीच्य्, प्रतीच्य्, दक्षिणात्य और गौड देश की काव्य प्रवृत्तियों का स्पष्ट उल्लेख किया है। उन्होंने 'हर्षचरित' में चारों रीतियों के विषय में लिखा है- 'उत्तर दिशा के लोक श्लेष-बहुल, पश्चिम दिशा के लोग अर्धमान, दक्षिण दिशा के लोग उत्प्रेक्षामय तथा गौड देश के लोग अक्षरों के आडम्बर वाली रीति का प्रयोग करते हैं। यहाँ आडंबर वर्णविण्यास के चारूत्व का वाचक है।

रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य वामन ने तीन रीतियों का स्वीकार किया है- वैदर्भी, गौडी और पांचाली। इनके विवेचन का आधार 'गुण' है, अलंकार नहीं। इन्होंने रीति की परिभाषा प्रस्तुत करके रीति की अवधारणा स्पष्ट की है-

''विशिष्ट पद-रचना रीति:।''

अर्थात् विशिष्ट प्रकार के पदों की रचना रीति कही जाती है।

पद रचना लिखने और बोलने में प्रयोग की जाती है। इस प्रकार रीति का अर्थ भाषा का प्रयोग हुआ। आचार्य वामन भी रीति का अर्थ उक्ति मानते हैं। हिंदी में शैली शब्द जिस अर्थ में प्रयोग किया जा रहा है, वामन आदि आचार्यों ने रीति शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया है।

रीति की अवधारणा में यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि रीति की अवधारणा गुण के समान है। संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने गुण के जो लक्षण दिए हैं, वे ही रीति पर पूर्ण रूप से लागू होते हैं। शब्द तथा काव्य दोनों के आचार्य मम्मट ने तीन गुण माने हैं- माधुर्य, ओज और प्रसाद। इन गुणों का संबंध भी भाषा के प्रयोग से होता है। रीति में गुणों का समावेश रहता है, अत: रीति गुणों से व्यापक है।

रीति शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद में स्तुति के रूप में प्राप्त होता है। 'अग्निपुराण' में रीति का अर्थ 'वक्तृत्व कला' या 'बोलने का ढंग' है। बाणभट्ट ने भी इसी अर्थ में रीति की अवधारणा की है। आ. भामह ने रीति का अर्थ 'काव्य' स्वीकार किया है। आचार्य वामन ने 'विशिष्ट पद रचना' को रीति बताकर रीति की

अवधारणा स्पष्ट की है। वामन रीति को गुणों के आश्रित मानते हैं तो आनंदवर्धन उसे रसाभिव्यक्ति का साधन मानते हैं, काव्य की आत्मा मानने से इन्कार करते है।

2.3.3.3 रीति के भेद–

रीतियों की संख्या के संबंध में आचार्यों में मतभेद हैं। भामह ने वैदर्भी और गौडी दो ही रीतियाँ मानी हैं। दण्डी ने भी इन्हीं दो की चर्चा की है। वामन ने रीतियों की संख्या दो से तीन कर दी। उन्होंने पांचाली नामक एक नई रीति का उल्लेख किया। रूद्रट और राजशेखर में हमें लाटीया नामक चौथी रीति की भी चर्चा मिलती है। इस प्रकार वैदर्भी, गौडी, पांचाली और लाटीया नामक रीतियों का क्रमश: विकास हुआ। हम इनके स्वरूप पर संक्षेप में विचार करेंगे।

1. **वैदर्भी रीति :** वैदर्भी रीति सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। किसी ने उसे गुण स्फुट रूप, कुछ ने गुण साकल्यमयी और कुछ ने समग्रगुणा कहा है। आचार्य राजशेखर ने लिखा है कि, ''वैदर्भी रीति से कर्ण–प्रिय माधुर्य गुण का प्रसवण होता है।'' वामन वैदर्भी को समग्रगुणा मानते हैं–

''समग्रगुणा वैदर्भी।''

आ. विश्वनाथ ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है– ''माधुर्य गुण व्यंजक वर्णों द्वारा वृत्तिहीन या अल्प वृत्ति वाली रचना वैदर्भी होती है।

2. **गौडी रीति :** यह प्रादेशिक दृष्टि से गौड देश की रीति है। इसमें माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव देखा जाता है। यह समाजबहुता और कठोर वर्णों से युक्त होती है। ओज और कांति इसके प्रमुख गुण हैं।

3. **पांचाली :** इस रीति में वैदर्भी की भाँति सब गुणों की अवस्थिति तो नहीं होती, परंतु माधुर्य और सुकुमारता आदि गुण इसमें भी होते हैं। यह श्लेष मुक्त, शिथिल भावों वाली तथा कांति युक्त रीति है। आ. वामन ने इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है–

''माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पांचाली।''

अर्थात् पांचाली रीति में माधुर्य और सौकुमार्य का सद्भाव रहता है।

4. **लाटी :** साहित्य–दर्पणकार ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है–

''लाटी तु रीति वैदर्भीपांचाल्योन्तरे स्थिता।''

अर्थात् वैदर्भी और पांचाली के मध्य की रीति को लाटी रीति कहते हैं।

2.3.3.4 रीति एवं शैली :

काव्य की आत्मा के प्रश्न को लेकर संस्कृत के काव्यशास्त्र में जो छह संप्रदाय प्रवर्तित हुए उन्हीं में से एक रीति-संप्रदाय है। इसका प्रवर्तक आचार्य वामन को माना जाता है। आचार्य वामन का आविर्भाव-काल

ईसा की 8 वीं शती के आस-पास है। आचार्य वामन के ग्रंथ का नाम 'काव्यालंकार सूत्र' है। इस ग्रंथ में पांच अधिकरण है जो 12 अध्यायों में बंटे हुए हैं। सूत्रों की संख्या 319 है। प्रथम अधिकरण में काव्य के प्रयोजन तथा काव्य के अधिकारी का, द्वितीय में दोषों का, तृतीय में गुणों का, चतुर्थ में अलंकारों का और पंचम में संदिग्ध शब्दों के प्रयोग तथा शब्द-शुद्धि का वर्णन हुआ है।

रीति–विवेचन का इतिहास

आचार्य वामन तक – यद्यपि रीति-संप्रदाय का प्रवर्तक आ. वामन को ही माना जाता है, किंतु उसकी परंपरा बहुत पहले से चली आ रही थी। कुछ विद्वानों ने तो रस एवं अलंकारों की भांति रीति के अस्तित्व को भी वेदों में खोज निकाला है। ऋग्वेद में रीति का प्रयोग अलग-अलग स्थलों पर हुआ है। कहीं पर धारा के अर्थ में, कहीं पर मार्ग के अर्थ में और कहीं पर गमन के अर्थ में ।

आ. भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में रीति के लिए 'प्रवृत्ति' शब्द का उल्लेख है। उन्होंने तत्कालीन चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है- आवंति, दाक्षिणात्या, पाँचाली और आर्धमागधी। अलंकारवादी भामह ने रीति के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है और दो मार्गो का उल्लेख किया है– वैदर्भ और गौड़ीय। उन्होंने दोनों का वर्णन रीति के अर्थ में न कर, काव्य-भेद के रूप में किया है। अलंकारवादी दंडी का रीति-विवेचन तर्कसंगत है। उन्होंने रीति में व्यक्तित्व की महत्ता को स्वीकारा है और कहा है कि भिन्न– भिन्न कवियों के स्वभावानुसार रीतियाँ भी अनेक हैं। आ. वामन ने रीति के स्वरूप, काव्य में उसके स्थान तथा उसके प्रकार पर विस्तारपूर्वक विचार किया और उसे स्वतंत्र काव्य-सिधांत के रूप में स्थापित किया। उन्होंने रीतियाँ तीन प्रकार की मानी– वैदर्भी, गौड़ी और पाँचाली और तीनों का स्वरूप स्थिर किया।

आचार्य वामन के पश्चात् –

आ. वामन के पश्चात भी रीति-विवेचन चलता रहा। अलंकारवादी रुद्रट ने रीति के भौगोलिक रूप को हटा कर उसका संबंध रस के साथ स्थापित किया। उन्होंने चार रीतियां मानी- वैदर्भी, गौड़िया, पाँचाली और लाटिया। रुद्रट की विशेषता यह है कि उन्होने रीति-विवेचन गुण के आधार पर न कर, पदों की समस्तता के आधार पर किया।

आ. आनंदवर्धन ने रीति में रस को उपकारक माना और उसके नियामक तत्त्व चार बताए– वक्त्रौचित्य, वाच्यौचित्य, विषयौचित्य और रसौचित्य ।

आचार्य कुंतक ने रीति-विवेचन में सर्वथा नवीन रूप प्रदान किया। उन्होंने रीति के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग कर मार्ग तीन प्रकार के बताए- सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग और मध्यम मार्ग। उन्होंने प्रादेशिक वर्ग-विभाजन को अमान्य ठहराया और कवि स्वभाव के आधार पर काव्य-मार्ग का वर्गीकरण किया। उन्होंने यह भी कहा कि कवि के स्वभावगत होने के कारण काव्य- मार्गों की संख्या विपुल हो सकती है।

भोज ने रीति-विवेचन करते हुए रीतियों की संख्या छह तक पहुँचा दी – वैदर्भी, गौड़ीया, पाँचाली, लाटीया, आवंतिका और मागधि। आ. मम्मट ने वर्ण गुंफ को हो वृत्ति का आधार माना, समास को नहीं । कविराज विश्वनाथ ने रीति का गुण एवं रस के साथ संबंध स्थापित किया और चार रीतियों को मान्यता दी – वैदर्भी, गौड़ी, पाँचाली और लाटिका ।

इस संपूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि रीति को आरंभ में काव्य-मार्ग का पद प्राप्त हुआ जो बहुत दिनों तक प्रयोग में होता रहा। आ. वामन ने इसे काव्य का आधारभूत तत्त्व माना और उसी के आधार पर रीति-संप्रदाय की स्थापना की। बाद के आचार्यों ने रीति को काव्य के प्राण तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं किया। उसे रसाभिव्यक्ति के साधन के रूप में ही स्वीकारा। तब से यही स्थिति मान्य रही है ।

आचार्य वामन ने रीति को ही काव्य की आत्मा माना-

'रीतिरात्मा काव्यस्य ।'

रीति किसे कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर भी वामन ने दिया। उन्होंने कहा कि विशेष प्रकार की पद-रचना ही रीति है । उन्होंने उसका संबंध गुणों से बताकर गुणों की संख्या बीस मानी दस तो शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण।

आ. वामन ने रीति तीन प्रकार की मानी– वैदर्भी, गौडी और पाँचाली। उन्होंने वैदभी को सर्व गुण संपन्न और सर्वोत्तम कहा । गौड़ी– में दो गुणों का समावेश माना – ओज और कांति। पाँचाली– में माधुर्य और सुकुमारता नामक गुणों का समावेश माना। उन्होंने गुणों पर विशेष बल दिया। उनके मतानुसार गुण काव्य का नित्य धर्म है। उनकी अनुपस्थिति में काव्य का अस्तित्त्व असंभव है । अलंकारों को वामन ने काव्य का अनित्य धर्म माना। उनके मतानुसार गुण तो वैशिष्ट्य की रचना कर सकते हैं, अलंकार नहीं । काव्य का समस्त सौंदर्य रीति पर आश्रित है। यह सौंदर्य किस प्रकार उत्पन्न होता है? दोषों के बहिष्कार और अलंकारों के प्रयोग से ।

इस प्रकार वामन के अनुसार रीति पद– रचना का वह प्रकार है जो दोषों से मुक्त हो, एवं गुणों से अनिवार्यता: तथा अलंकारों से साधारणता: संपन्न हो।

रीति एवं शैली :

'पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'शैली' शब्द का बार-बार प्रयोग किया गया है और वहाँ वह एक विशेष अर्थ में आया है। यदि 'शैली' शब्द का निर्माण 'शील' से मान लिया जाए तो वह अर्थ एकदम प्रकट हो जाता है। उस समय उसका अभिप्राय ऐसी अभिव्यंजना-पद्धति से होता है जिसमें कर्ता का स्वभाव, रुचि, अरुचि, मनोवृत्ति, प्रकृति आदि की स्पष्टतः मिल जाती है। हमारे यहाँ के रीति-संप्रदाय में रीति का विशद विवेचन भी हुआ है और काव्य गुणों की भी समीक्षा हुई है, किंतु फिर भी कवि-स्वभाव से उस विवेचन का तादात्म्य स्थापित नहीं हो सका है।

शैली के अंग तीन होते हैं – वस्तु, रूप और व्यक्ति–तत्त्व। हमारे यहाँ के आचार्यों का विवेचन तीन में से आरंभिक दो को ही लक्ष्य करता है, तीसरे को नहीं । किंतु पश्चिमी साहित्य में शैली के जिस रूप की 'स्टाइल' के पर्याय के रूप में ग्रहण किया जाता है, वह तीसरे तत्व को ही महत्ता देता है। उसमें महत्ता कर्ता अर्थात् कवि के आत्म-तत्त्व की है। सच भी यही है कि शैली के अन्य दो तत्व –वस्तु और रूप भी व्यक्तितत्त्व के साँचे में ही गल-ढल कर प्रस्तुत होते हैं। इसीलिए वहाँ यह वाक्य अत्यधिक प्रचलित है– शैली ही स्वयं व्यक्ति है (The Style is the man himself)। यह बुफेन नामक साहित्यिक की उक्ति है और अर्से से सूत्र के रूप में उपस्थित की जाती है।

पश्चिमी साहित्य में उन तीन रूपों की ओर भी संकेत किया गया है जिनके माध्यम से कर्त्ता का व्यक्ति-तत्त्व या आत्म-तत्त्व प्रकट होता है। विलियम हडसन के मतानुसार वे तीन तत्त्व हैं-

(1) बौद्धिक तत्त्व [Intellectul Element]

(2) भाव तत्त्व (Emotional Element]

(3) सौंदर्य तत्त्व [Aesthetic Element]

डॉ. नगेंद्र का मत है कि रीति-संप्रदाय में भी इन तीनों तत्त्वों की व्यवस्था है और इस प्रकार यह नहीं माना जा सकता कि हमारे यहाँ के आचार्यों की दृष्टि आत्म-तत्त्व के प्रति एकदम उदासीन थी। इतना तो डॉ. नगेंद्र को मान्य है कि साहित्य की निर्वैयक्तिक साधना पर बल दिए जाने के कारण भारत में व्यक्ति-तत्त्व पर अत्यधिक बल नहीं दिया गया, किंतु उसकी सर्वथा उपेक्षा की गई है। डॉ. नगेंद्र इससे सहमत नहीं है। उनके अनुसार वामन द्वारा संकेतित श्लेष, प्रसाद, समाधि तथा समता बौद्धिक तत्व हैं। सौकुमार्य, उदारता तथा कांति भाव-तत्त्व हैं। ओज, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता तथा कांति सौंदर्य तत्त्व है।

निष्कर्ष रूप में डॉ. नगेंद्र का कथन है कि ''सारांश यह है कि रीति-संप्रदाय ने काव्य के बाह्य पक्ष – रचना- चमत्कार को विशेष महत्त्व दिया है इसमें संदेह नहीं, परंतु यह भी सत्य है कि उसके मानस-पक्ष की भी उपेक्षा इससे नहीं की गई। हाँ, कवि की आत्माभिव्यक्ति को महत्व नहीं मिला, यद्यपि बहिष्कार उसका भी नहीं हुआ।''

2.3.3.5 निष्कर्ष

आ. वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है। लेकिन यह सिद्धांत परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य न हो सका, क्योंकि इसमें रस की महत्ता स्वीकार नहीं की गयी। इसे रीति का एक अंग माना गया, वह भी कम महत्त्वपूर्ण। डॉ. नगेंद्र के अनुसार, ''रीति सिद्धांत'' ने रीति को काव्य की आत्मा और रस को एक साधारण अंग मात्र मानकर प्रकृत क्रम का विपर्यय कर दिया और परिणामत: उसका पतन हुआ।''

फिर भी रीति सिद्धांत का अपना महत्त्व है। रीति में वचन-विन्यास-क्रम को महत्त्व दिया जाता है, जो काव्याभिव्यंजना का एक महनीय तत्त्व है। इसके समावेश से ही काव्य आकर्षक बन पाता है, अन्यथा इसके अभाव में वह इतिहासादि की भाँति विषय का ही प्रतिपादन मात्र बनकर रह जाएगा। यह बात दूसरी है कि रीति काव्य में अंग रूप में ही स्वीकार हो सकती है, अंगी रूप में नहीं।

2.4 सारांश

1. अलंकार सिद्धांत आरंभ में काव्य की आत्मा के रूप में महत्त्वपूर्ण रहा, लेकिन विभिन्न सिद्धांतों की स्थापना के कारण आज उसे साहित्य को सुंदर बनाने का साधन मात्र माना जाता है।

2. रीतिवादी आ. वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना और रस को रीति का एक अंग, परिणामत: रीति, सिद्धांत का पतन हुआ। फिर भी इसे काव्यभिव्यंजना एक महनीय तत्व स्वीकार किया है।

3. वक्रोक्ति सिद्धांत को भी आ. कुंतक ने काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित किया, लेकिन कुंतक के साथ ही वक्रोक्ति सिद्धांत का भी प्रभाव समाप्त हो गया और वह केव एक अलंकार मात्र बनकर रह गया।

2.5 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

प्रश्न 1 : निम्नलिखित वाक्यों में दिए गए पर्यायों में से उचित पर्याय चुनकर वाक्य फिर से लिखिए।

1. विविध काव्य सिद्धांतो की निर्मिति के पीछे .... की खोज महत्वपूर्ण रही है?

   (क) काव्य की आत्मा (ख) काव्य-सम्प्रदाय (ग) रस संप्रदाय (घ) काव्य-सौंदर्य।

2. साहित्य को सुंदर बनानेवाले साधन के रूप में .... की चर्चा प्राचीन काल से रही है।

   (क) अलंकार (ख) रस (ग) रीति (घ) वक्रोक्ति।

3. साहित्यशास्त्र के स्थान पर पहले .... शब्द प्रचलित था।

   (क) अलंकारशास्त्र (ख) भाषाशास्त्र (ग) सौंदर्यशास्त्र (घ) नीतिशास्त्र।

4. रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक .... हैं?

   (क) आ. वामन (ख) आ. भरतमुनि (ग) आ. मम्मट (घ) आ. कुंतक।

5. आ. वामन ने विशिष्ट प्रकार की पदरचना को .... कहा है?

   (क) रीति (ख) वक्रोक्ति (ग) अलंकार (घ) गीति।

6. 'अग्निपुराण' के अनुसार काव्य में महान शोभा का सृजन करनेवाला तत्व .... है।

   (क) गुण (ख) ध्वनि (ग) अलंकार (घ) रीति।

7. वैदर्भी और पांचाली के मध्य की रीति को .... रीति कहते हैं।

(क) लाटी (ख) गौडी (ग) ओजस्वी (घ) श्रेष्ठ।

8. वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रस्थापक .... हैं।

(क) कुंतक (ख) वामन (ग) रूद्रट (घ) आनंदवर्धन।

9. वक्रोक्ति अंत में .... बनकर रह गई।

(क) अलंकार (ख) रस (ग) रीति (घ) गुण।

10. वक्रोक्ति की परिभाषा देते हुए– ''लोकातिक्रांतगोचरं वचनम्'' किसने कहा है?

(क) आ. भामह (ख) आ. दण्डी (ग) आ. वामन (घ) आ. कुंतक।

11. आधुनिक युग में अलकारों का वर्गीकरण .... भागोंमें किया है।

(क) दो (ख) तीन (ग) चार (घ) नौ।

12. रीति को काव्य की आत्मा .... ने मानी।

(क) वामन (ख) भामह (ग) दण्डी (घ) भरत।

13. 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति .... धातु से हुई।

(क) रीड् (ख) रीत् (ग) रति (घ) रती।

14. नाट्यशास्त्र में काव्य के .... गुण बताए हैं।

(क) दस (ख) बीस (ग) पाँच (घ) सौ।

15. रीति के प्रमुख प्रकार .... है।

(क) दो (ख) चार (ग) तीन (घ) छः।

16. 'वक्राक्ति जीवितम' ग्रंथ के रचियेता .... हैं।

(क) कुंतक (ख) वामन (ग) विश्वनाथ (घ) भरत।

17. वक्रोक्ति के भेद .... हैं।

(क) चार (ख) छ: (ग) तीन (घ) पाँच।

18. भामह ने काव्यालंकार में .... अलंकार बताए है।

(क) 40 (ख) 48 (ग) 38 (घ) 58।

19. अलंकार संप्रदाय के प्रवर्तक .... है।

(क) वामन (ख) भरत (ग) भामह (घ) कुंतक।

20. वैदर्भी रीति का .... गुण है।

(क) तेज (ख) कांति (ग) माधुर्य (घ) आप।

2.6 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

1. प्राणभृत = प्राण धारण करनेवाला, प्राण पोषक।
2. चारूता = सौंदर्य।
3. विपर्यय = उलटपलट, भ्रम।
4. अनुशीलन = चिंतन, मनन; सतत अभ्यास।
5. उपोदय = ग्रहण करने योग्य, श्रेष्ठ।
6. कांत = प्रिया, सुंदर स्त्री।

2.7 स्वयं-अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1 :

1. काव्य की आत्मा	2. अलंकार	3. अलंकारशास्त्र	4. आ. वामन
5. रीति।	6. गुण	7. लाटी	8. कुंतक
9. अलंकार10. आ. भामह।		11. तीन	12. वामन
13. रीङ्	14. दस	15. चार।	16. कुंतक
17. छः	18. 38	19. भामह	20. माधुर्य।

2.8 स्वाध्याय

प्रश्न 1 : दीर्घोत्तरी प्रश्न।

1. अलंकार की अवधारणा स्पष्ट करते हुए, अलंकार सिद्धांत का सामान्य परिचय दीजिए।
2. रीति की अवधारणा स्पष्ट करते हुए काव्य-गुणों को विषद कीजिए।
3. रीति सिद्धांत का सामान्य परिचय देकर, रीति के भेद स्पष्ट किजिए।
4. वक्रोक्ति सिद्धांत का परिचय देते हुए, वक्रोक्ति के भेदों पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 2 : लघुत्तरी प्रश्न।

1. आधुनिक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत अलंकारों का वर्गीकरण स्पष्ट कीजिए।

2. रीति की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
3. वक्रोक्ति के भेदों का परिचय दीजिए।
4. वक्रोक्ति की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
5. अलंकार की परिभाषा बताईए।

2.9 क्षेत्रीय कार्य

1. मराठी काव्यशास्त्र में वर्णित अलंकारों का अध्ययन कीजिए।
2. मराठी और हिंदी में प्रयुक्त शब्दालंकारों के उदाहरण संकलित कीजिए।
3. काव्य में प्रयुक्त वक्रोक्ति के उदाहरण को संकलित कीजिए।

2.10 अतिरिक्त अध्ययन के लिए।

1. काव्यशास्त्र : भारतीय एवं पाश्चात्य - डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी। डॉ. अमित अवस्थी। प्रकाशक-आशीष प्रकाशन, कानपुर
2. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत (भाग 1, 2) - डॉ. गोविंद त्रिगुणायत। प्रकाशक-भारती साहित्यमंदिर, दिल्ली
3. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की रूपरेखा - तेजपाल चौधरी। प्रकाशक-विकास प्रकाशन, कानपुर
5. भारतीय साहित्यशास्त्र - बलदेव उपाध्याय। प्रकाशक-नंदकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी

❑❑❑

सत्र 3 : इकाई 3
वक्रोक्ति सिद्धांत – ध्वनि सिद्धांत – औचित्य सिद्धांत

अनुक्रम

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 विषय–विवेचन

3.3.1 वक्रोक्ति सिद्धांत

3.3.1.1 वक्रोक्ति अर्थ एवं परिभाषा

3.3.1.2 वक्रोक्ति की अवधारणा

3.3.1.3 वक्रोक्ति के भेद

3.3.2 ध्वनि सिद्धांत

3.3.2.1 ध्वनि की परिभाषा एवं स्वरूप

3.3.2.2 स्फोट सिद्धांत और ध्वनि

3.3.2.3 ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद

3.3.3 औचित्य सिद्धांत

3.3.3.1 औचित्य की परिभाषा एवं स्वरूप

3.3.3.2 औचित्य की अवधारणा

3.3.3.3 औचित्य के भेद

3.4 सारांश

3.5 स्वयं–अध्ययन के लिए प्रश्न

3.6 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

3.7 स्वयं–अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

3.8 स्वाध्याय

3.9 क्षेत्रीय कार्य

3.10 अतिरिक्त अध्ययन के लिए

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

1. वक्रोक्ति के भेदों से परिचित होंगे।
2. ध्वनि के स्वरूप से परिचित हो जाएँगे।
3. ध्वनि सिद्धांत का सामान्य परिचय प्राप्त कर पाएँगे।
4. ध्वनि काव्य के प्रमुख भेदों से परिचित हो जाएँगे।
5. स्फोट ध्वनि से परिचित हो जाएँगे।
6. औचित्य की अवधारणा से परिचित हो जाएँगे।
7. औचित्य का महत्त्व समझ पाएँगे।
8. औचित्य का सामान्य परिचय प्राप्त कर पाएँगे।
9. औचित्य का अर्थ ग्रहण करेंगे।
10. औचित्य के भेदों को जान जाएँगे।
11. जीवन में औचित्य का महत्त्व समझ जाएँगे।

3.2 प्रस्तावना

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य का प्राणतत्व अर्थात काव्य की आत्मा को लेकर गहरा विचार विमर्श हुआ है। साहित्य में रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य को काव्य में सर्वश्रेष्ठ तत्व सिद्ध करने का प्रयास किया गया। विविध विचार प्रवाह, मतमतांतर से विविध सिद्धांतों की स्थापना हुअी। ध्वनि सिद्धांत भी इसे अपवाद नहीं है। वैसे देखा जाय तो उपर्युक्त सभी सिद्धांतों का साहित्य में अपना स्थान अक्षुण्य है। किसी एक के अभाव में काव्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्वादिष्ट भोजन में सभी व्यंजनों का अपना महत्व रहता है। यह बात साहित्य के विविध सिद्धांतों पर भी लागू होती है।

ध्वनि सिद्धांत भारतीय समीक्षा प्रणाली की अप्रतिम सैद्धांतिक उपलब्धि है। आनंदवर्धन ने इस सिद्धांत की स्थापना की। काव्य की आत्मा स्वीकृत होने पर भी रस मुख्यत: नाट्य क्षेत्र का हृदय–काव्य का आस्वाद्य तत्त्व बना रहा था। काव्य के अंतरंग तत्व के रूप में उसका निरूपण अब तक सही रूप में नहीं हो पाया था। अत: रस, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति में बिखरे हुए काव्य तत्वों को सुसंगठित रूप देने का दायित्व स्वीकारते हुए आनंदवर्धन ने ध्वनि सिद्धांत की स्थापना की।

ध्वनि सिद्धांत की स्थापना करते समय आनंदवर्धन के सामने दो उद्देश्य निश्चित थे। एक तो यह कि अलंकार और रीति सिद्धांत की असंपूर्णता बतलाते हुए ध्वनि सिद्धांत की स्थापना करना और दूसरा यह कि काव्य के विभिन्न अंगों का (रसादि) ध्वनि सिद्धांत के प्रकाश में अवलोकन करते हुए उनका ध्वनि से संबंध स्थापित करना।

आनंदवर्धन सचमुच ही एक अत्यंत प्रतिभाशाली काव्यशास्त्री थे। अपनी अप्रतिम प्रतिभा से तथा श्रेष्ठ तर्कों से उन्होंने ध्वनि को अत्यंत महत्त्वपूर्ण और सर्वसमावेशक सिद्धांत बनाया। उन्हे जो शिष्य प्राप्त हुए वे भी उनके समान प्रतिभाशाली थे। उनके शिष्य अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक लोचन' में तथा मम्मट ने 'काव्य प्रकाश'में ध्वनि सिद्धांत का प्रबल समर्थन किया और इस तरह आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट की अद्भूत प्रज्ञाओं के कारण ध्वनि सिद्धांत भारतीय समीक्षा प्रणाली का एक अप्रतिम सिद्धांत बना।

आचार्य क्षेमेंद्र ने काव्य में औचित्य को विशेष महत्त्व दिया है। ध्वनिकार आनंदवर्धन ने काव्य के प्राणभूत रस के साथ औचित्य का घनिष्ठ संबंध स्थापित किया है। आचार्य क्षेमेंद्र ने औचित्य के बारे में कहा है कि काव्य में उचित भाव का होना ही औचित्य है। रोमीय आलोचक होरेस ने 'आर्स पोएटिका' ग्रंथ में औचित्य पर विस्तृत विचार रखे हैं। वे हर विधा में तदनुरूप वस्तु का उचित अनुपात जरूरी मानते हैं।

3.3 विषय–विवेचन

3.3.1 वक्रोक्ति सिद्धांत

साहित्य में ध्वनि सिद्धांत के दृढ़ स्थापन काल में ही वक्रोक्ति सम्प्रदाय का जन्म हुआ। इस सम्प्रदाय के प्रस्थापक आचार्य कुंतक हैं। कुंतक के समय में आनंदवर्धनाचार्य के ध्वनि सिद्धांत की महत्ता प्राय: सभी आचार्यों ने स्वीकार कर ली थी। पूर्वाचार्यो द्वारा प्रस्थापित अलंकार, रीति, रस, औचित्य आदि सम्प्रदायों का अंतर्भाव ध्वनि संप्रदाय में ही करके आनंदवर्धनाचार्य ने उन सभी काव्य तत्वों की निश्चित रूपरेखा और महत्व स्थिर कर दिया था। किंतु आचार्य कुंतक ने ध्वनि के इस व्यापक सिद्धांत का विरोध कर 'वक्रोक्ति: काव्यजीवितम्' की उद्घोषणा की। भारतीय साहित्य में वक्रोक्ति प्राचीन काल से ही किसी न किसी रूप में प्रयुक्त थी। कुंतक ने इसे व्यापक रूप देकर संप्रदाय विशेष के रूप में प्रतिष्ठित किया।

3.3.1.1 वक्रोक्ति अर्थ एवं परिभाषा

वक्रोक्ति का अर्थ : वक्रोक्ति शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है – वक्र+उक्ति।

वक्र का अर्थ है– कुटिल या विश्लेषण और उक्ति का अर्थ है– कथन। अतः वक्रोक्ति से अभिप्राय है बांकपन या विलक्षणता से भरा हुआ कथन।

किसी बात को सामान्य ढंग से व्यक्त करने में सरसता नहीं आती। अतः उसे चमत्कारिक ढंग से या विलक्षणता से व्यक्त करना ही वक्रोक्ति है।

वक्रोक्ति संप्रदाय की स्थापना आचार्य कुंतक ने दसवी–ग्यारहवीं शताब्दी में की। किंतु भारतीय काव्यशास्त्र के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी वक्रोक्ति को पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया है। उत्तरवर्ति आचार्यों ने वक्रोक्ति को जहाँ एक अलंकार मात्र माना, वहाँ भामह, दण्डी आदि इसे काव्यकला के संपूर्ण चारूत्व के रूप में ग्रहण करते हैं। उनके 'वक्रोक्ति विवेचन' से कुंतक को पर्याप्त सहाय्यता मिली है। सबसे पहले बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में वक्रोक्ति को कवि का दुर्लभ वैशिष्ट्य बतलाते हुए लिखा है– ''नया अर्थ, ग्राम्यत्व

रहित जाति, सरल श्लेष, स्फुट (सहज संवेद्य) रस, विकट (सुंदर) अक्षरों का प्रयोग- ये सब गुण एक ही काव्य में सहजता से नहीं मिलते।

आ. नगेंद्र का मत है कि कवि बाणभट्ट ने इन सब विशेषताओं का उल्लेख 'वक्रोक्ति' के अर्थ में किया है। बाणभट्ट की कादंबरी में- ''वक्रोक्ति-निपुणेनाख्यायिकाख्यानपरिचय-चतुरेण'' (वक्रोक्ति में निपुण आख्यान-आख्यायिका से परिचित चतुर कवि के द्वारा) इस कथन में वक्रोक्ति शब्द का जितने व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है, वह इस बात की पुष्टि करता है।

इस कथन से कम से कम यह संकेत अवश्य मिलता है कि बाणभट्ट के समय (सातवी शताब्दी के मध्य में) वक्रोक्ति कवि प्रतिभा का महत्वपूर्ण अंग मानी जाती थी और उसका प्रयोग अलंकार विशेष के अर्थ में नहीं होता था। महाकवि बाण की 'कादंबरी' में तथा 'अमरूकशतक' में वक्रोक्ति शब्द का अर्थ क्रीडा-फलाष या परिहास के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

वक्रोक्ति की परिभाषा - विभिन्न विद्वानों की परिभाषाएँ निम्नलिखित है-

आ. भामह :

भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का पर्यायवाची मानते हैं। उनके अनुसार यह वाग्-वैदग्ध्य का एक रूप है और सभी अलंकारों का मूल भी। वक्रोक्ति की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा है-

''लोकातिक्रांतगोचरं वचनम्''

अर्थात लोक की साधरण कथन प्रणाली से भिन्न उक्ति ही वक्रोक्ति है। भामह यह भी कहते हैं कि जहाँ वक्रोक्ति नहीं वहाँ अलंकारत्व संभव ही नहीं।

आ. दण्डी :

अपने 'काव्यादर्श' में वक्रोक्ति का विवेचन कुछ अधिक स्पष्ट रूप में किया है। उन्होंने संपूर्ण वाङ्मय को दो वर्गों में विभाजित किया- स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। उन्होंने माना कि शास्त्र स्वभावोक्ति का क्षेत्र है और काव्य वक्रोक्ति का। इन्होंने वक्रोक्ति को स्वाभावोक्ति के अतिरिक्त अर्थालंकारों का सामूहिक रूप माना है। उन्होंने लिखा है-

''वक्रोक्तिशब्देन उपमादय: संकीर्णपर्यंता: अलंकारा: उच्यन्ते।''

अर्थात् वक्रोक्ति शब्द से उपमा से लेकर संकीर्ण तक सब अलंकारों का बोध होता है। दण्डी पदार्थों के सहज वर्णन को स्वभावोक्ति मानते हैं और अलंकृत वर्णन को 'वक्रोक्ति'।

आचार्य वामन :

इन्होंने 'काव्यालंकारसूत्र' में वक्रोक्ति को एक अर्थालंकार माना है। इसके लक्षण देते हुए लिखा है-

''सादृश्याश्रमात लक्षणा वक्रोक्ति:''

अर्थात् सादृश्य पर आश्रित लक्षणा 'वक्रोक्ति' कहलाती है।

बाद में संप्रदाय के आचार्योंने इसे अलंकार विशेष ही माना। किंतु कुछ आचार्य इसे शब्दालंकार मानते हैं; जैसे रूद्रट, मम्मट, वाग्भट, विद्याधर, हेमचंद्र, जयदेव आदि।

रुद्रट ने इसके काकु वक्रोक्ति और श्लेष वक्रोक्ति दो भेद किए हैं।

आ. कुंतक :

इन्होंने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रंथ में वक्रोक्ति के स्वरूप और महत्व की विषद व्याख्या की है। वक्रोक्ति को उन्होंने काव्य का प्राण तत्व माना है-

''वक्रोक्ति: काव्यजीवितम्''

वक्रोक्ति का लक्षण देते हुए उन्होंने लिखा है-

''वक्रोक्तिरेव वैदग्धभंगीभणितिरूच्यते''

अर्थात् वाक्वैदग्ध्यपूर्ण विचित्र उक्ति ही 'वक्रोक्ति' है। कुंतक ने वक्रोक्ति में तीन बातें आवश्यक मानी हैं- कवि कौशल या कवि प्रतिभा व्यापार, चमत्कार और उक्ति। महिमभट्ट, अभिनवगुप्त भी कुंतक के मत की पुष्टि करते हैं।

उत्तरवर्ति आचार्यो ने वक्रोक्ति को न तो काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया और न उसे सब अलंकारों की प्राणभूता ही माना और वक्रोक्ति संप्रदाय का प्रभाव कुंतक के साथ ही समाप्तप्राय हो गया। उनकी वक्रोक्ति रूय्यक और अप्पय दीक्षित आदि आचार्यों के ग्रंथों में अर्थालंकार तथा मम्मट और विश्वनाथ आदि आचार्यों की दृष्टि में शब्दांलकार मात्र बनकर रह गयी।

3.3.1.2 वक्रोक्ति की अवधारणा

वक्रोक्ति सम्प्रदाय का 'वक्रोक्ति' शब्द 'वक्र' और 'उक्ति' शब्दों के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है, 'वह उक्ति जिसमें वक्रता हो।' 'वक्र' शब्द कुटिल, टेढ़ा आदि अर्थों में प्रचलित है, परंतु वक्रोक्ति सम्प्रदाय में यह वही अर्थ रखता है, जो इससे विकसित तद्भव 'बाँका' शब्द। अत: पारिभाषिक अर्थों में वक्रोक्ति वह सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति है, जो सामान्य कथन से भिन्न हो। अत: कुंतक की 'वक्रोक्ति' में काव्य कला के सम्पूर्ण सौंदर्य का अंतर्भाव हो जाता है।

आचार्य कुंतक ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' में वक्रोक्ति का लक्षण देते हुए लिखा है, ''वक्रोक्ति विदग्धता के सौंदर्य से युक्त कथन का नाम है।'' कुंतक इसकी स्पष्ट व्याख्या करते हुए लिखते हैं- ''प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात वर्णन शैली ही 'वक्रोक्ति' है।'' 'कैसी विद्ग्धता की भंगिमा से युक्त उक्ति? इस प्रश्न का समाधान करते हुए वक्रोक्तिकार कहते हैं- विदग्धता का अर्थ है काव्यकला, उसकी भंगिमा से युक्त विचित्र कथन, वही 'वक्रोक्ति' है।

आचार्य कुंतक ने रचना में निबद्ध ऐसे शब्द-अर्थ को काव्य कहा है जो वक्र कवि व्यापार (वक्रोक्ति) से युक्त तथा काव्यज्ञ पाठकों को आह्लाद प्रदान करने वाले हों। उनके शब्दों में-

''शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।

बंधे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाहलादकारिणी।।''

अर्थात् वक्रोक्ति से युक्त, रचना में निबद्ध, काव्य के मर्मज्ञ सहृदयों को आनंद प्रदान करनेवाले हितकारक शब्द और अर्थ ही काव्य हैं।

इन पंक्तियों से वक्रोक्ति के संबंध में आचार्य कुंतक की निम्नलिखित मान्यताएँ स्पष्ट होती हैं-

1. वक्रोक्ति सामान्य कथन न होकर वक्रतापूर्ण कथन है।

2. सामान्य कथन से कुंतक का तात्पर्य लोक और शास्त्र में प्रचलित अभिधात्मक कथन से है।

3. वक्रोक्ति चमत्कारपूर्ण उक्ति होती है। अलंकार योजना और अन्य चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्तियाँ वक्रोक्ति के अंग हैं।

4. वक्रोक्ति में ही सहृदय सामाजिकों को आह्लादित करने की क्षमता होती है। कला विरहित कथन पाठकों को आनंद प्रदान नहीं कर सकता।

5. वक्रोक्ति या काव्यकला प्रतिभाजन्य होती है। प्रतिभा के बिना सामान्य कथन ही संभव है, काव्य रचना नहीं।

कुंतक वक्रोक्ति का क्षेत्र अत्यंत व्यापक मानते हैं। उसमें काव्य के समस्त अवयवों का अंतर्भाव हो जाता है।

आगे चलकर वक्रोक्ति के इस अर्थ में संकोच हुआ है। आ. वामन ने इसे एक सामान्य अर्थालंकार माना है। रूद्रट ने वक्रोक्ति को वाक्छल पर आधारित शब्दालंकार तथा अर्थालंकार स्वीकार किया है। आनंदवर्धन ने वक्रोक्ति की स्वतंत्र व्याख्या तो नहीं की हैं, परंतु इसे विशिष्ट अलंकारों के रूप में ग्रहण करते हुए इसके सामान्य तथा व्यापक रूप को स्वीकार किया है। आनंदवर्धन ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को पर्याय मानते हुए सभी अलंकारों को अतिशयोक्ति गर्भित माना है। अभिनव गुप्त ने वक्रोक्ति के सामान्य रूप को स्वीकार किया है। उनके अनुसार शब्द और अर्थ की वक्रता का आशय है- उनकी लोकोत्तर स्थिति और इस लोकोत्तर का अर्थ अतिशय ही है। भोज ने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति से उत्कृष्ट, परंतु रसोक्ति से निकृष्ट माना है। मम्मट ने वक्रोक्ति को अलंकार के रूप में ही स्वीकार किया है और रूद्रट के आधार पर उसका कारक और भंगश्लेष भेद किया है। रूय्यक ने इसे व्यापक रूप में स्वीकार करते हुए भी अर्थालंकार विशेष ही माना है। आगे की परंपरा में दीक्षित ने अर्थालंकार और विश्वनाथ ने शब्दालंकार माना है।

वक्रोक्ति सिद्धांत का जिस महान् उद्देश्य को लेकर आरंभ किया गया था, वह उद्देश्य बाद में समाप्त हो गया। आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इसे अलंकार-विशेष का रूप प्रदान करके उक्ति-वैचित्य का साधन सिद्ध कर दिया है। अलंकार सिद्धांत के अति समीप आकर वक्रोक्ति सिद्धांत का पतन हुआ और वह अलंकार बनकर रह गया। कुंतक के अतिरिक्त किसी भी आचार्य ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहना उचित नहीं समझा है।

3.3.1.3 वक्रोक्ति के भेद

आ. कुंतक ने प्रबंध के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंगों को दृष्टि में रखकर वक्रोक्ति के निम्नलिखित छ: भेद किए हैं-

1. वर्ण-विण्यास वक्रता।
2. पद-पूर्वार्ध वक्रता।
3. पद-परार्ध वक्रता।
4. वाक्य वक्रता।
5. प्रकरण वक्रता।
6. प्रबंध वक्रता।

1. वर्ण-विण्यास वक्रता :

रचना में वर्णों के सौंदर्य को आचार्य कुंतक ने 'वर्णविन्यास वक्रता' कहा है। वे कहते हैं कि जहाँ एक दो या अनेक समान वर्ण बार-बार प्रयुक्त होते हैं, वह वर्णविण्यास वक्रता कही जाती है। उन्होंने इस वक्रता के कई रूपों का उल्लेख किया है, जैसे-एक वर्ण की अनेक बार आवृत्ति, दो वर्णों की अनेक बार आवृत्ति या अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति। वर्ण-विन्यास सौंदर्य में आचार्यों ने यमक और अनुप्रास का विवेचन किया है। अनुप्रास योजना के संदर्भ में वे लिखते हैं- ''अनुप्रास के सौंदर्य के लिए कवि को अति निर्बंध न होना चाहिए। वर्ण कर्ण मधुर और सुंदर होने चाहिए। उनकी योजना स्वाभाविक होनी चाहिए।

उदा.: *''कंकन किंकिनि नुपूर धुनि सुनि*
कहत लखन सन रामु हृदय गुनि।।''

इसमें पंचम् वर्ण का संयोग (कंकन, किंकिनि।; त, ल, न की आवृत्ति (कहत, लखन, सन) का सौंदर्य है। इसी प्रकार प्रसाद गुण (क्लिष्टता से बचता), शब्द माधुर्य और औचित्य को यमक में आवश्यक माना है।

2. पद–पूर्वार्ध वक्रता :

संस्कृत व्याकरण में शब्दों के दो अंश माने गए हैं– मूल शब्द या क्रिया (धातु) और प्रत्यय। इन दोनों के संयोग से पद बनता है। आ. कुंतक ने मूल शब्द को 'पद–पूर्वार्ध' कहा है और प्रत्ययों को 'पद–पूर्वार्ध'। पदपूर्वार्ध वक्रता में मूल शब्द (प्रकृति) का सौंदर्य आता है। इसके आठ भेद किये गए हैं– (1) रूढ़िवैचित्य वक्रता (2) पर्याय वक्रता (3) उपचार वक्रता (4) विशेषण वक्रता (5) संवृत्ति वक्रता (6) वृत्ति वक्रता (7) लिंग–वैचित्य वक्रता तथा (8) क्रियावैचित्य वक्रता।

3. पद–परार्ध वक्रता :

काव्य के सौंदर्य में जितना मूल शब्द का योगदान होता है, उतना ही उसमें लगने वाले व्याकरणिक प्रत्ययों और उपसर्गों का। ये प्रत्यय काल, कारक, पुरुष, वचन आदि का बोध कराते हैं। इनके चमत्कार पूर्ण प्रयोग को 'पद–परार्ध वक्रता' कहते हैं। उल्लेखनीय है कि उपसर्गों की स्थिति शब्द रचना में मूल शब्द से पूर्व होती है, परंतु उसकी गणना 'परार्ध वक्रता' में की गयी है क्योंकि उपसर्ग भी जोड़ी जाने वाली इकाई है। इसके 7 भेद हैं– (1) कालवैचित्य वक्रता (2) कारकवैचित्य वक्रता (3) वचनवैचित्य वक्रता (4) पुरुषवैचित्य वक्रता (5) उपग्रह वक्रता (6) प्रत्यय वक्रता और (7) उपसर्ग वक्रता।

4. वाक्य वक्रता :

पदों के संयुक्त रूप से वाक्य बनता है। वाक्य वक्रता कवि प्रतिभा पर आश्रित है। अत: प्रतिभा के समान यह वक्रता भी भिन्न और विविध रूपिणी होती है। प्रधान रूप से इसके अंतर्गत अलंकारों पर विचार किया गया है। कुंतक ने अलंकारों का मार्मिक विवेचन किया है। अलंकार में वह चारूत्व के अतिरिक्त वैचित्र्य और कवि प्रतिभा को भी विशेष महत्व देते हैं। अलंकार के साथ–साथ रस वैचित्र्य को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है। वाक्य वक्रता के अंतर्गत वस्तु वक्रता भी आती है। वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का बताया है– स्वभाव प्रधान और रस प्रधान। स्वभाव प्रधान में स्वभावोक्ति अलंकार का वर्णन किया गया है। रस प्रधान में रस का चमत्कार।

5. प्रकरण वक्रता :

वाक्यों के सहयोग से प्रकरण बनता है। प्रकरण प्रबंध का एक अंश मात्र है। अत: प्रबंध–सौष्ठव के लिए प्रकरण की चारूता (सौंदर्य) पर भी ध्यान देना आवश्यक है। अनेक लालित्य–पूर्ण और सरस प्रसंगों से प्रकरण में सौंदर्य का समावेश किया जाता है। कुंतक ने ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख उदाहरणसहित किया है। जैसे नायक के चरित्र को चित्रित करनेवाले प्रसंग, रसपूर्ण प्रसंग, विविध प्रकरणों में सामंजस्य स्थापित करनेवाले प्रसंग तथा कथानक विस्तार में सहायक प्रसंग आदि प्रकरण वक्रता के ही भिन्न प्रकरण हैं।

6. प्रबंध वक्रता :

आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति सिद्धांत को अत्यंत व्यापक स्वरूप प्रदान किया है। वे उसे वर्णों से लेकर प्रबंध तक ले गए हैं। 'प्रबंध वक्रता' के अंतर्गत उन्होंने महाकाव्य नाटक, खण्डकाव्य, कथा, आख्यायिका

आदि कथात्मक विधाओं के समग्र सौंदर्य को समेटने का प्रयास किया है। इसके वे छह भेद करते हैं– (1) मूल कथा के रस में परिवर्तन (2) नायक के चरित्र को उभारने के लिए कथा की उचित मोड पर समाप्ति, (3) स्रोत कथा को उसके उपसंहार तक न पहुँचाकर 'कार्य सिद्धी' होते ही समाप्त कर देना, (4) मुख्य 'फल' के साथ अन्य फलों की प्राप्ति, (5) कृति का उचित नामकरण और (6) एक ही कथा पर आधारित प्रबंधों में वैविध्य।

2.3.3.4 निष्कर्ष

आनंदवर्धनाचार्य के ध्वनि सिद्धांत की महत्ता जब सभी आचार्य स्वीकार कर चुके थे, तब कुंतक ने वक्रोक्ति सिद्धांत की स्थापना की। वक्रोक्ति में काव्य–कला के संपूर्ण सौंदर्य का अंतर्भाव हो जाता है। आ. कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है, लेकिन किसी अन्य आचार्यों ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा नहीं माना है। जिस उद्देश्य को लेकर इसका आरंभ हुआ था, वह उद्देश्य बाद में समाप्त हो गया। आ. मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इसे अलंकार विशेष का रूप प्रदान किया। वक्रोक्ति सम्प्रदाय का प्रभाव आ. कुंतक के साथ ही समाप्त हो गया। आ. कुंतक के बाद यह संप्रदाय भी अलंकार और रीति संप्रदायों की भाँति काव्य का वस्तुपरक विवेचन ही करता रहा और कारण के आत्मतत्व तक पहुँचने में असफल रहा है।

3.3.2 ध्वनि सिद्धांत

3.3.2.1 ध्वनि की परिभाषा एवं स्वरूप

ध्वनि की व्युत्पत्तिमूलक परिभाषाएँ इस प्रकार हो सकती हैं।

1. ध्वनित य: स: व्यंजक: शब्द: ध्वनि:।

   अर्थात् ध्वनित होनेवाला व्यंजक शब्द 'ध्वनि' होता है।

2. ध्वनित ध्वनयति व य: स: व्यंजक: अर्थ: ध्वनि:।

   अर्थात् ध्वनित होनेवाला अथवा ध्वनित करनेवाला व्यंजक अर्थ 'ध्वनि' होता है।

3. ध्वन्यते इति ध्वनि:।

   अर्थात् जो ध्वनित होता है, वह 'ध्वनि' है।

4. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनि:।

   अर्थात् जिसके द्वारा ध्वनन होता है वह 'ध्वनि' होता है– (व्यंजनादि शक्ति)

5. ध्वन्यते अस्मिन् इति ध्वनि:।

   अर्थात् जिसमें ध्वनन होता है वह 'ध्वनि' है। वस्तु, अलंकार, रस आदि जिसमें ध्वनित होते हैं वह काव्य ध्वनि है।

'ध्वननं ध्वनि' का अर्थ है ध्वनित होना। इस तरह अपने व्युत्पत्ति मूलक अर्थ में व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंग्य अर्थ, व्यंजना व्यापार तथा व्यंग्य प्रधान काव्य इनमें ध्वनि का विस्तार मिलता है। रस, अलंकार वस्तु इत्यादि काव्य में ध्वनि होते हैं। अत: ये सब ध्वनि है।

ध्वनि सिद्धांत के प्रतिष्ठापक आचार्य आनंदवर्धन ने अपने 'ध्वन्यालोक' ग्रंथ में ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार दी है-

''यत्रार्थ: शब्दों वा तमर्थमुपर्सनीकृत स्वार्थो,

व्यक्त: काव्यविशेष:स ध्वनिरीति सूरिभि: कथित:।''

अर्थात् जहाँ शब्द और अर्थ अपनी-अपनी सत्ता को गौण करके जिस विशेष अर्थ को प्रकाशित करते हैं वहाँ ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ होता है। दूसरे शब्दों में- ''जिस रचना में वाचक विशेष और वाच्य-विशेष अपने अभिधेय अर्थ को गौण बनाकर काव्यार्थ (व्यंग्यार्थ) को प्रकाशित करते हैं, वह 'ध्वनि' कहलाती है।''

ध्वनिकार आंनदवर्धन ध्वन्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ को ध्वनि कहते हुए इसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं- महाकवियों की वाणी में प्रसिद्धार्थ (वाच्यार्थ) से जो अतिरिक्त अर्थ घोषित होता है उसे ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ कहते हैं। वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की यह भिन्नता उस प्रकार भासित होती है जिस प्रकार नारी के अंगों से फूटता हुआ लावण्य उन अंगों से भिन्न रूप से भासित होता है-

''प्रतियमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

यतत् प्रसिद्धावयातिरिक्त विभाति लावण्यमिवांगनासु।।''

यद्यपि आनंदवर्धन के 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधेर्य: समाम्न्तापूर्व: अंर्थात् विद्वत्ज्जनों के काव्य की आत्मा ध्वनि है इस मत का समादार किया है। किन्तु स्वयं आनंदवर्धन ध्वनि को रस का पोषक मात्र मानते हैं। आनंदवर्धनाचार्य के विचारों से काव्य-विशेष वह ध्वनि है जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौर करके रस-युक्त अर्थ व्यंजित करते हैं। यह अर्थ विलक्षण होता है।

ध्वनि का मूल आधार शब्द-शक्तियाँ हैं। ध्वनि का विवेचन करते समय शब्द शक्तियों का विस्तृत विवेचन, आनंदवर्धन ने किया है। ये शब्दशक्तियाँ अर्थात् शब्द के व्यापार तीन माने गए हैं-

1. अभिधा 2. लक्षणा 3. व्यंजना।

ध्वनि काव्य का सम्बन्ध वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ आदि से है। अत: ध्वनि के स्वरूप को समझने के लिए 'शब्दशक्ति' का विश्लेषण यहाँ पर आवश्यक है।

1. **अभिधा :** वह शब्द शक्ति या शब्द का व्यापार है जिसमें साक्षात् संकेतित या मुख्य अर्थ का बोध होता है। मुख्य या प्रथम अर्थ का बोध कराने के कारण इस अभिधा शक्ति को 'मुख्या' या 'अग्रिमा' भी

कहते हैं। जिस शब्द से मुख्य अर्थ का बोध होता है, वह 'वाचक' कहलाता है तथा उससे निकलने वाले मुख्य अर्थ को 'वाच्यार्थ' कहते हैं।

अभिधा शब्द शक्ति से जिन शब्दों की अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, वे तीन प्रकार के माने जाते हैं-

1. **रूढ़ :** घर, तरू, चंद्र, घोडा आदि।

2. **यौगिक :** तरूजीवी, पशुतुल्य, नरपीत।

3. **योगरूढ़ :** जैसे- पंकज, चन्द्रमौल, चक्रधर आदि।

2. **लक्षणा :** मुख्यार्थ या वाच्यार्थ में बाधा या व्याघात के होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के सहारे, उससे संबंधित, जहाँ पर अन्य अर्थ लक्षित होता है, वहाँ पर लक्षणा शक्ति काम करती है।

रूढ़ि और प्रयोजन के आधार पर लक्षणा के दो भेद होते हैं-

1. रूढ़िलक्षणा 2. प्रयोजनवती लक्षणा।

3. **व्यंजना :** व्यंजना का शब्दार्थ है विशेष रूप से स्पष्ट करना, खोलना या विकसित करना। अभिधा और लक्षणा शक्तियों के अपना अर्थ-बोध कराने के बाद जिस शक्ति से अन्य अर्थ का बोध होता है, उसे व्यंजना कहते हैं। ऐसे शब्द को व्यंजक और अर्थ को व्यंग्यार्थ कहा जाता है। उदा.: 'गंगा में गाँव।' इसका अर्थ देने में अभिधा असमर्थ है क्योंकि गंगा में गाँव नहीं हो सकता। लक्षणा से अर्थ निकला, गंगा के किनारे गाँव परंतु इसके बाद भी इसका अर्थ 'पवित्र, शीतल गाँव' यह अर्थ व्यंजना शक्ति के द्वारा ही संभव है। व्यंजना के- अभिधामूला शाब्दी व्यंजना, लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना, आर्थी व्यंजना। प्रमुख भेद है जिसपर ध्वनि सिद्धांत खडा है।

काव्य के संदर्भ में इनमें से व्यंजना विशेष रूप से प्रकाशन करने की शक्ति है। व्यंजनाशक्ति ध्वनि सिद्धांत की आधार शीला है। व्यंग्यार्थ की प्रधानता जिसमें है, उसे ही उत्तम काव्य माना जाता है।

आनंदवर्धन ने व्याकरण शास्त्र के स्फोट सिद्धांत को लेकर ध्वनि सिद्धांत की स्थापना की। उन्होंने बताया कि जिस प्रकार शब्द के अलग-अलग वर्णो के उच्चारण से अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी तरह अभिधा या लक्षणा के द्वारा भी संपूर्ण अर्थ को मार्मिक अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। यह मार्मिक अर्थ व्यंजना के द्वारा ही प्राप्त होता है। अभिधा और व्यंजना के उपरान्त व्यंजना से ध्वनित होनेवाला चमत्कारिक अर्थ ही ध्वनि है। ध्वनि काल में यह ध्वनि 'अनुरणन' के रूप में होती है। घंटे पर आघात करने से पहले तो टंकार होती है, और बाद में अनुगूँज के रूप में लहरियों से युक्त झंकार होती है। रसिक की दृष्टि से यह मधुर झंकार ही श्रव्य तथा महत्त्वपूर्ण होती है। इसी तरह काव्य में अभिधा की अपेक्षा व्यंजना महत्वपूर्ण होती है। अभिधा घंटे की टंकार के समान, तथा व्यंजना मधुर झंकार की तरह होती है। घंटे की टंकार व झंकार की तरह ही काव्य में दो अर्थ होते हैं।

1. वाच्यार्थ और 2. व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ)। काव्य का विशेष अर्थ वाचक और वाच्य के द्‌वारा ही अभिव्यक्त होता है। परंतु वस्तुत: व्यंग्यार्थ ही प्रधान होता है। 'सहृदयश्लाघ्य' अर्थ तो व्यंग्यार्थ ही होता है। शब्दगत व अर्थगत चमत्कार सहृदयों को कुछ क्षणों के लिए भले ही प्रभावित करें, परंतु विशिष्ट अर्थ के बिना हृदयों को आंतरिक रूप से प्रभावित करने का लावण्य चमत्कार पूर्ण शब्द- अर्थ में नहीं होता। व्यंग्यार्थ अथवा ध्वन्यर्थ ही वास्तव में सहृदय को सच्चा-सही आनंद प्रदान कर सकता है। वाच्यार्थ को गौण बनाकर व्यंग्यार्थ को प्रकट करने की शक्ति ही व्यंजना शक्ति होती है, और वही ध्वनि है। ध्वनि की कुछ इसी प्रकार की परिभाषा स्वयं आनंदवर्धन ने की है। उन्हीं के शब्दों में, ''जिस रचना में वाचक विशेष और वाच्य-विशेष अपने अभिधेय अर्थ को गौण बनाकर काव्यार्थ (व्यंग्यार्थ) को प्रकाशित करते हैं, वह 'ध्वनि' कहलाती है।

ध्वनि का स्वरूप :

'ध्वनि'शब्द का अर्थ : 'ध्वनि' शब्द संस्कृत भाषा का है। ध्वनि शब्द संस्कृत भाषा के 'ध्वन्' धातु से बना है। 'ध्वन्' धातु में 'इ' प्रत्यय लगकर ध्वनि शब्द बना है। 'ध्वनि' शब्द का सामान्य अर्थ आवाज है। अंग्रेजी में इसे Sound कहते हैं। 'हिंदी साहित्य कोश' में ''सामान्य व्यवहार में कानों को सुनाई पडनेवाले नाद को 'ध्वनि' कहा गया है।'' पारिभाषिक शब्द के रूप में ध्वनि के आचार्यों ने उसका व्यवहार व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंजना व्यापार तथा व्यंग्य काव्य के अर्थों में किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य की आत्मा के विषय में विचार करनेवाले जो काव्य-सिद्‌धांत हैं, उनमें ध्वनि-सिद्‌धांत बहुत-ही महत्त्वपूर्ण है। साहित्य का सौंदर्य समझने की दृष्टि से ध्वनि सिद्‌धांत को बहुत उपयोगी माना जाता है। अत: जिन आचार्यों ने काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि को महत्व दिया है उनके मतों को जानने से ध्वनि सिद्‌धांत का सामान्य परिचय हो जाएगा।

आचार्य आनंदवर्धन : ध्वनि सिद्‌धांत के संस्थापक

ध्वनि संप्रदाय के प्रतिष्ठाता आचार्य आनंदवर्धन माने जाते हैं। इनका समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। आनंदवर्धन ने ईसवी सन् 875 के आसपास अपने प्रसिद्‌ध ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' द्‌वारा इस नवीन काव्य-संप्रदाय की स्थापना की, ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया।

आचार्य आनंदवर्धन ने अपने ध्वनि सिद्‌धांत में व्यंजना को बहुत महत्व दिया है। उन्होंने 'व्यंजना' शब्दशक्ति को ध्वनि का आधारभूत तत्व माना है। व्यंजना के आधार के रूप में 'अभिधा' तथा 'लक्षणा' शब्दशक्ति को स्वीकार किया है। इस कारण से उन्होंने अपने ध्वनि सिद्‌धांत में अभिधा और लक्षणा के आधार पर ध्वनि के दो भेदों को स्वीकार कर लिया है।- 'अभिधामूलाध्वनि' और 'लक्षणामूला ध्वनि'।

आचार्य आनंदवर्धन ने उस काव्य को ध्वनि माना है जिसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है। उनके मतानुसार काव्य में व्यंग्यार्थ के आधार पर वस्तुध्वनि या अलंकार ध्वनि या रसध्वनि का अस्तित्व बना रहता है। परंतु उनकी दृष्टि से रसध्वनि ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि रसध्वनि के आधार पर ही काव्य श्रेष्ठ

और प्रभावोत्पादक बन जाता है। इस प्रकार की मान्यता को लेकर आचार्य आनंदवर्धन उसे उत्तम काव्य मानते हैं जिसमें व्यंग्यार्थरूप में ध्वनि होती है, उसे मध्यम काव्य मानते है जिसमें ऐसा व्यंग्यार्थ होता है जो वाच्यार्थ के समान होता है और अधम या अश्रेष्ठ काव्य उसे मानते हैं जो व्यंग्यार्थ-रहित होता है।

आचार्य अभिनवगुप्त : ध्वनि सिद्धांत के प्रबल समर्थक

आचार्य आनंदवर्धनद्वारा प्रतिपादित ध्वनि-सिद्धांत का समर्थन करनेवाले आचार्यों में उनके शिष्य अभिनव गुप्त का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इन्होने 10 वीं शती के अंत और 11 वीं शती के प्रारंभ में आनंदवर्धन के 'ध्वन्यालोक' ग्रंथ पर गहराई से विचार किया, चिंतन किया और 'लोचन' नामक टीका ग्रंथ लिखा। कुछ लोग इसे 'ध्वन्यालोक-लोचन' भी कहते हैं। यह टीका ग्रंथ ध्वन्यालोक और ध्वनि सिद्धांत के समर्थन और सुस्पष्ट स्पष्टीकरण की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है।

वस्तुत: आचार्य अभिनवगुप्त भी अपने गुरू आनंदवर्धन की तरह मूलरूप में रसवादी आचार्य है। इसी कारण तो उन्होंने रस की पुष्टि के लिए ध्वनि सिद्धांत का महत्त्व स्पष्ट किया। आनंदवर्धन ने काव्य की श्रेष्ठता की दृष्टि से 'रसध्वनि' को ही श्रेष्ठ माना है। इसी वास्तविकता को आधार बनाकर अभिनव गुप्त ने रस और ध्वनि के महत्त्वपूर्ण संबंध की स्थापना की है। अभिनव गुप्त ने काव्य में रसध्वनि को महत्व देते हुए वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को भी रस के पोषक तत्त्वों के रूप में स्वीकार कर लिया है। इन्होंने दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया है कि 'रस' का 'वाच्य' न मानते हुए 'व्यंग्य' माना है। उनकी दृष्टि से काव्य में रसबोध व्यंग्यरूप में ही होता है। अत: उन्होंने व्यंजना शब्दशक्ति को महत्त्वपूर्ण माना है। व्यंजना के कारण ही व्यंग्यरूप में रसध्वनि की अनुभूति होती है। अत: उन्होंने व्यंग्यरूपी रसध्वनि को काव्य की आत्मा माना है।

आचार्य मम्मट : ध्वनि सिद्धांत के पुनर्स्थापक

आचार्य आनंदवर्धन और आचार्य अभिनव गुप्त के पश्चात ध्वनि सिद्धांत पर गहरा चिंतन आचार्य मम्मट ने 11 वीं शती के मध्य में किया है। इसी दरमियान ध्वनि-सिद्धांत का काफी विरोध हो चुका था। अत: मम्मट ने विरोध करनेवाले मतों का खण्डण किया और मण्डण से ध्वनि-सिद्धांत का जोरदार समर्थन किया। अपने 'काव्य-प्रकाश' ग्रंथ में महत्त्वपूर्ण तत्वों के आधारपर आनंदवर्धन द्वारा प्रतिष्ठापित, और अभिनवगुप्त द्वारा समर्थन प्राप्त ध्वनि-सिद्धांत की पुनर्स्थापना की। इसी कारण उनके ग्रंथ को ध्वनि-सिद्धांत के व्यवस्थित स्थिरीकरण का श्रेय मिलता है। मम्मट ने ध्वनि को आधार मानकर ध्वनि काव्य के तीन प्रकार किए। गुणीभूत काव्य, व्यंग्य-काव्य और चित्रकाव्य आदि। मम्मट ने इनमें से ध्वनिकाव्य को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसकी सराहना की है।

पंडितराज जगन्नाथ :

'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम्' कहनेवाले पंडितराज जगन्नाथ मूलत: रसवादी आचार्य है। फिर भी उन्होंने आनंदवर्धन के ध्वनि सिद्धांत का प्रबल समर्थन किया है। अपने 'रसगंगाधर' नामक ग्रंथ में उन्होंने रस के लिए पोषक सिद्धांत के रूप में ध्वनि-सिद्धांत का महत्त्व स्पष्ट किया है। उनसे पूर्व केवल

'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि में भी रस को सिद्ध करके दिखाया।' इस तरह इन्होंने आनंदवर्धन द्वारा प्रवर्तित ध्वनि सिद्धांत में महत्त्वपूर्ण संशोधन करके ध्वनि-सिद्धांत का महत्त्व स्पष्ट किया। अपने चिंतन द्वारा उसे स्थिर बनाया। अपनी मौलिक देन से गौरवान्वित किया है।

पंडितराज जगन्नाथ ने ध्वनि को आधार बनाकर काव्य के उत्तमोत्तम काव्य, उत्तम काव्य, मध्यम काव्य, अधम काव्य आदि भेद स्वीकार किए। वे काव्य को रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द कहते हैं। ध्वनि के आधारपर 'ध्वनि-काव्य' को ही 'उत्तमोत्तम काव्य' अर्थात् श्रेष्ठ काव्य कहते हैं। इस प्रकार अभिनव गुप्त और मम्मट के ध्वनि सिद्धांत विषयक मतों में अपनी ओर से महत्वपूर्ण संशोधन करके ध्वनिसिद्धांत को अधिक मौलिक रूप प्रदान कर पंडितराज जगन्नाथ ने ध्वनि-सिद्धांत के लिए उल्लेखनीय कार्य किया है।

अन्य आचार्य : निष्कर्ष एवं समापन-

आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ के पश्चात 14 वीं शती में रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने ध्वनि सिद्धांत को महत्वपूर्ण माना है। 'वाक्यम् रसात्मक काव्यम्' कहनेवाले 'साहित्यदर्पणकार' आचार्य विश्वनाथ रसध्वनि से युक्त काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं। ऐसा कहकर उन्होंने ध्वनि-सिद्धांत की महत्ता को ही मान्यता दी है।

वस्तुत: आनंदवर्धन के बाद पंडितराज जगन्नाथ तक मुकुलभट्ट, प्रति हारेन्दुराज, भट्टनायक, धनंजय, धनिक, कुन्तक महिमभट्ट और कई आचार्यों ने ध्वनि सिद्धांत का खण्डणात्मक विरोध किया लेकिन अपनी मौलिकता के कारण ध्वनि-सिद्धांत का महत्व कम नहीं हुआ। अच्छा यह हुआ कि ध्वनि-विरोधी आचार्यो के खण्डण-मण्डन से उसे और अधिक बल मिला, वह स्थिर हुआ, संस्कृत काव्य में अपनी जगह बना पाया। साहित्य-सौंदर्य बोध का एक चिरस्थायी कसौटी बन गया।

संक्षेप में उपर्युक्त ध्वनिवादी आचार्यों के ध्वनि सिद्धांत संबंधी विविध मतों का अवलोकन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सचमुच भारतीय काव्यशास्त्र में, अर्थात् संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि सिद्धांत एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है जिसमें ध्वनि को काव्य की आत्मा माना गया है। इसमें कोई शक नहीं कि आनंदवर्धन एक श्रेष्ठ काव्यशास्त्री है और उनका ध्वनि-सिद्धांत संबंध चिंतन मौलिक एवं चिरस्थायी है। अत: वे प्रशंसा के धनी है।

3.3.2.2 स्फोट सिद्धांत और ध्वनि

ध्वनि सिद्धांत का निरूपण आनंदवर्धन ने नौवीं शताब्दी में प्रथम बार किया, परंतु इसका मूल उत्स (स्त्रोत) वैयाकरणोंद्वारा प्रतिपादित स्फोट सिद्धांत में मिलता है।

वैयाकरणों का स्फोट सिद्धांत :

अर्थप्रतीति का आधार : ध्वनि सिद्धांत में जिसे 'ध्वनि' माना गया है, उसके मूल में वैयाकरणों के स्फोटवाद' को स्वीकार किया गया है। व्याकरण में 'स्फोट' की परिभाषा इस प्रकार मिलती है ''पूर्ववर्ती वर्णो

के उच्चारण के संस्कार के साथ अंतिम वर्ण के उच्चारण के अनुभव से अर्थ की अभिव्यक्ति स्फोट है। शब्द से अर्थ की प्रतीति किस प्रकार होती है इसकी प्रक्रिया स्फोट सिद्धांत में मिलती है। शब्द ध्वनियों से बनता हैं, उन ध्वनियों के उच्चारण का एक विशिष्ट क्रम होता है। क्रमश: उच्चारित होनेवाली ध्वनियाँ (Sounds) स्वंतत्र रूप में कोई अर्थ नहीं रखतीं। साथ ही दूसरी ध्वनि का उच्चारण होने तक पहली ध्वनि अवकाश में विलीन हो जाती है। ऐसी स्थिति में शब्द की अन्तिम ध्वनि का उच्चारण होने तक पूर्वोच्चरित सभी ध्वनियाँ विलीन होती है, उनका अस्तित्व समाप्त होता है। फिर भी शब्द के अंतिम वर्ण के उच्चारण तक पूर्वोच्चारित सभी वर्णों का अनुभव और उनके संस्कार मस्तिष्क में बराबर बने रहते हैं तथा अंतिम वर्ण के उच्चारण के साथ पूर्वोच्चरित वर्णों संस्कार जुडकर सारी ध्वनियों के समन्वय से उनके ध्वनि (Sound) रूप से भिन्न एक अलग स्वतंत्र अर्थ की अभिव्यक्ति हो जाती है। इस तरह पूर्वोच्चरित वर्णों के संस्कारों का अंतिम वर्ण के साथ जुडकर अलग अर्थ का प्रस्फुटन ही 'स्फोट' है।

''पूर्वपूर्ववर्णानुभवाहित संस्कार सचिवेन अन्त्यवर्णानुभवेन अभिव्यंजते स्फोट:।''

स्फोट विषयक उपर्युक्त मान्यता को एक उदाहरण के द्वारा इस प्रकार समझाया जा सकता है। उदाहरणार्थ 'कमल' शब्द को लीजिए। कमल शब्द में पहले 'क' वर्ण का उच्चारण होता है। बाद में 'म' तथा अन्त में 'ल' का उच्चारण होता है। परंतु 'म' का उच्चारण होने तक 'क' तथा 'ल' का उच्चारण होने तक 'म' वर्ग (ध्वनियों) अवकाश में विलीन होती है। परंतु अंतिम वर्ण 'ल' का उच्चारण होते समय तक श्रोता की स्मृति में 'क' तथा 'म' के क्रमबद्ध संस्कार बराबर बने रहते हैं और जैसे ही 'ल' का उच्चारण होता है, श्रोता 'क' तथा 'म' के श्रुति संस्कारों को उसके साथ जोड देता है और 'क', 'म' तथा 'ल' के क्रमवर्ती समन्वित रूप में उन सभी ध्वनियों से संपूर्णत: अलग एक स्वतंत्र अर्थ की प्रतीति कर लेता है। यही वैयाकरणों का 'स्फोट' है। वैयाकरणों ने स्फोट के दो रूप माने हैं :-

(1) नित्य स्फोट, (2) अनित्य स्फोट। सुना जानेवाला शब्द 'अनित्य स्फोट' है, तथा श्रुत ध्वनियों से प्राप्त होनेवाला शब्दार्थ 'नित्य स्फोट' है।

वैयाकरणों की दृष्टि से श्रोता के द्वारा ध्वनिरूप नाद के रूप में मूलध्वनि रूप वर्ण का ग्रहण 'स्फोट' है। इसलिए तो वैयाकरण नाद को व्यंजक मानते है, और स्फोट को व्यंग्य। इस प्रकार कानों को सुनाई देनेवाली वर्ण की संपूर्ण प्रक्रिया अर्थात् 'श्रुति' का पूर्ण होना ही 'स्फोट' है। परंतु दूसरी ओर से इसी स्फोट में वर्णविशेष के रूप में अर्थ की भी प्रतीति होती है। यहाँ ध्वनिरूपि नाद को व्यंजक और स्फोट को व्यंग्य मानने के कारण स्फोट में प्रतीत होनेवाले अर्थ को भी 'व्यंग्य' माना जाता है। इस प्रकार का व्यंजक-व्यंग्य भाव अर्थात् व्यंग्य-व्यंजक भाव शब्दस्फोट में भी होता है। इस कारण से वैयाकरणों ने 'शब्द स्फोट' को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है।

स्फोट : व्यंग्यार्थ : ध्वनि :

आचार्य आनंदवर्धन ने वैयाकरणों के स्फोट वाद अर्थात् स्फोट सिद्धांत से प्रेरित होकर अपने 'ध्वन्यालोक' ग्रंथ में 'ध्वनि सिद्धांत' की स्थापना करते हुए 'स्फोट' के पर्याय के रूप में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया।

वैयाकरणों के स्फोटवाद से शब्द और स्फोट में अर्थात् शब्द और अर्थ में 'व्यंजक-व्यंग्य भाव' स्पष्ट हुआ और यह सिद्ध हुआ कि जहाँ व्यंजक शब्द का स्फोट है वहाँ व्यंग्य अर्थ अर्थात् व्यंग्यार्थ है। वैयाकरणों के स्फोटवाद की इस प्रकार की 'अर्थग्रहण की प्रक्रिया' को आधार बनाकर ही आनंदवर्धन ने अपने काव्यशास्त्रीय ध्वनि सिद्धांत में वैयाकरणों के 'स्फोट' को अर्थात् व्यंग्यार्थ को 'ध्वनि' माना है। उन्होंने स्फोट अर्थात् व्यंग्यार्थ को ध्वनि मानते हुए उसे 'प्रतीयमान अर्थ' (ध्वन्यते अनेन इतिध्वनि:) भी कहा है। उन्होंने शब्द और अर्थ के 'व्यंजक-व्यंग्य भाव' को ध्वनन या व्यंजकत्व माना है-

"ध्वन्यते अनेन इति ध्वनि:।"

लेकिन आचार्य आनंदवर्धन ने अपनी ओर से एक मौलिक काम किया है। उन्होंने वैयाकरणों की मान्यता के अनुसार 'स्फोट' अर्थात् 'व्यंग्यार्थ' अर्थात् 'प्रतीयमान अर्थ' के लिए केवल शब्द में व्यंजकत्व को स्वीकार नहीं किया, वरन् उन्होंने तो ध्वनि की व्यापकता को सिद्ध करते हुए शब्द के साथ-साथ वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और कभी-कभी व्यंग्यार्थ में भी व्यंजकत्व को स्वीकार करने का बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस कारण से व्यंग्यार्थरूपी ध्वनि को अनुरणन के रूप में स्वीकार करते हुए माना गया है कि जिस प्रकार घंटे पर आघात करने पर घंटे से प्रथम टंकार निकलती है और फिर उस टंकार से एक के बाद एक क्रम से अधिक से अधिक मधुर झंकारे निकलती रहती हैं, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ भी ध्वनित होता रहता है।

इस प्रकार आनंदवर्धन ने ध्वनि की व्यापकता को महत्व दिया और अपनी ध्वनि सिद्धांत को व्यापक अर्थ में प्रस्थापित किया। इस कारण से ध्वनि सिद्धांत में स्वीकृत 'ध्वनि' (व्यंग्यार्थ) व्यंजक शब्द, व्यंजक वाच्यार्थ, व्यंजक लक्ष्यार्थ और कभी-कभी व्यंजक व्यंग्यार्थ के व्यंजकत्व पर भी आधारित है। इसलिए ही ध्वनि-सिद्धांत काव्य-सौंदर्य को समझने की दृष्टि से सर्व समावेशक बन गया है।

व्यंजना : ध्वनि-सिद्धांत का मुख्य आधार :

आचार्य आनंदवर्धन ने अपने ध्वनि सिद्धांत में व्यंजकता व्यापार द्वारा व्यंग्यार्थ अर्थात् प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होने के लिए 'व्यंजना' शक्ति को स्वीकार करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस कारण उनका ध्वनि सिद्धांत व्यंजना व्यापार पर आधारित है। उनकी दृष्टि से 'व्यंजना' शब्द तथा अर्थ की भी शक्ति है। इस कारण से 'व्यंजना' व्यंग्य-व्यंजक भाव के व्यंजकत्व के आधार पर 'शाब्दि व्यंजना' के रूप में शब्द से और 'आर्थी व्यंजना' के रूप में अर्थ से भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति करती है।

लेकिन आनंदवर्धन ने यह भी स्वीकार कर लिया है कि अकेली व्यंजनाशक्ति व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं करा सकती। वह तो शब्द की 'अभिधा' या 'लक्षणा' शक्ति के आधार पर ही वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से व्यतिरिक्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने में समर्थ होती है। इस कारण से ध्वनि सिद्धांत में माना जाता है कि जिस प्रकार शब्द के आधारभूत श्रूयमान वर्णसमूह से एक-एक वर्ण के अंतिम वर्ण तक का उच्चारण एक साथ पूर्ण होता है, तब स्फोट के रूप में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। ठिक उसी प्रकार शब्द की अभिधा शक्ति के आधार पर वाच्यार्थ से या लक्षणा शक्ति के आधार पर लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यंजनाशक्ति

के आधार पर ही होती है। इसी व्यंग्यार्थ को ही ध्वनि सिद्धांत में 'ध्वनि' माना गया है। अत: स्पष्ट है ध्वनि सिद्धांत का मुख्य आधार 'व्यंजना' ही है।

मनुष्य संवेदनशील, विचारशील, समाजप्रिय एवं सर्जनशील प्राणी है। वाणी अर्थात् भाषा मनुष्य को प्राप्त एक सर्वश्रेष्ठ वरदान है। भाषा के माध्यम से वह अपने विचारों, भावों तथा कल्पनाओं को दूसरों के सामने प्रकट करता है। मनुष्य सर्जनशील होने के कारण वह अपनी अभिव्यक्ति को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करता है। साहित्य का सृजन भी मनुष्य की इसी सहज प्रवृत्ति के कारण ही हुआ है।

संस्कृत में साहित्य और काव्य को प्राय: समान अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। प्राचीन काल से लेकर आजतक सभी आचार्यों के सामने यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण रहा है कि साहित्य में सबसे महत्त्वपूर्ण क्या है? तब विविध विद्वानों ने अपने-अपने मत व्यक्त किए परिणाम स्वरूप विविध सिद्धांतों या वादों की स्थापना हुई। अपने विचार की पुष्टि के लिए विविध उदाहरण, प्रमाण दिए गये, समर्थकों ने अपना योगदान दिया और काव्यशास्त्र में उन्हें प्रतिष्ठित किया गया।

काव्य की आत्मा को लेकर गहरा विचार मंथन हुआ। विद्वानों में रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य को सर्वश्रेष्ठ, महत्त्वपूर्ण होने की, मानने की होड-सी लगी। विविध विचार प्रवाह, मत प्रवाह से सिद्धांतों की स्थापना हुई। औचित्य सिद्धांत भी उसके लिए अपवाद नहीं है। वस्तूत: इन सभी का साहित्य में अपना-अपना अनिवार्य स्थान एवं महत्त्व है। इनके बिना साहित्य की कल्पना असंभव है।

3.3.2.3 ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद

ध्वनि संप्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है तथा ध्वनि का संबंध व्यंजना शक्ति से है। शब्द की शक्ति असीम है, जिस शक्ति के द्वारा शब्द का अर्थ ज्ञात होता है वह 'शब्दशक्ति' कहलाती है। शब्द शक्तियाँ तीन मानी गयी हैं- अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनमें भी ध्वनिवादी केवल व्यंजना को ही वास्तविक और उत्कृष्ट काव्य का मूलाधार मानते हैं। व्यंजना के माध्यम से ही काव्य में निहित छिपे हुए अर्थ को स्पष्ट किया जाता है।

ध्वनिवादियों का कहना है कि जिस प्रकार स्फोट द्वारा ही वास्तविक अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार काव्य का वास्तविक अर्थ व्यंग्यार्थ द्वारा ही उद्घाटित होता है। काव्य का संपूर्ण सौंदर्य व्यंजना में समाया हुआ होता है। इन्ही शब्दशक्तियों के आधारपर ध्वनिकाव्य के प्रमुख भेद किए गए हैं।

(अ) लक्षणामूला ध्वनि (आ) अभिधामूला ध्वनि।

अ) लक्षणामूला ध्वनि (अविवक्षित वाच्य ध्वनि) :

जब चमत्कृत व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ का प्रयोजन नहीं रहता तब 'लक्षणामूला ध्वनि' कहते हैं। तात्पर्य यह कि इसमें व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ पर आश्रित न रहते हुए लक्ष्यार्थ पर ही आश्रित रहता है। इसी कारण इसे लक्षणामूला ध्वनि नाम दिया है। इसके दो उपभेद किए हैं 1) अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि और 2) अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि।

1. **अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि :** जब वाच्यार्थ अपना संपूर्ण लोप न करते हुए भी अन्य अर्थ में संक्रमण करता है, तब उसे अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि कहते हैं। दूसरे शब्दों में जिस ध्वनि में वाच्यार्थ अपने को सुरक्षित रखते हुए अन्य अर्थ में संक्रमित होता है, उस ध्वनि को अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि कहते हैं। उदा. 'आम तो आम ही है।' यहाँ पहले 'आम' शब्द की दृष्टि से दूसरा 'आम' शब्द तब संगत बनता है, जब वह उपादान लक्षणा से अपने वाच्यार्थ (एक फल विशेष) को सुरक्षित रखते हुए 'सरस, मधुर आदि गुणोंवाला फलविशेष यह लक्ष्यार्थ व्यक्त करता है। इस लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ निकलता है– ''आम की बराबरी करनेवाला कोई दूसरा फल नहीं है। इस व्यंग्यार्थ से आम की बेजोड़ सरसता तथा मधुरता व्यंजित होती है, इसलिए यह व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है। पर यहाँ अधिक चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ के लिए दूसरे 'आम' शब्द को अपने वाच्यार्थ को सुरक्षित रखते हुए अन्य अर्थ (लक्ष्यार्थ) में संक्रमित होना पडता है, इसलिए यहाँ अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि है।

2. **अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि :** जिस ध्वनि में वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग (तिरस्कार) किया जाता है, तब उसे अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि कहते हैं। यह ध्वनि लक्षण लक्षणा पर आधारित होता है। उदा. 'तू बैल है और तेरा दोस्त गधा है।' यहाँ लक्षण लक्षणा 'विपरीत लक्षणा' के रूप में महत्व का कार्य करती है। क्योंकि यहाँ 'बैल' और 'गधा' शब्द के 'पशुविशेष' इस वाच्यार्थ में बाधा आती है। क्योंकि 'गधा' और 'बैल' मनुष्य नहीं हो सकते। पर बैल और गधा दोनों 'मूर्ख' इस लक्षणरूप अर्थात् लक्ष्यार्थ को व्यक्त करते हैं। इसलिए यहाँ इस वाक्य का लक्ष्यार्थ– 'तू मूर्ख है और तेरा दोस्त भी मूर्ख है।' इस व्यंग्यार्थ से उन दोनों की मूर्खता की अत्यधिकता व्यंजित होती है, इसलिए यह व्यंग्यार्थ चमत्कारपूर्ण है। अत: यहाँ अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है।

आ) अभिधामूला ध्वनि (विवक्षितान्य पर वाच्य ध्वनि) :

जहाँ पर वाच्यार्थ वांछनीय (विवक्षित) और प्रयोजनीय होता है। साथ ही साथ वह अन्यपरक अथवा व्यंग्यनिष्ठ होता है, वहाँ अभिधामूला ध्वनि होती है। दूसरे शब्दों में जिस ध्वनि में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ पर ही आश्रित होता है, लक्षणा पर नहीं उसे अभिधामूला ध्वनि कहते हैं। उदा.: 'बड़ बोली बलि होत कत बड़े दृगनु के जोर।' यहाँ बड़े दृग केवल दृगों का ही नहीं अपितु शरीर के पूर्ण सौंदर्य के परिचारक है।

अभिधामूल ध्वनि के दो भेद हैं–

(1) संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि और (2) असलंक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि।

1. **संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि :** क्रम की दृष्टि से ये भेद किए हैं। जब वाच्यार्थ का बोध होने पर बाद में व्यंग्यार्थ के प्रकट होने का क्रम रहता है, तब उसे संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि कहते हैं, घंटे पर चोट करने से टंकार के बाद सूक्ष्म से सूक्ष्म मधुर झंकारे सुनाई देती हैं, उसी प्रकार संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ निकलते रहते हैं। इस प्रकार की विशषेता के कारण संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि को 'अनुरण ध्वनि' भी कहा जाता है। इस ध्वनि के तीन उपभेद माने जाते हैं–

(क) शब्दशक्ति उद्‌भवा संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि।

(ख) अर्थशक्ति उद्‌भवा संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि।

(ग) शब्दार्थोभयशक्ति उद्‌भवा संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि।

(क) शब्दशक्ति उद्‌भवा संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि : जहाँ वाच्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ का बोध कराने की शक्ति विशिष्ठ शब्द में ही होती है, उसे शब्दशक्ति उद्‌भवा व्यंग्यध्वनि कहते हैं। उदा.

''रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून

पानी गये न ऊबरे, मोती मानुस चून।''

यहाँ 'पानी' शब्द से ही जल, जीवन, कांति ये वाच्यार्थ निकलते हैं, किसी अन्य पर्यायवाची शब्द से नहीं। यहाँ 'पानी' शब्द में ही वाच्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ के निकलने की शक्ति होने के कारण शब्दशक्ति उद्‌भवा संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि है। यहाँ पानी (शिलष्ट) शब्द से मोती के संदर्भ में कांति (चमक), मनुष्य के संदर्भ में प्रतिष्ठा और चूने के संदर्भ में जल है। सभी को इनकी रक्षा करनी चाहिए। इसके चार भेद है- पदगतवस्तु ध्वनि, वाक्यगत वस्तुध्वनि, पदगत अलंकार ध्वनि, वाक्यगत अलंकार ध्वनि।

(ख) अर्थशक्ति उद्‌भवा संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि : जहाँ वाच्यार्थ निकलने पर फिर व्यंग्यार्थ का बोध होता है, तब उसे अर्थशक्ति उद्‌भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि कहते हैं। इसमें वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार और अलंकार से वस्तु, अलंकार से अलंकार। इसके बाद भी प्रत्येक के पदगत, वाक्यगत, प्रबंधगत-ये तीन भेद है। पदगत ध्वनि का उदाहरण-

''सिय वियोग दुख के हि विधि, कहौं बखानि।

फूल बान से मनसिज, बेधत आनि।''

यहाँ 'फूल बान' पद में ध्वनि है। यह पद कवि प्रौढोक्ति है और उससे विरहव्यथित दशा तथा प्रेम को अधिकता व्यंजित होती है। यहाँ 'फूल बान' भी वस्तु है और विरहव्यथित दशा तथा प्रेम भी वस्तु है। इसलिए यहाँ कविप्रौढोक्तिद्‌वारा पदगत वस्तु से वस्तुध्वनि है।

(ग) शब्दार्थोभयशक्ति उद्‌भवा संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि : जहाँ शब्द और अर्थ दोनों मिलकर किसी वस्तु या अलंकार को ध्वनित करते हैं, वहाँ शब्दार्थ उभयशक्ति उद्‌भवा संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि होती है। उदा.

''अनभ्र चन्द्राभरण, काम भाव को जाग्रत करती।

तारक तरला श्यामा, कहो किसे न आनंदित करती।।''

यहाँ 'श्यामा' शिलष्ट पद है। इसका एक अर्थ 'रात्रि' है तो दूसरा अर्थ 'षोऽश वर्षीय युवती' है। यहाँ तारकोंवाली और चमकवाली 'रात्रि' के संदर्भ में जो वाच्यार्थ निकलता है, वही तारनेवाली व सुंदर षोऽश्वर्षीय युवती के संदर्भ में भी निकलता है। इसलिए यहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ निकलता है-

निरभ्र आकाश में व्याप्त चांदनी रात कामभाव को जागृत कर किसे भी आनंदित करती है और सोलह वर्षीय युवती भी अपने में व्याप्त यौवन से कामभाव को जागृत कर किसी को भी आनंदित करती है। इस प्रकार यहाँ रात्रि और सोलह वर्षीय युवति की कामोत्तेजक तथा आनंदप्रद समानतारूप वस्तु में 'उपमा' अलंकार ध्वनित होता है। इसलिए यहाँ शब्दार्थ उभयशक्ति उद्‌भवा पदगत वस्तु से अलंकारध्वनि है।

2. **असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि अथवा रसध्वनि :** जब वाच्यार्थ ग्रहण करने का क्रम लक्षित नहीं होता तब 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि' होती है। दूसरे शब्दों में जहाँ पर पहले वाच्यार्थ की प्रतीति और उसी वाच्यार्थ के आधार पर बाद में व्यंग्यार्थ की प्रतीति स्पष्ट क्रम प्रतीत न होकर वाच्यार्थ की प्रतीति के साथ ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है, वहाँ पर असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि होती है।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें वाच्यार्थ की प्रतीति के साथ ही जो व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वह वास्तव में रस की अनुभूति या भाव की अनुभूति होती है। इसलिए इसे रसध्वनि भी कहते हैं। इस प्रकार की विशेषता के आधारपर इसके आठ उपभेदों को स्वीकार किया गया है-

(1) रसध्वनि (2) भावध्वनि (3) रसाभास (4) भावाभास (5) भावोदय (6) भावसंधि (7) भावशांति (8) भावशबलता।

गुणीभूत व्यंग्य काव्य :

जहाँ पर वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ प्रधान या अधिक महत्त्वपूर्ण न होकर गौण होता है, वहाँ पर गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है। पंडितराज जगन्नाथ ने इसे उत्तम काव्य कहा है। क्योंकि व्यंग्यार्थ का अस्तित्व इस काव्य में है। चमत्कार चाहे व्यंग्यार्थ में हो चाहे वाच्यार्थ में, उसका अस्तित्व होने से काव्य उत्तम कोटि का होता है। मध्यम काव्य व्यंग्यनिष्ठ रहता है और अवर या अधम काव्य में व्यंग्यार्थ बिल्कुल नहीं दिखलाई देता, वह चित्र काव्य मात्र होता है।

गुणीभूत व्यंग्य काव्य के आठ भेद हैं-

(1) अगूढ व्यंग्य (2) अपरांग व्यंग्य (3) वाच्यसिद्यांग व्यंग्य (4) अस्फुट व्यंग्य (5) संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य (6) तुल्य-प्राधान्य व्यंग्य (7) काव्याक्षिप्त व्यंग्य (8) असुंदर व्यंग्य।

1. **अगूढ व्यंग्य :** जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान स्पष्ट प्रतीत होता है वहाँ पर अगुढ व्यंग्य होता है, जैसे

''गोधन गजधन बाजिधन, और रतनधन खान।

जब आवत संतोष धन, सब धन धूरि समान।।''

2. **अपरांग व्यंग्य :** जहाँ पर रस, भाव, भावाभास आदि एक-दूसरे के अंग हो जाते हैं, वहाँ पर अपरांग व्यंग्य होता हैं; जैसे

''डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।

कंप किसोरी दरस तें, खरे लजाने लाल।।''

3. **वाच्यसिद्यांग व्यंग्य :** जहाँ पर निकलनेवाले व्यंग्यार्थ से ही पूरे पद के वाच्यार्थ की सिद्धी होती है, वहाँ पर वाच्यसिद्धांग व्यंग्य होता हैं; जैसे

''पँखुडियों में ही छिपी रह कर न बोतं व्यर्थ।

ढूँढ कोषों में न प्रियतम नाथ का तू अर्थ।।''

4. **अस्फुट व्यंग्य :** जहाँ पर व्यंग्य गूढ हो और बहुत प्रयत्न करने पर समझा जावे और स्पष्ट न समझा जावे, वहाँ पर अस्फुट व्यंग्य होता हैं; जैसे

''खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगंध के

प्रथम वसंत में गुच्छ-गुच्छ।''

5. **संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य :** जहाँ पर सन्देह बना रहे कि अर्थ में वाच्यार्थ प्रधान है अथवा व्यंग्यार्थ, वहाँ पर संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य होता हैं; जैसे

''नाविक! इस सूने तट पर किन लहरों में खेलाया।

इस बील्ड बेला में क्या अब तक था कोई आया।।''

6. **तुल्य-प्राधान्य व्यंग्य :** जहाँ पर वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों ही समान चमत्कार के हों, वहाँ पर तुल्यप्राधान्य व्यंग्य होता हैं; जैसे

''आज बचपन का कोमल गात। जरा का पीला पात।

चार दिन सुखद चाँदनी रात। और फिर अंधकार अज्ञात।।''

7. **काव्याक्षिप्त व्यंग्य :** जहाँ पर काकु (कण्ठगत विशेष ध्वनि) के द्वारा व्यंग्य प्रकट होता है, वहाँ पर काक्वाक्षिप्त व्यंग्य होता हैं; जैसे

''हैं दससीस मनुज रघुनायक।

जिनके हनुमान से पायक।।''

8. **असुंदर व्यंग्य :** जहाँ पर वाच्यार्थ से निकलनेवाले व्यंग्यार्थ में कोई चमत्कार न हो, वहाँ पर असुंदर व्यंग्य होता हैं; जैसे

''बैठी गुरूजन बीच में सुनि मुरली की तान।

मुरझति अति अकुलाय उर परे सांकरे प्रान।।''

अवर काव्य अथवा चित्र काव्य :

अवरकाव्य में व्यंग्यार्थ बिल्कुल नहीं रहता। अलंकार, शब्द-योजना आदि का ही सौंदर्य ऐसी रचना में देखा जाता है। ध्वनि की दृष्टि से इस काव्य का सबसे कम महत्त्व है। उदाहरणार्थ :-

''चारू चंद्र की चंचल किरणें खेल रही थी जल थल में।

स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है, अवनी और अंबर तलमें।।''

यहाँ अनुप्रास अलंकार है। 'च' वर्ण की पुनर्रावृत्ति है। चमत्कार निर्मिति एवं चित्रकाव्य है। इस प्रकार ध्वनि के प्रमुख भेदों का हमें परिचय होता है।

3.3.3 औचित्य सिद्धांत

3.3.3.1 औचित्य की परिभाषा एवं स्वरूप

'औचित्य' शब्द का अर्थ :

'औचित्य' शब्द का कोशगत अर्थ है उपयुक्तता। साधारण भाषा में औचित्य को स्वाभाविकता माना जा सकता है। प्रत्येक वस्तु का उचित मात्रा में उपयोग, प्रयोग औचित्य है, उचित कार्य, आचरण-व्यवहार भी इसके अर्थ है। काव्य में इसका अर्थ काव्यांगों की उचित योजना से हैं।

संस्कृत के आचार्य क्षेमेंद्र ने अपने पूर्व समस्त काव्य सिद्धांतों का समन्वय किया। क्षेमेंद्र के मतानुसार रस, रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सभी का काव्य निर्माण में महत्त्व है। परंतु इनका महत्व तभी स्वीकार किया जा सकता है, जब इनके प्रयोग में औचित्य अर्थात् स्वाभाविकता का ध्यान रखा गया हो। औचित्य के अभाव में इनका कोई महत्त्व नहीं है।

परिभाषा :

औचित्य सिद्धांत साहित्य का अत्यंत व्यापक सिद्धांत है। क्षेमेंद्र इसके प्रवर्तक आचार्य है। क्षेमेंद्र के अनुसार औचित्य से अभिप्राय कविकर्म का औचित्य है। औचित्य के बिना कोई भी वस्तु उपहास का विषय बन सकती है। उन्होंने औचित्य की परिभाषा इस प्रकार दी हैं- ''उचितस्य भाव: औचित्यम्'' उचित के भाव को 'औचित्य' कहते है। वे कहते हैं-

''उचितं प्राहुराचार्या: सदृश्यं किल यस्य यत्।

उचितस्य च यो भावस तदौचित्यं प्रचक्षते।।''

अर्थात् जो जिसके अनुरूप हो, वह उचित होता है। उचित होने का भाव ही 'औचित्य' कहलाता है। इस उचित को स्पष्ट करते हुए क्षेमेंद्र ने आगे उदाहरण सहित बताया है कि ''उचित स्थान पर रखने से ही अलंकार-अलंकार होते हैं तथा औचित्य से होकर गुण-गुण होते हैं।'' इसे उदाहरण से समझाते हुए क्षेमेंद्र ने औचित्य के संदर्भ में लिखा है-

''कण्ठे मेखलया, नितंबफलके नारेण हारेण वा।
पाणौ नुपुरबंधनेन, चरणे केयुरपाशेन वा।।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करणया, नाथाति के हास्याताम्।
औचित्येन विना रूचिः प्रतुनते ना लंकार्तिनौ गुणः।।''

अर्थात् गले में कमर अलंकार मेखला, नितंब पर झलमलाता हार, हाथों में पैरों का अलंकार नुपूर और चरणों में मस्तक का आभूषण केयूर-पाश धारण करने से कौन व्यक्ति उपहास का पात्र नहीं बनता? इसी प्रकार प्रणत या शरण आए हुए व्यक्ति पर शौर्य तथा उद्दाम शुत्र पर करूणा प्रदर्शन करना किस प्रकार औचित्यपूर्ण है? सत्य तो यह है कि औचित्य के बिना न अलंकारों की शोभा है न गुणों की।

इसी तरह प्रेम के समय में क्रोध और क्रोध के समय में प्रीति दिखाना, युद्धस्थल में शत्रु पर करूणा दिखाना तथा शत्रु के शरण आने पर उस पर वीरता दिखाना ये बाते अत्यंत ही अनुचित है। उचितता प्राप्त करके ही संसार में, जगत् में अथवा व्यवहार में कोई भी क्रिया आदर को प्राप्त हो सकती है। व्यवहार की ये बातें ही क्षेमेंद्र ने साहित्य पर भी लागू कर दी है। सुंदर उक्ति उचित पद पाकर उसी प्रकार आदरणीय हो सकती है, जैसे गौर सुंदरी के माथे पर कस्तुरी का तिलक अथवा श्यामा के माथे पर चंदन का तिलक। औचित्य के विषय में क्षेमेंद्र का कथन है कि औचित्य से युक्त वाक्य ही हमेशा सज्जनों के द्वारा आदरणीय एवं स्वीकारणीय होता हैं- जैसे त्याग से ऐश्वर्य का और शील से बुद्धि का महत्व बढ़ता है। जिस तरह औचित्य से ही व्यवहार में आदर पाया जा सकता है, उसी प्रकार औचित्यपूर्ण वाणी से ही काव्य भी सुंदर बन सकता है।

बारहवी शताब्दी में क्षेमेंद्र ने ''औचित्य विचार चर्चा'' नामक ग्रंथ का प्रणयन कर औचित्य नामक एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्त्व साहित्य-विचारकों के सम्मुख रखा। क्षेमेंद्र द्वारा निरूपित यह औचित्य समूचे काव्य का नियामक तत्त्व हैं। औचित्य के बिना रस का भावन नहीं हो सकता ऐसा कहकर औचित्य की परिभाषा करते हुए क्षेमेंद्र ने बताया कि 'जो जिसके अनुरूप होता है, वह उचित होता है, और उचित होने का भाव ही औचित्य कहलाता है।' रसरूप काव्य के जीवन स्वरूप तथा काव्यानुभूति में चमत्कार उत्पादक हेतु कहकर क्षेमेंद्र ने औचित्य को रससिद्ध काव्य का स्थायी तत्व (जीवित) बताया।

''औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।''

क्षेमेंद्र के मत से औचित्य रसरूप काव्य का जीवनस्वरूप है, काव्यानुभूति में चमत्कार उत्पादक हेतु रूप है। रससिद्ध काव्य का अगर कोई प्राणतत्व है तो वह है औचित्य। ऐसा कहकर क्षेमेंद्र ने औचित्य को एक विशेष गरिमा प्रदान की है। अठ्ठाईस औचित्य स्थलों का निरूपण करके औचित्य को उसने व्यापक भी बताया। सुंदर को उचित और असुंदर को अनुचित बताकर समुचे काव्य-गुणों का रस आदि का औचित्य में समावेश कर दिया। इस तरह क्षेमेंद्र ने औचित्य को एक सर्वसमावेशक तत्व के रूप में प्रस्तुत किया।

''उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्

उचितस्य च यो भावस तदौचित्यं प्रचक्षते।''

यूँ तो औचित्य-सिद्धांत के प्रवर्तन का श्रेय क्षेमेंद्र को ही दिया जाता है। क्षेमेंद्र द्वारा गौरव प्राप्त तत्त्व और उसका निरूपण, भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में क्या सचमुच ही कोई सर्वथा स्वतंत्र और नवीन उद्भावना थी? भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास देखने पर इस प्रश्न का उत्तर मिलता है। क्योंकि नामांतर से और प्रकारांतर के साथ औचित्य की व्यापक चर्चा भारतीय काव्यशास्त्र में आनुषंगिक रूप से भी क्यों न हो, अवश्य मिलती है। क्षेमेंद्र के पूर्व भरत, भामह, दण्डी, रूद्रट, आनंदवर्धन, कुन्तक, महिमभट्ट इत्यादी के ग्रंथों में औचित्य तत्व पर प्रसंग वश संकेत मिलते हैं।

आचार्य भरत :

औचित्य विचार का प्रथम उपलब्ध स्त्रोत अन्य काव्य सिद्धांतो की तरह भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में 'औचित्य' शब्द का प्रयोग सिद्धांत रूप में तो नहीं हुआ, पर व्यवहार में इसका पर्याप्त प्रयोग है। भरत के मत से नाटक लोकवृत्ति का अनुकरण है। लोकवृत्ति का अनुकरण सही-सही और अनुरूप होना चाहिए। वे कहते हैं-

''वयोऽनुरूप : प्रथमस्तु वेष:

वेषानुरूपश्च गति-प्रकार:।

गति प्रचारानुगतं च पाठ्यं

पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्य:।''

अर्थात् ''वय के अनुरूप वेष होना चाहिए, वेष के अनुरूप गति, गति के अनुरूप पाठ्य तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय होना चाहिए।''

वस्तुत: आचार्य भरत ने 'औचित्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। किन्तु स्वाभाविकता के रूप में औचित्य का प्रतिपादन अवश्य किया है।

भरतमुनि के उपरान्त काव्यशास्त्र का निरूपण करनेवाले महत्वपूर्ण आचार्य भामह है। भामह का यह कथन कि कोई असाधु वस्तु भी आश्रय के सौंदर्य से अत्यंत सुंदर बन जाती है, जैसे काला काजल रमणी के नयनों में शोभा धारण करता है-

''किंचित आश्रयसौन्दर्यात धते शोभामसाध्वपि।

कान्ता-विलोचनन्यस्तं मलीमसमिवान्जनम्।।''

भामह की तरह दण्डी ने भी गुण और दोषों का विवेचन करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से औचित्य सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। अनुचित संयोजन से ही दोष उत्पन्न होता है और कवि-कौशल अर्थात उचित तत्वों के समावेश से दोष भी गुण में परिणत हो सकता है। दण्डी के मत से सुंदर काव्य में दृश्यमान लघु दोष भी उसी प्रकार घृणा का और अनुत्कर्ष का कारण बनता है जैसे रमणीय शरीर में कोढ का दाग। इसलिए कवि

को काव्य निर्मिति में अल्पतर दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि दोषयुक्त, काव्य कुपुत्र के समान निंदाभाजन होता है। इसी चर्चा में भामह के 'सन्निवेश विशेष' तथा 'यथाश्रय' में औचित्य की ओर ही संकेत है।

रूद्रट ने काव्यालंकार में औचित्य शब्द का प्रयोग किया है। औचित्य का सैदधांतिक उल्लेख करनेवाले रूद्रट प्रथम आचार्य है। उन्होंने दोष-परिहार में औचित्य का महत्त्व स्थापित किया। रसौचित्य, अलंकारौचित्य, वृत्ति-औचित्य इत्यादी भिन्न-भिन्न काव्यांगों के औचित्य पर भी इन्होंने प्रकाश डाला है।

औचित्य तत्व की बहुत व्यापक मीमांसा करने वालों में क्षेमेंद्र से पूर्व आचार्य आनंदवर्धन का नाम लिया जाता है। उन्होंने 'ध्वन्यालोक' में औचित्य के स्वरूप की स्पष्ट इस प्रकार की है-

''अनौचित्याद् ऋते नात्यद् रसभंगस्य कारणम्।

औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषद् पर।।''

औचित्य का स्वरूप

औचित्य सिद्धांत का भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में अपना एक विशिष्ठ स्थान एवं महत्त्व रहा है। यह सिद्धांत इतना व्यापक है कि इसमें काव्य के सभी अंगों का समावेश हो जाता है। 'रस' काव्य का प्रधान तत्त्व है। रीति गुण, अलंकार, वृत्ति तथा काव्य के अन्य सभी अंग रस के आसपास घुमते हैं। उनके इस परिभ्रमण में औचित्य की ही अनिवार्यता है। औचित्य के अभाव में रस की कोई स्थिति नहीं होती। इसलिए औचित्य को रसाभास कहा गया है। रस का विभिन्न तत्त्वों से सम्बन्ध निश्चित करने का काम औचित्य ही करता है।

लोक व्यवहार तथा कला-व्यापार में सर्वत्र औचित्य का महत्त्व स्पष्ट है। धर्म-कर्म, नीति-अनीति, पाप-पुण्य औचित्य पर ही आधारित है। संसार में सौंदर्य की कल्पना भी उसी पर आश्रित है। काव्य के सभी तत्त्व तभी ग्राह्य माने जाते है, जब वे औचित्य के द्वारा सौंदर्य की वृद्धि करने में समर्थ रहते है। इन सभी तत्वों में औचित्य द्वारा संतुलन, सामंजस्य, समीचीनता तथा उपयुक्तता उत्पन्न हो जाती है। औचित्य के इस व्यापक और विशद रूप को स्वीकार कर सभी आचार्यों ने एकमत से इस सिद्धांत को महत्व प्रदान किया है।

'औचित्य' काव्य का अनिवार्य तत्त्व :

औचित्य काव्य समीक्षा का श्रेष्ठ मानदण्ड है। औचित्य तत्त्व का काव्य में अपना मौलिक व निरपेक्ष स्थान है। काव्य में रस और भाव के प्रतिपादन के लिए औचित्य अनिवार्य तत्व है। यह सही है कि रस और भाव के बिना औचित्य की सत्ता संभव नहीं। अत: श्रेष्ठ काव्य का सर्वाधिक प्राणतत्व और सौंदर्य विधायक तत्व औचित्य है।

'औचित्य' काव्य का नियामक तत्त्व :

औचित्य सिद्धांत का महत्त्व और अनिवार्यता वादातीत है। जहाँ तक औचित्य सिद्धांत की उपलब्धियों का संबंध है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसके कारण काव्यशास्त्र की कमी दूर हो गयी है। औचित्य सिद्धांत ने अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति की चमत्कारवादी तथा अतिवादी प्रवृत्तियों को नियंत्रित किया, जिसकी वजह से काव्य में स्वाभाविकता का सम्मान होने लगा। आचार्य क्षेमेंद्र ने यह स्पष्ट कर दिया कि केवल अलंकार और रीति का अतिवादी प्रयोग काव्य का सौंदर्य बढ़ाने की अपेक्षा अधिक हानि ही पहुँचाती है। परिणामत: काव्य अपने मर्मस्पर्शी कथ्य की अपेक्षा कृत्रिम अलंकारों से आच्छादित रहता है। औचित्य का विचार हमें इससे दूर रखता है। संक्षेम में 'औचित्य' काव्य का नियामक, नियंत्रक होता है जो श्रेष्ठ काव्य के लिए अत्यंत आवश्यक है।

'औचित्य' काव्य सौंदर्य का मूलाधार :

'औचित्य' काव्य-सौंदर्य का मूलाधार है। वस्तुत: 'औचित्य' काव्य का सौंदर्य है। प्राय: सभी उचित बातों में सौंदर्य बढ़ता है। औचित्य 'काव्य' में सौंदर्य की वृद्धि करने में सहाय्यक तत्व सिद्ध हो चुका है। क्षेमेंद्र ने औचित्य के 28 भेद निर्धारित किए है। उन्होंने 'रस' को सर्वाधिक महत्व दिया है। वे रसौचित्य की व्याख्या करते हुए कहते है ''औचित्य के द्वारा रस और अधिक आस्वादनीय बनकर सहृदयों के सब हृदयों में व्याप्त होता है। मधुमास जैसे अशोक को अंकुरित कर देता है। मधुर तिक्त, लवण, कषाघ आदि रसों को युक्तिपूर्वक मिलाने से जिस प्रकार एक विलक्षण आस्वाद उत्पन्न होता है, ठिक उसी प्रकार शृंगार, वीर, शांत, करूण आदि रसों को परस्पर समन्वित करने पर एक अलौकिक रसानुभूति होती है।''

संक्षेप में आचार्य क्षेमेंद्र ने औचित्य को काव्य का केवल अनिवार्य, सौंदर्य वर्धक ही नहीं काव्य का मूलाधार मानकर उसे ही काव्य की आत्मा घोषित किया है। औचित्य के अभाव में श्रेष्ठ, सुंदर, सरस, सुरस काव्य का निर्माण असंभव है। सभी काव्यागों का समन्वय करनेवाला औचित्य अनिवार्य है।

'औचित्य' एक समन्वित तत्व :

आचार्य क्षेमेंद्र काव्य में रस एवं ध्वनि की अनिवार्य सत्ता को स्वीकार करते है। इनमें भी वे रस को सर्वोपरिस्थान देते है किन्तु वे यह भी सिद्ध करते है कि रस और औचित्य में अन्योन्याश्रित संबंध होता है। औचित्यभंग से रस भंग होता है। औचित्य के बिना रस और रस के बिना औचित्य अधूरे हैं। औचित्य को काव्य की आत्मा मानते हुए भी वे औचित्य की सफलता रसाभिव्यक्ति में मानते हैं। उनके मतानुसार कोई भी शब्द या वस्तु चित्रण आनंददायक इसलिए होता है कि उसमें औचित्य अर्थात् रस व्यंजना होती है।

अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि औचित्य एक स्वयं सिद्ध तत्त्व है। औचित्य वस्तुत: काव्य के संबंध में तारतम विवेक है। औचित्य का प्रतिपादन करके क्षेमेंद्र ने काव्य को सम्नवित मार्ग पर ले जाने का सफल

प्रयास किया है। भारतीय समीक्षा शास्त्र का अध्ययन करने से यह सहज स्पष्ट हो जाता है कि औचित्य सिद्धांत ही वास्तव में ऐसा सिद्धांत है जिसे शुद्ध रूप से समीक्षा सिद्धांत समझना चाहिए।

3.3.3.2 औचित्य सिद्धान्त–अवधारणा

आज हम जिसे भारतीय काव्यशास्त्र कहते हैं वह मूलत: संस्कृत काव्यशास्त्र है। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य लक्षण-रीति, अलंकार, रस, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य, काव्य के गुण-दोष, काव्य के विविध रूप का विश्लेषण है। भारतीय काव्यशास्त्र में विभिन्न सम्प्रदायों की स्थापना का इतिहास भी बड़ा रोचक है। प्रारंभ में काव्य और काव्य के स्वरूप की चर्चा चलती रही। 'शब्दार्थों सहितों काव्यम्', 'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम्' कहकर आरम्भिक रूप में शब्द और अर्थ को ही प्रधानता मिली। परंतु बाद में ऐसा विचार आगे आया कि शब्दार्थ तो काव्य का शरीर मांत्र है, वह काव्य का बाहय रूप मात्र है। काव्य की आत्मा अथवा काव्य का अन्तस्तत्व तो शब्दार्थ से कुछ अलग ही है। इस तरह काव्य की आत्मा, प्राणतत्व अथवा अन्तस्तत्व की खोज करते हुए विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार होने लगा और इसी को लेकर जो मत-मतांतर व्यक्त हुए उन्हीं के आधार पर संस्कृत काव्यशास्त्र में विभिन्न सम्प्रदायों का अविर्भाव हुआ। काव्य के प्राणभूत तत्वों के रूप में जो तत्व सामने आए वे इस प्रकार है- रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा औचित्य। ये ही भारतीय काव्यशास्त्र के छ: सम्प्रदाय है। हमें इस इकाई में औचित्य सम्प्रदाय अर्थात सिद्धांत पर विचार करना है।

3.3.3.3 औचित्य के भेद

अनौचित्य ही रसभंग का प्रधान कारण है और औचित्य का समावेश ही रस का परम रहस्य है। आनंदवर्धन का ध्वनि सिद्धांत रस और औचित्य पर ही स्थापित है। इनका रस विवेचन और शिल्प विवेचन का आधार भी औचित्य है। इन्होंने 'औचित्य' शब्द का प्रयोग करते समय उसके छ: प्रकार निश्चित किए- (1) रसौचित्य, (2) अलंकारौचित्य, (3) गुणौचित्य, (4) संघटनौचित्य, (5) प्रबंधौचित्य, (6) रीत्यौचित्य।

1. **रसौचित्य :** का संबंध रहा है। शब्द और अर्थ का नियोजन औचित्यपूर्ण हो व्याकरण दोष से बचना प्रबंधकाव्य में संधि, घटनादि का प्रयोग रसानुकूल हो, विरोधी रसांगोंका वर्णन न हो। गौण वस्तु, घटना, पात्र, वातावरण का विस्तार औचित्यपूर्ण हो, विभाग, अनुभाव, संचारी के वर्णन में औचित्य का निर्वाह हो।

2. **अलंकारौचित्य :** के अंतर्गत अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग, अलंकार काव्य में आरोपित न हो, भावों की पुष्टि में योग देनेवाले अलंकारों की अनिवार्यता, उनका स्थान काव्य में गौण होना चाहिए।

3. **गुणौचित्य :** काव्य में गुणों का समन्वय रसानुकूल होना चाहिए।

4. **संघटनौचित्य :** का संबंध वाक्य रचना से है। पात्र की प्रकृति, विषय का स्वरूप, तात्पर्य और योग्यता को स्पष्ट करनेवाली वाक्य रचना होनी चाहिए।

5. **प्रबंधौचित्य :** प्रबंध काव्य के नियमों का निर्वहण करना चाहिए।

6. **रीत्यौचित्य :** वक्ता, रस, अलंकार तथा काव्य के स्वरूप के अनुकूल रीति का उचित प्रयोग ही रीत्यौचित्य है।

आनंदवर्धन को व्याख्याकार अभिनवगुप्त वे भी औचित्य के विषय में गंभीर विचार किया है। उनके मत से रस, ध्वनि और औचित्य काव्य के स्थायी तत्त्व है। ये परस्पर मिलकर ही काव्य में भव्यता लाते है। वैसे काव्य के मुलभूत जीवित-प्राणतत्त्व तो रस और ध्वनि ही है, औचित्य की सत्ता तो इनसे जुडकर ही है, अत: गौण ही है। फिर भी अभिनव गुप्त का कथन है कि औचित्य की स्वतंत्र सत्ता गौण होगे पर भी औचित्य के अभाव में विविध काव्य में पूर्णता असंभव है। इस तरह अभिनव गुप्त के मत से औचित्य काव्य का महत्त्वपूर्ण तत्व है।

वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रवर्तक कुंतक ने भी वक्रता के अंतर्गत औचित्य का समावेश कर उसका महत्व स्वीकार किया है। उनके मत से औचित्य वक्रता का परम रहस्य है, वक्रता का मूलाधार जीवन रहस्य औचित्य ही है। अत: वाक्य के शब्द में भी औचित्य का अभाव होने से सहृदयोंके आल्हाद कारित्व में हानि होती है। कुंतक वक्रता और औचित्य का संबंध नित्य मानते है।

महिमभट्ट ने काव्य दोष को अनौचित्य का नाम दिया और एक प्रकार से औचित्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया। अनौचित्य को रसानुभूति में बाधक माना है। वास्तव में महिमभट्ट ने औचित्य की अपेक्षा अनौचित्य का ही विचार किया है।

इनके अतिरिक्त राजशेखर, भोज, यशोवर्धन आदि आचार्यो ने औचित्य के तत्त्व को लेकर अपने विचार व्यक्त किए है। किंतु औचित्य की स्पष्ट रूप से व्याख्या करनेवाले आचार्यों में सर्वप्रथम आनंदवर्धन ही है। ध्यान रहे कि 'औचित्य' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करनेवाले आचार्य रूद्रट है। उन्होंने औचित्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया और इसे एकं निश्चित रूपरेखा में निर्धारित करने का श्रेय आनंदवर्धन को ही है। अभिनवगुप्त ने भी औचित्य के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की है।

औचित्य संबंधी उपरोक्त विकसित धारणा का सम्यक् चिंतन करके, आचार्य आनंदवर्धन और अभिनव गुप्त की औचित्य विषयक विवेचन का आधार ग्रहण कर क्षेमेंद्रने बारहवी शताब्दी में एक स्वतंत्र काव्य-संप्रदाय को जन्म दिया, जिसे ''औचित्य संप्रदाय'' कहा जाता है। क्षेमेंद्र स्वत: ध्वनिवादी थे फिर भी, 'औचित्य विचार चर्चा' नामक अपने ग्रंथ में उन्होंने औचित्य, उसका स्वरूप, महत्त्व, भेद आदि का मौलिक चिंतन प्रस्तुत किया है। औचित्य को व्यापक काव्य तत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने कहा- ''उचितस्य भाव: औचित्यम्'' उचित के भाव को औचित्य कहते है। काव्य में प्रत्येक काव्य तत्व का उचित रूप से प्रयोग औचित्य कहलाता है।

क्षेमेंद्र के अनुसार काव्य की आत्मा औचित्य है। उन्होंने काव्य के प्रत्येक अंग-उपांग, शब्द, अर्थ, पद, वर्ण, रीति, गुण, लिंग, वचन, वाक्य, रस, भाव, अलंकार, प्रबंध, प्रसंग, व्यवहार, विचार, विषय आदि सब में औचित्य को महत्त्वपूर्ण माना है। क्षेमेंद्र के मतानसुार-

''औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूचवर्ण।

रसजीवितभूतस्य विचारं करू तेऽधुना।।''

औचित्य ही रस का जीवितभूत है, प्राण है। काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है। आगे वे कहते हैं-

''अलंकारासत्वलंकारा गुणा एवं गुणाः सदा।

औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।''

संक्षेप में, क्षेमेंद्र ने औचित्य को काव्य का जीवित तत्व माना है। काव्य की सिद्धी रस से होती है। और औचित्य का काम उसे स्थायित्व प्रदान करना है।

रोमीय आलोचक होरेस का मनना था कि हर रूप की अपनी स्वतंत्र इकाई होती है। उसका स्वतंत्र रूप निखार भी जरूरी है। अगर कोई कलाकार किसी प्राणी का चित्र निकाले और जिसमें सिर मनुष्य का हो, शरीर मछली का हो और पूछ किसी पछी की हो तो उसे जीवन के परे की वस्तु मानी जाएगी या काल्पनिक वस्तु मानी जाएगी। ऐसा चित्र जीवन के साथ ताल्लुक नहीं रखेगा, जबकि उसका उपहास उड़ाया जाएगा। होरेस का औचित्य संबंधी विचार काव्य के हर अंग-उपांग से संबंधित है। होरेस ने औचित्य के 1) विषय, 2) चरित्र, 3) अभिनय, 4) घटना, 5) भाषा ये पाच भेद माने हैं। होरेस काव्य की सफलता और असफलता औचित्य के इन पाच तत्त्वों के आधार पर मानते हैं।

आचार्य क्षेमेंद्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में रस और औचित्य के पारस्परिक संबंध का विवेचन किया है। उनका कहना है कि काव्य का प्राणरूप रस है और जीवभूत औचित्य है। क्षेमेंद्र अपनी समीक्षा में आत्मा और जीव (जीवित अर्थात् प्राण) का अभिप्राय एक नहीं है। स्वयं क्षेमेंद्र ने अपने ङ्गऔचित्य विचार चर्चाफ ग्रंथ के एक श्लोक में कहा है-

'औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे।

रसजीवित भूतस्य विचारं कुरुतेधुना।।'

ध्वनिकार आनंदवर्धन ने औचित्य के छह भेद बताए हैं। 1) रस औचित्य 2) अलंकार औचित्य 3) गुण औचित्य 4) संगठन औचित्य 5) प्रबंध औचित्य 6) रीत्य औचित्य। इनका विवेचन निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत है-

रस औचित्य:

काव्य में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि का वर्णन करते समय औचित्य का खयाल ध्यान रखना चाहिए। मुख्य रस का विवेचन कैसे हो? अंगीभूत रस किस प्रकार मुख्य रस को सहायक हो? रसों में परस्पर विरोध कैसे हो? कौन-सा रस किस रस के साथ और किस विधि से निबद्ध होने पर अपनी विरुद्धता का परिमार्जन करता है? इन सारी बातों का विवेचन रसौचित्य में होना चाहिए। अगर काव्य में इन सारी बातों

का खयाल नहीं रखा गया तो उसमें कई दोष उत्पन्न हो सकते हैं। औचित्य के कारण ही रुचिर बना रस सबके हृदयों में व्याप्त हो जाता है और उनके मन को उसी प्रकार अंकुरित कर देता है।

अलंकार औचित्य :

काव्य में अलंकारों का प्रयोग मुख्य भाव की पृष्टि हेतु स्वाभाविक रूप से किया जाना चाहिए। काव्य में उनका स्वतंत्र या अलग अस्तित्व अनुचित है। इसमें अलंकारों के औचित्य को प्रधानता दी गई है।

गुण औचित्य :

काव्य में रस के अनुकूल गुणों का होना आवश्यक है। जैसे प्रसाद, माधुर्य, ओज आदि गुणों से संपन्न कविता पाठक के मन पर प्रभाव डालेगी। इसलिए कविता में गुणों होना भी औचित्यपूर्ण होता है।

संगठन औचित्य :

इस प्रकार के काव्य में चार बातों का विचार किया है; जिनमें रस का औचित्य, विषय का औचित्य, वक्ता का औचित्य, वाच्य का औचित्य शामिल हैं। इन चार बातों की सम्यक् सामासिक पद रचना को संगठन औचित्य कहा जाता है।

प्रबंध औचित्य :

प्रबंध काव्य में प्रख्यात और कल्पित कथा का उचित अनुपात होना ही प्रबंध औचित्य है। इस काव्य में कोई कथा रस प्रतिकूल नहीं होना चाहिए। कथा में वर्णित सारी घटनाएँ देशकाल वातावरण के अनुसार होनी चाहिए।

रीत्य औचित्य :

इस प्रकार के काव्य में रीति के विभिन्न गुणों का उचित प्रयोग होना आवश्यक है। काव्य के अनुकूल वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली आदि रीतियों का उचित प्रयोग आवश्य होना चाहिए।

आचार्य क्षेमेंद्र के अनुसार रस से काव्य संपन्न हो जाता है और औचित्य के द्वारा ही उसे स्थायी जीवन प्राप्त हो जाता है। ये दोनों सिद्धान्त एक-दूसरे में मिलेजुले हैं। क्षेमेंद्र ने औचित्य के सत्ताईस भेद बताए हैं- 1) पद, 2) वाक्य, 3) प्रबंधार्थ, 4) गुण, 5) अलंकार, 6) रस, 7) क्रिया, 8) कारक, 9) लिंग, 10) वचन, 11) विशेषण, 12) उपसर्ग, 13) निपात, 14) चाल, 15) देश, 16) कुल, 17) व्रत, 18) तत्त्व, 19) सत्त्व, 20) अभिप्राय, 21) स्वभाव, 22) सार संग्रह, 23) प्रतिभा, 24) अवस्था, 25) विचार, 26) नाम, 27) आशीर्वाद।

काव्य के हर अंग-उपांग पर औचित्य का प्रभाव नजर आता है। दरअसल औचित्य अन्य काव्य के अंगों को उपादेय बनाने का साधन है, साध्य नहीं। औचित्य को काव्य की आत्मा मानते हुए स्वतंत्र सिद्धान्त स्थापित करना उचित नहीं है। इस संदर्भ में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी अपने 'आधुनिक साहित्य' ग्रंथ में ठीक ही लिखते हैं-'कुछ मत ऐसे भी हैं, जो रस, अलंकार आदि प्रमुख सिद्धान्तो का विरोध न

करते हुए भी उनमें समन्वय लाने की चेष्टा करते हैं। ऐसे मतों को स्वतंत्र मत का स्थान नहीं दीया जा सकता। उदाहरण के लिए, क्षेमेंद्र का औचित्य नामक मत, जिसमें विभिन्न काव्य-तत्त्वों के समन्वय की योजना है।'

सार रूप में कहा जा सकता है कि काव्य निर्मिति प्रक्रिया में विभिन्न अनुकूलताओं पर ध्यान देना ही औचित्य है। इसके ध्यान रखने से काव्य की शोभा बढ़ जाती है, काव्य में निहित भावों की संप्रेषणीयता में बढ़ जाती है, काव्य में सरसता आ जाती है और सबसे बड़ी बात काव्य सहृदयों के लिए आनंददायी बन जाता है। काव्य में औचित्य का निर्वाह नहीं किया गया तो काव्य में अनेक दोष रह जाते हैं और उसकी प्रभावोत्पादकता खत्म हो जाती है। औचित्य एक व्यापक तत्त्व है। अलंकार योजना, रस योजना, वाक्य विन्यास, पद रचना, प्रबंधत्व आदि सभी में औचित्य का भाव जरूरी है। औचित्य के कारण वर्ण विन्यास में चारुता आ जाती है, रसानुकूलता आ जाती है, अलंकार भाव का निरूपण हो जाता है और उद्‌देश्य कथन में सहज आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। जो भी हो, मगर औचित्य को काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता। औचित्य काव्य का पथ प्रदर्शक जरूर है, मगर काव्य का मूल तत्त्व नहीं। औचित्य काव्य का अंतरंग तत्त्व होने के बावजूद उसकी महत्ता रस पर ही निर्भर रहती है। आचार्य आनंदवर्द्धन इसी बात के पक्षधर है कि रस से अलग औचित्य का अस्तित्व नहीं है। आचार्य क्षेमेंद्र भी इस बात को स्वीकार करते हैं। वे रस सिद्ध काव्य को स्थिर प्राण तत्त्व (जीवित) औचित्य को मानते हैं, रसहीन काव्य को नहीं। औचित्य काव्य का अनिवार्य अंतरंग गुढ़ और सूक्ष्य तत्त्व जरूर है, मगर काव्य की आत्मा नहीं।

3.4 सारांश

1. प्रस्तुत ध्वनि सिद्‌धांत संस्कृत काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण सिद्‌धांत है।

2. नवीं शताब्दि में आनंदवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रंथ की रचना करके ध्वनि को एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण काव्य-लक्षण के रूप में स्वीकार करके उसेही काव्य की आत्मा माना है। वे काव्य को 'काव्यस्य आत्मा ध्वनि:' कहते है।

3. आ. आनंदवर्धन के मतानुसार जहाँ शब्द और अर्थ अपनी सत्ता को गौण करके जिस विशेष अर्थ को प्रकाशित करते है वहाँ ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ होता है।

4. आ. आनंदवर्धन के ध्वनि सिद्‌धांत का मूलस्त्रोत संस्कृत-काव्यशास्त्र वैयाकरणों का 'स्फोट' ध्वनि है।

5. आनंदवर्धन ने काव्य के विभिन्न अंगों का (रस, अलंकार, रीति, गुण-दोष आदि का) ध्वनि सिद्‌धांत के प्रकाश में अवलोकन करते हुए उनका ध्वनि से संबंध स्थापित किया है।

6. ध्वनि सिद्‌धांत के संस्थापक आचार्य आनंदवर्धन है उनके पश्चात आ. अभिनवगुप्त, आचार्य मम्मट, पंडितराज जगन्नाथ, आ. विश्वनाथ ने इसे अपना योगदान देकर समर्थन किया, उसे स्थिर एवं मौलिक रूप दिया है।

7. आनंदवर्धन ने ध्वनि के लक्षणामूला ध्वनि और अभिधामूला ध्वनि के रूप में प्रमुख दो भेद करते हुए उनके उपभेदों का विस्तृत व्याख्या की ही जो ध्वनि सिद्धांत का बलस्थान है।

8. ध्वनि सिद्धांत एक अत्यंत व्यापक अवधारणा है। ध्वनिवादी आचार्यों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी समन्वयवादी दृष्टि कही जा सकती है।

9. ध्वनि संप्रदाय में अन्य संप्रदाय की भाँति कई त्रुटियाँ और असंगतियाँ भी है।

10. वस्तुत: काव्य की आत्मा वह चारूत्व या सौंदर्य ही है जिसे रस भी कहा गया है और जिसका बर-बार उल्लेख आनंदवर्धन किया है। तथा वे ध्वनि, अलंकार, रीति और ये सब उसी चारूत्व की उपलब्धि के साधन मात्र है। इतना अवश्य है कि इन साधनों में ध्वनि का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसमें कोई विवाद नहीं हो सकता कि ध्वनि सिद्धांत संस्कृत काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है।

11. प्रस्तुत औचित्य सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र, संस्कृत काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण सिद्धांत है।

12. बारहवी शताब्दी में संस्कृत के आचार्य क्षेमेंद्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' नामक ग्रंथ की रचना करके औचित्य नामक एक अत्यंत महत्वपूर्ण काव्य-तत्व साहित्य विचारकों के सम्मुख रखा। जिसमें उन्होंने औचित्य को साहित्य का प्राणतत्व, आत्मतत्व सिद्ध करने का प्रयास किया है।

13. क्षेमेंद्र के विचारानुसार ''जो जिसके अनुरूप होता है, वह उचित होता है, और उचित होने का भाव ही औचित्य कहलाता है।''

14. क्षेमेंद्र के मतानुसार औचित्य रसरूप काव्य का जीवन स्वरूप है। रससिद्ध काव्य का औचित्य प्राणतत्व है।

15. औचित्य को सर्वसमावेशक तत्व के रूप में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास यहाँ किया गया है।

16. औचित्य पर विचार करनेवाले आचार्य केवल क्षेमेंद्र नहीं है उनसे पूर्व नाट्यशास्त्र ग्रंथ में आचार्य भरतमुनि ने औचित्य के स्थान पर 'लोकवृत्ति' शहर का प्रयोग करके प्रकारान्तसे औचित्य की ही चर्चा की है।

17. भरतमुनि के पश्चात भामह, दण्डी, रूद्रट ने औचित्य का सैद्धांतिक उल्लेख करके दोष परिहार में औचित्य का महत्व स्थापित किया।

18. आनंदवर्धन ने औचित्य तत्त्व की बहुत व्यापक मीमांसा करके एक प्रकार से क्षेमेंद्र के लिए, सिद्धांत स्थापना के लिए पक्की बुनियाद तैयार करके रखी थी, जिसपर क्षेमेंद्र ने औचित्य सिद्धांत की स्थापना की है।

19. 'उचितस्य भाव: औचित्यम्' कहकर क्षेमेंद्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा सिद्ध करने का प्रयास किया है। काव्य को औचित्य के बिना असंभव माना है। काव्य का जीवित तत्त्व होने का दावा प्रस्तुत किया है।

20. औचित्य काव्य का प्राणतत्व नहीं है। यही बात सर्व मान्य हो गयी है कि औचित्य के कारण साहित्य में स्वाभाविकता, सुंदरता, पवित्रता आ जाती है। अत: किसी भी हालत में औचित्य की अवहेलना नहीं की जा सकती। औचित्य काव्य का नियामक तत्व है।

3.5 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

प्रश्न 1 : निम्नलिखित वाक्यों में दिए गए पर्यायों में से उचित पर्याय चुनकर वाक्य फिर से लिखिए।

1. ध्वनि सिद्धांत का प्रवर्तक ग्रंथ .... है।
   (क) ध्वन्यालोक (ख) काव्यप्रकाश (ग) रसगंगाधर (घ) साहित्यदर्पण।
2. अभिनव गुप्त ने .... ग्रंथ लिखा है।
   (क) ध्वन्यालोक (ख) ध्वन्यालोक लोचन (ग) ध्वनिशास्त्र (घ) ध्वनिविज्ञान।
3. 'ध्वन्यालोक' ग्रंथ की रचना .... ने की है।
   (क) अभिनव गुप्त (ख) आनंदवर्धन (ग) आचार्य मम्मट (घ) भरतमुनि।
4. 'काव्यस्य आत्मा ध्वनि:' यह काव्य लक्षण .... का है।
   (क) आ. भरतमुनि (ख) आ. विश्वनाथ (ग) पंडितराज जगन्नाथ (घ) आ. आनंदवर्धन।
5. आनंदवर्धन ने ध्वनि को .... विभागों में विभाजित किया है।
   (क) दो (ख) चार (ग) तीन (घ) पाच।
6. आनंदवर्धन .... काव्य को उत्तम कोटि का मानते हैं।
   (क) गुणीभूत व्यंग्य काव्य (ख) ध्वनिकाव्य (ग) चित्रकाव्य (घ) अवरकाव्य।
7. 'ध्वनिसिद्धांत' का मूलाधार .... है।
   (क) अलंकार (ख) गुण (ग) शब्दशक्ति (घ) रीति।
8. औचित्य सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य .... है।
   (क) क्षेमेंद्र (ख) वामन (ग) कुंतक (घ) भरत।
9. काव्यांगों की उचित योजना ही .... कहलाती है।
   (क) शैली (ख) रीति (ग) औचित्य (घ) अभिव्यंजना।
10. क्षेमेंद्रने औचित्य के .... भेद निर्धारित किए हैं।
   (क) 25 (ख) 27 (ग) 29 (घ) 28।
11. 'जो जिसके अनुरूप होता है, वह उचित होता है, और उचित होने का भाव ही औचित्य कहलाता है' .... का कथन है।''

(क) भरत (ख) आनंदवर्धन (ग) क्षेमेंद्र (घ) अभिनवगुप्त।

12. 'औचित्य' सिद्धांत ने काव्य में .... को महत्व प्रदान किया।

(क) स्वाभाविकता (ख) रस (ग) अलंकार (घ) ध्वनि।

13. क्षेमेंद्र ने 'औचित्य' संबंधी अपने विचार .... नामक ग्रंथ में विस्तार के साथ स्पष्ट किए है।

(क) नाट्यशास्त्र (ख) काव्यालंकार (ग) औचित्य विचार चर्चा (घ) ध्वन्यालोक।

14. 'औचित्य' की व्यापक मीमांसा करनेवालो में क्षेमेंद्र से पूर्व आचार्य .... का नाम लिया जाता है।

(क) भामट (ख) आंनदवर्धन (ग) दण्डी (घ) अभिनवगुप्त।

15. आ. क्षेमेंद्र ने काव्य में .... को महत्त्व दिया है।

अ) औचित्य ब) अलंकार क) रस ड) गुण

16. क्षेमेंद्र के अनुसार औचित्य के .... भेद हैं

अ) 22 ब) 27 क) 6 ड) 8

17. संगठन औचित्य में .... बातों का विचार किया जाता है।

अ) 4 ब) 6 क) 8 ड) 10

18. ध्वनिकार आनंदवर्धन ने औचित्य के .... भेद बताए हैं।

अ) 4 ब) 6 क) 8 ड) 10

19. आचार्य क्षेमेंद्र ने .... ग्रंथ में औचित्य संबंधी चर्चा की है।

अ) औचित्य विचार चर्चा ब) आर्स पोएटिका

क) द फंक्शंन ऑफ क्रिटिसिज्म ड) इनमें से कोई नहीं

20. रोमीय आलोचक होरेस ने .... ग्रंथ में औचित्य संबंधी विचार व्यक्त किए हैं।

अ) औचित्य विचार चर्चा ब) आर्स पोएटिका

क) द फंक्शंन ऑफ क्रिटिसिज्म ड) इनमें से कोई नहीं

3.6 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

1. प्रज्ञा : बुद्धि, जन्मजात प्रतिभा।
2. विवक्षित : वांछनिय, अपेक्षित।
3. दृग : लोचन, नयन, आँखे।
4. कांति : चमक, ताजगी, तेज।

5. षोडश : सोलह।

6. षोऽशा : सोलह वर्गीय युवति, तरुणी।

7. श्यामा : रात्र, रजनी।

8. तट : किनारा (सागर, नदी आदि का)

9. स्रोत : उद्‌गमस्थल, मूल उत्स।

10. व्यंग्यार्थ : प्रतीयमान अर्थ।

11. औचित्य : उचित, स्वाभाविक, अनुरूप, उचितमात्रा।

12. सर्जन : सृजन, निर्माण (नवनिर्माण) नवनिर्मिति।

13. मेखला : कमर पर पहना जानेवाला नारी अलंकार।

14. नुपूर : घुंगर।

15. केयूर : मस्तक का आभूषण।

16. कस्तुरी : सुगंधित वस्तु संदर्भ-कस्तुरी मृग।

17. नियामक : नियंत्रण, अनुशासन।

18. समीचीन : उचित, औचित्यपूर्ण, स्वाभाविक, उपयुक्त।

19. प्राणतत्त्व : मूलतत्व, आत्मतत्व, प्रधानतत्व।

20. पुष्टि : समर्थन करना, बल देना।

21. विन्यास-जमाकर रखना, सजाना-संवारना।

22. निरूपण-विवेचना करना, अच्छी तरह समझाना।

3.7 स्वयं-अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1 :

1. ध्वन्यालोक	2. ध्वन्यालोक लोचन	3. आनंदवर्धन।
4. आ. आनंदवर्धन	5. तीन	6. ध्वनिकाव्य।
7. शब्दशक्ति	8. क्षेमेंद्र	9. औचित्य।
10. 28	11. क्षेमेंद्र	12. स्वाभाविकता।
13. औचित्य विचार चर्चा	14. आनंदवर्धन।	15. औचित्य
16. 27	17. 4	18. 6
19. औचित्य विचार चर्चा		20. आर्स पोएटिका

3.8 स्वाध्याय

प्रश्न 1 : दीर्घोत्तरी प्रश्न।

1. ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ध्वनि सिद्धांत का सामान्य परिचय दीजिए।
2. ध्वनि के प्रमुख भेदोंपर प्रकाश डालिए।
3. स्फोट और ध्वनि व्यंजना के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
4. 'औचित्य' की अवधारणा स्पष्ट करते हुए 'औचित्य' का परिचय दीजिए।
5. काव्य में औचित्य का महत्व सिद्ध कीजिए।
6. संस्कृत काव्यशास्त्र में औचित्य सिद्धांत का स्थान निर्धारित कीजिए।
7. 'औचित्य सिद्धांत' पर सारगर्भीत निबंध लिखिए।
8. औचित्य के भेदों का परिचय दीजिए।
9. आनंदवर्द्धन के औचित्य भेदों का विवेचन कीजिए।

प्रश्न 2 : लघुत्तरी प्रश्न।

1. ध्वनि का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. स्फोट ध्वनि का स्वरूप बताईए।
3. लक्षणामूलाध्वनि किसे कहते।
4. 'औचित्य' का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
5. औचित्य का महत्व विशद कीजिए।
6. आनंदवर्धन का 'औचित्य' संबंधी विचार क्या है?
7. क्षेमेंद्र की औचित्य संबंधी मान्यता स्पष्ट कीजिए।
8. औचित्य की अनिवार्यता पर प्रकाश डालिए।
9. औचित्य को काव्य में विशेष महत्त्व प्रदान करने वाले भारतीय आचार्य क्षेमेंद्र और पाश्चात्य आलोचक हेरेस है।
10. देशकाल और परिस्थिति के अनुरुप औचित्यपूर्ण व्यवहार सदाचार कहलाता है। सौंदर्य एवं कला के क्षेत्र में औचित्य का विशेष महत्त्व है।
11. अलंकार औचित्य यानी काव्य में अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग मुख्य भाव की अभिव्यक्ति की पुष्टि हेतु होना चाहिए।

12. रस से अलग औचित्य अस्तित्व नहीं है।

13. काव्य सृजन में रस, अलंकार, वाक्य, पद, प्रबंध और रीति का औचित्य भाव जरूरी है।

14. काव्य हर सिद्धान्त अपने-अपने स्थान पर है, मगर काव्य में औचित्य का निर्वाह न होने पर उसमें अनेक दोष पाए जाते हैं और उसकी प्रभावोत्पादकता खत्म हो जाती है।

3.9 क्षेत्रीय कार्य

1. किसी साहित्यिक रचना की 'ध्वनि' के आधारपर समीक्षा कीजिए।
2. किसी कवि काव्य रचना का व्यंग्यार्थ प्राप्त कीजिए।
3. ध्वनि की रस, अलंकार, रीति के साथ तुलना कीजिए।
4. प्रस्तुत सिद्धान्त में उल्लखित संस्कृत काव्य पंक्तियों का अर्थ (व्यंग्यार्थ) जानने की कोशिश कीजिए। अन्य समानार्थी उदाहरण जुटाईए।
5. साहित्यिक कृति की 'औचित्य' के आधारपर समीक्षा कीजिए।
6. 'औचित्य' का अन्य काव्यागोंके साथ तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
7. 'प्रस्तुत सिद्धान्त में उल्लेखित संस्कृत पंक्तियों का अर्थ जानने की कोशिश कीजिए। उचित अन्य उदाहरण जुटाने का यत्न कीजिए।'
8. मानव जीवन में औचित्य सिद्धान्त का महत्त्व अंकित कीजिए।
9. किसी एक उदाहरण के द्वारा औचित्य सिद्धान्त को समझाइए।

3.10 अतिरिक्त अध्ययन के लिए।

1. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र - डॉ. ज्ञानराज गायकवाड
2. भारतीय एवं पाश्यात्य काव्यशास्त्र - डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त
3. भारतीय काव्यशास्त्र - डॉ. भगीरथ मिश्र
4. भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा - डॉ. नगेंद्र
5. सिद्धांत और अध्ययन - गुलाबराय
6. भारतीय काव्यशास्त्र - डॉ. अशोक के. शाह
7. भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत - डॉ. कृष्णदेव झारी
8. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र - डॉ. सुरेशकुमार जैन। प्रा. महावीर कंडारकर

9. साहित्य विवेचन : 'सुमन' - मलिक

10. भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा - डॉ. नगेंद्र

11. क्षेमेंद्र-औचित्य विचार चर्चा

12. काव्यशास्त्र भारतीय एवं पाश्चात्य-डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी

13. रस सिद्धांत - डॉ. नगेंद्र

❑❑❑

सत्र 3 : इकाई 4

आलोचना – आलोचना के प्रकार – हिंदी के प्रमुख आलोचक

अनुक्रम

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 विषय–विवेचन

4.3.1 आलोचना - अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप

4.3.2 हिंदी आलोचना का संक्षिप्त इतिहास

4.3.3 आलोचना के प्रकार

4.3.3.1 सैद्धांतिक

4.3.3.2 व्याख्यात्मक

4.3.3.3 प्रगतिवादी

4.3.3.4 ऐतिहासिक

4.3.3.5 मनोवैज्ञानिक

4.3.3.6 नई समीक्षा

4.3.4 हिंदी के प्रमुख आलोचक

4.3.4.1 आ. रामचंद्र शुक्ल

4.3.4.2 आ. हजारीप्रसाद द्विवेदी

4.3.4.3 आ. नंददुलारे वाजपेयी

4.3.4.4 डॉ. नगेन्द्र

4.3.4.5 डॉ. रामविलास शर्मा

4.3.4.6 डॉ. नामवर सिंह

4.4 सारांश

4.5 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

4.6 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

4.7 स्वयं–अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

4.8 स्वाध्याय

4.9 क्षेत्रीय कार्य

4.10 अतिरिक्त अध्ययन के लिए।

4.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप-

1. आलोचना अर्थ, परिभाषा, स्वरूप एवं प्रकारों से परिचित हो जाएँगे।
2. हिंदी की सैद्धांतिक आलोचना से परिचित हो जाएँगे।
3. हिंदी की ऐतिहासिक आलोचना से परिचित हो जाएँगे।
4. हिंदी की प्रगतिवादी आलोचना से परिचित हो जाएँगे।
5. हिंदी की मनोवैज्ञानिक आलोचना से परिचित हो जाएँगे।
6. हिंदी की नई समीक्षा से परिचित हो जाएँगे।
7. हिंदी की व्याख्यात्मक आलोचना से अवगत हो जाएँगे।
8. आचार्य रामचंद्र शुक्ल का योगदान जान जाएँगे।
9. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के व्यक्ति एवं साहित्य से परिचित हो जाएँगे।
10. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की समीक्षा दृष्टि से अवगत हो जाएँगे।
11. डॉ. नगेन्द्र के व्यक्ति एवं साहित्य से परिचित हो जाएँगे।
12. डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि से अवगत हो जाएँगे।
13. हिंदी आलोचना क्षेत्र में नामवर सिंह का स्थान जान पाएँगे।

4.2 प्रस्तावना

आलोचना मानव प्रकृति में निहित एक सहज वृत्ति है। साहित्य और आलोचना दोनों का उद्गम स्त्रोत मानव मन है। साहित्य मानव-हृदय की रसात्मक अनुभूतियों का भाव-प्रवण अभिव्यंजन व्यापार है और समीक्षा साहित्य निहित संवेदनाओं की विश्लेषण प्रक्रिया है जो विविध शैलियों और लक्ष्यों का निर्धारण करती है। सृजन और समीक्षा की मूल प्रेरणा मानव चित्त से सम्बध होने के कारण दोनों में एक दूसरे की गुणात्मकता का समावेश अल्पाधिक मात्रा में हो जाता है। रचना और मीमांसा का यह स्वरूप संगठन सभी देशों के साहित्य में न्यूनाधिक मात्रा में समानांतर गति के साथ विकसित होता दिखाई देता है।

साहित्य सृजन की प्रक्रिया सरल, सहज न होकर जटिल होती है अत: समीक्षक को भी कला कृति की सम्यक् पहचान के लिए सम्पूर्ण जटिल प्रक्रिया के साथ अंतरंग संबंध जोडना पडता है। फिर भी सर्जक और समीक्षक की कार्य-पद्धति भिन्न है। समीक्षा आधुनिक युग की सर्वाधिक सशक्त विधा है, जिसने सृजनात्मक साहित्य के विविध रूपों की विश्लेषणात्मक सामग्री से अपने भण्डार की वृद्धि की है।

4.3 विषय–विवेचन

4.3.1 आलोचना – अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप

आलोचना शब्द का अर्थ :

'आलोचना' शब्द संस्कृत भाषा का है। यह शब्द 'ल्युच' या 'लुच' अर्थात 'लोच' धातु से बना है। इसका विग्रह आ + लोच् + णिय् + ल्युच = आलोचना है। 'आ' उपसर्ग का अर्थ है चारों ओर से, 'लोच्' का अर्थ है देखना। इस प्रकार समग्र रूप में चारों ओर से देखना या परीक्षण करना आलोचना है। हिंदी साहित्य में आलोचना, समीक्षा, समालोचना आदि शब्दों का प्रयोग प्राय: समान अर्थों में होता है। व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ की दृष्टि से समीक्षा का आशय है सम्यक + ईक्षा अर्थात भली भाँति देखना।

'समालोचना' शब्द भी संस्कृत भाषा का ही है। इस शब्द का विग्रहाशं है– सम् + आइ + लोचन + आ। सम का अर्थ है भलिभाँति आइ का अर्थ है मर्यादा और लोचन का अर्थ है देखना। समालोचना का अर्थ हुआ 'सब प्रकार से भलिभाँति देखना।' किसी वस्तु या कृति की सम्यक व्याख्या, उसका मूल्यांकन करना ही आलोचना है। आलोचक किसी कवि या लेखक की कृति को देखता या परखता है।

मराठी में 'आलोचना' के लिए टीका, भाष्य, समीक्षण, परीक्षण शब्द प्रचलित है। आज मराठी में समीक्षा और समीक्षक शब्द बहुप्रचलित है। अंग्रेजी साहित्य में आलोचना के लिए 'क्रिटिसिज्म' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द 'क्रिटीज' शब्द से बना है, इसका अर्थ भी 'सम्यक्' रूप से देखना है। कला अथवा साहित्य के मूल्यांकन के अर्थ में इसका प्रयोग होता है।

आलोचक किसी कलाकृति में व्याप्त प्रभाव, आस्वाद और मूल्यों की विवेचना करता है। वह कवि कर्म को प्रकाश में लाकर कवि के अभिप्राय को स्पष्ट करता है। विधाता की सृष्टि को कवि परखता है और आलोचना करता है। वह साहित्य में निहित अमूल्य सौंदर्य तत्त्वों का अन्वेषण करता है।

परिभाषा :

1. मॅथ्यू आर्नाल्ड ने – समीक्षा अथवा आलोचना की परिभाषा देते हुए लिखा है कि ''आलोचना का प्रमुख उद्देश्य संसृति द्वारा ज्ञात एवं विचारित सर्वोत्कृष्ट बातों का ज्ञान करना तथा उनसे दूसरों को इसलिए अवगत करना है कि सत्य एवं यथार्थ विचारों का स्त्रोत स्फुरित हो सके।''
2. टी. एस. इलियट का मत है कि ''आलोचना द्वारा कलाकृति का निदर्शन और अभिरूचि का परिष्कार होता है।''
3. आई. ए. रिचडर्स के अनुसार ''कला जीवन की अनुभूतियों का विवेचन तथा मूल्यांकन आलोचना है।''

4. इनसायक्लोपीडिया ब्रिटानिका में कहा गया है कि ''समालोचना का अर्थ वस्तुओं के गुण-दोष की परख करना है, चाहे वह परख साहित्य के क्षेत्र में की गयी हो अथवा ललित कला के क्षेत्रों में। इसका विकास स्वरूप-निर्णय में सन्निहित रहता है।''

5. वर्सफोल्ड के विचार से ''आलोचना कला और साहित्य के क्षेत्र में निर्णय की स्थापना है।''

6. व्हीक्टर हयूगो के अनुसार, ''उस कार्य को आलोचना कहा जाता है जिसके द्वारा किसी रचना की अच्छाई तथा बुराई की परख होती है।''

7. हरबर्ट रीड का विचार है कि ''आलोचना केवल कलाकृति से ही निरपेक्ष सम्बन्ध नहीं रखती बल्कि रचनाकार की प्रेरक शक्तियों और उसकी रचना प्रक्रियाओं के विविध अंगों का भी विश्लेषण करती है।

8. ए. सी. वार्ड का मत है कि ''जीवन के परिवेश के महत्त्व को धारण करती हुई आलोचना लेखक की रचना में अभिव्यक्त जीवन-सत्य के स्तर तथा गुण का परीक्षण करती है।''

संस्कृत आचार्यों में सर्वप्रथम राजशेखर ने साहित्य के संदर्भ में समीक्षा शब्द का प्रयोग किया। राजशेखर से पूर्व संस्कृत समीक्षा का कार्य दार्शनिक तत्त्व विवेचन, सिद्धांत, चर्चा अथवा भाष्य एवं टीका के रूप में मूल ग्रंथ का विवेचन था। आगे चल कर समीक्षा का कार्य तार्किकता, वैज्ञानिकता पर आधारित हुआ।

हिंदी में साहित्यिक कृतियों के विवेचन, विश्लेषण तथा मूल्यांकन के अर्थ में समीक्षा की विविध परिभाषाएँ निरूपित हुई है। डॉ. श्यामसुंदर दास ने ''साहित्य क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना माना है।''

डॉ. चतुर्वेदी की परिभाषा- ''समीक्षा वह तात्त्विक प्रक्रिया है, जिसमें मनुष्य कुछ दर्शनीय पदार्थ देखने की इच्छा करें और देख चुकने पर उसमें जो द्रष्टव्य है, उसे दूसरों को भी दिखावें। आलोचना की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधारपर आलोचना का स्वरूप सहज स्पष्ट होता है।

आलोचना का स्वरूप –

आलोचना के स्वरूप पर विचार करते समय स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह कला है या विज्ञान। इस संबंध में वैचारिक भिन्नता प्राप्त होती है। डॉ. दशरथ ओझा आलोचना के वैज्ञानिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं ''आलोचना न्याय का विषय है, कल्पना का नहीं, इसमें तर्क की प्रधानता है भाव की नहीं। इसमें मस्तिष्क पक्ष का अधिक आलम्बन लिया जाता है, हृदय पक्ष का कम और इसके द्वारा सत्य का निरूपण किया जाता है, संभावना का नहीं। अत: आलोचना शास्त्र विज्ञान की ओर अधिक झुकता है। तार्किकता एवं विश्लेषण को अपना अस्त्र बनाने के कारण यह कला से नाता तोड़ता हुआ विज्ञान से नाता जोड़ता ज्ञात होता है।''

डॉ. नगेंद्र ने आलोचना के स्वरूप निर्धारण में उसकी कलामयता को प्रमुखता दी है और वैज्ञानिकता को गौण माना है ''आलोचना की आत्मा कलामय है, किन्तु इसकी शरीर रचना वैज्ञानिक है। आत्मा के कलामय होने का अर्थ यह है- कि आलोचना भी मूलत: आत्माभिव्यक्ति ही है। यहाँ भी आलोचक कलाकृति के विवेचन-विश्लेषण के माध्यम से आत्म लाभ करता है। आलोचना की विषय रसात्मक होता है और आलोचना का परिणति भी आत्मसिद्ध में ही होती है।

आलोचना के संबंध में भ्रांतिपूर्ण धारणाएँ प्रचलित है। कुछ विद्वान आलोचना को साहित्यानुसंधान मानते है। वस्तुत: अनुसंधान का प्रमुख कार्य अज्ञात तथ्यों की खोज तथा ज्ञात तथ्यों की नवीन व्याख्या है। जब तक तथ्यों या दृष्टिकोण संबंधी नवीनता न हो, तब तक उसे अनुसंधान की कोटि में नहीं रखा जा सकता। परंतु आलोचना का कार्य किन्ही मानदण्डों के आधारपर विशेषताएँ बताना, व्याख्या करना अथवा मूल्यांकन है। अत: समस्त अनुसंधान की कृतियॉ आलोचना नहीं हो सकती और न समस्त आचोलना की कृतियाँ अनुसंधान ही। आलोचना अनुसंधान तभी हो सकती है, जब कि उसमें आद्यन्त नवीन और अब तक अज्ञात दृष्टिकोण की खोज से संबंधित व्याख्या विद्यमान हो।

साहित्यिक इतिहास और आलोचना :

इतिहास और आलोचना की प्रक्रिया में भिन्नता है। इतिहास का प्रमुख ध्येय कालक्रम में लेखक और कृति की व्यवस्था और उसका स्थूल परिचय है। आलोचना ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ध्यान रखती हुई लेखक के महत्व का प्रकाशन, कृति की मूल्यांकन-संबंधी विवेचना, कृति की व्याख्या और उसकी विशेषताओं का स्पष्टीकरण करती है। ऐतिहासिक आलोचना इतिहास की पृष्ठभूमि ग्रहण करती है, पर वह इतिहास नहीं।

काव्यशास्त्र और आलोचना :

काव्यशास्त्र और काव्य सिद्धांत को कुछ विद्वानों ने आलोचना का एक रूप माना है। परन्तु दोनों में अंतर है। काव्यशास्त्र या सिद्धांत समस्त काव्य में व्याप्त उसके स्वभाव, सौंदर्य, प्रक्रिया, प्रभाव आदि से संबंधित नियमों और सिद्धांतों का विश्लेषण और विवेचन करता है; आलोचना उन सिद्धांतों और मानदंडों या कसौटी के रूप में स्वीकार करती है। आलोचना निराकार नियमों और सिद्धांतों की खोज नहीं करतीं, वरन् कवि की कृति की व्याख्या का मूल्यांकन करती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समीक्षा विज्ञान भी है और कला भी। जहाँ उसका क्षेत्र वर्णनीय से संबंध है, वह वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करती है और जहाँ वर्णनातीत से संबंध है, वहाँ उसको कला का सहारा लेना पडता है। दूसरी बात यह कि आलोचना अनुसंधान एवं साहित्यिक इतिहास या काव्यशास्त्र नहीं है वह स्वतंत्र विधा है।

4.3.2 हिंदी आलोचना का संक्षिप्त इतिहास :–

आलोचना या समालोचना (Criticism) किसी वस्तु, विषय की उसके लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए, उसके गुण–दोषों एवं उपयुक्तता का विवेचन करने वाली साहित्यिक विधा है। इसमें पाठ अध्ययन, विश्लेषण, मूल्यांकन एवं अर्थ निगमन की प्रक्रिया शामिल है। हिंदी आलोचना की शुरुआत 19वीं सदी के उत्तरार्ध में भारतेंदु युग से मानी जाती है। इस समय साहित्य में विभिन्न विधाओं का जन्म हो रहा था। आलोचना के विकास को कई काल खंडों में विभाजित किया जा सकता है। हिंदी साहित्य में कुछ आलोचकों ने शुक्ल जी को केंद्र में मानकर हिंदी आलोचना को तीन युगों में विभाजित किया है – शुक्लपूर्व युग, शुक्लयुग, शुक्लोत्तरयुग।

समकालीन आलोचक आलोचना के इतिहास को निम्न आधारों पर स्पष्ट करते हैं–

1. आधुनिक काल के पूर्व की आलोचना
2. आधुनिक युग की आलोचना-
   (1) भारतेंदु युग
   (2) द्विवेदी युग
   (3) शुक्ल युग
   (4) शुक्लोत्तर युग
   (5) स्वातंत्र्योत्तर
   (6) समकालीन

1. आधुनिक काल के पूर्व की आलोचना:–

आधुनिक काल के पूर्व हिंदी साहित्य में आदिकाल एवं भक्तिकाल यह दो काल रहे हैं। इस काल में आलोचना का अधिक विकास नहीं हुआ। विश्वनाथ त्रिपाठी का मत हैं कि, ''आलोचना कवि या कवि कर्म का मूल्यांकन है, जो कि गंभीर रूप में गद्य में ही संभव है।'' संस्कृत के काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों से इस काल के कवि प्रेरणा लेकर काव्य रचना करते हैं।

रीतिकाल में आचार्य कवियों ने प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्रों से प्रेरणा लेकर विभिन्न लक्षण ग्रंथों की रचना की है । विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार ''हिंदी आलोचना का विकास रीतिकाल के पहले शुरू होता है।'' 16वीं शताब्दी के साहित्यकार कृपाराम हिंदी के सर्वप्रथम काव्यशास्त्री माने जाते हैं।

डॉ. रामचंद्र तिवारी के विचारों से ''रीतिकाल में व्यवहारिक आलोचना का रूप संस्कृत के सुत्र शैली के रूप में प्रचलित रहा।'' जैसे–

''सतसैया के दोहरे ज्यो नाविक के तीर,

देखन में छोटन लगे घाव करे गंभीर।''

बिहारी

इस काल में कवियों की तुलना भी की है । जैसे-

''सूर-सूर तुलसी ससि, केशव उड़ग़न दास।

अब के कवि खद्योत सम, जह-तह करे प्रकास।।''

अत: इसमें आलोचना का स्वरूप न गंभीर है और न प्रभावपूर्ण। प्रभावात्मक अभिव्यक्ति और रचनात्मक मूल्यांकन का इसमें दर्शन होता है। खंडन-मंडन कि यह वह शैली है, जो साहित्य एवं आलोचना के सही स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर पाती।

2. आधुनिक युग की आलोचना:-

1. भारतेंदु युग:-

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल विभिन्न खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड 'भारतेंदु युग' नाम से जाना जाता है। भारतेंदु युग में गद्य का विकास होकर आलोचना के वास्तविक स्वरूप की शुरुआत होती है। प्रस्तुत युग के आलोचक है- भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी (प्रेमघन), आदि।

भारतेंदु युग में सैद्धांतिक आलोचना का आरंभ होता है और व्यवहारिक आलोचना पत्र-पत्रिकाओं से आगे बढ़ती है। प्रस्तुत काल के संदर्भ में विश्वनाथ त्रिपाठी का मत है कि पश्चिम के प्रभाव गद्य के विकास और युगबोध आदि के कारण पश्चिमी आलोचना का प्रभाव तो दिखाई देता है, किंतु इस काल में विकसित होने वाली आलोचना उन विधाओं में से है, जो पश्चिमी साहित्य की नकल नहीं है, बल्कि अपने साहित्य को समझने-बुझने और उसकी उपयोगिता पर विचार करने की आवश्यकता के कारण विकसित हुई है।

भारतेंदु युग के सैद्धांतिक आलोचना का आरंभ भारतेंदु के 'नाटक' निबंध से हुआ है। भारतेंदु अपने निबंध में 'हिंदी के नाटकों का स्वरूप कैसा होना चाहिए' इस पर अपने विचार प्रकट करते हैं और इन विचारों को ही आलोचना का प्रारंभ मानते है। वे लिखते हैं कि बदलती रुचि और युगबोध के अनुसार नाटककार को नाटक की रचना करनी चाहिए। आलोचना दृष्टि के विकास की शुरुआत पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से होती है। भारतेंदु की पत्रिका 'कवि वचन सुधा' और 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में विभिन्न रचनाओं की आलोचनाएँ प्रकाशित होती हुई हैं।

बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी प्रदीप' के लेखों के माध्यम से पाठको में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पर्याप्त विकास किया। उनकी आलोचना दृष्टि में वैज्ञानिकता का समावेश है। इनकी पत्रिकाओं में देश की सामाजिक-आर्थिक चिंतन की धारा को विशेष महत्त्व दिया हुआ प्रतीत होता है। इस काल में व्यावहारिक आलोचना की शुरुआत बद्रीनारायण चौधरी (प्रेमघन) और बालकृष्ण भट्ट द्वारा प्रारंभ हुई है। जिसमें साहित्य कृति के गुण-दोषों की विवेचना का कार्य आरंभ होता है। प्रेमघन ने अपनी पत्रिका 'आनंद

कादंबिनी' में बाणभट्ट के 'कदंबिनी' की प्रशंशनात्मक समीक्षा की है। साथ ही भट्ट ने 'हिंदी प्रदीप' में सच्ची आलोचना के नाम से लाला श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की कटु आलोचना की। इस प्रकार भारतेंदु युग में एक ओर परंपरागत सिद्धांतों को विकसित करने का प्रयास हुआ, वहीं दूसरी ओर व्यवहारिक परंपरा का आरंभ हुआ। भट्ट जी मानते हैं कि हमारे लिए अंग्रेजी काम की है, किंतु हमारी भावनाओं की अभिव्यक्ति हमारी अपनी भाषा में ही हो सकती है। साहित्य के इतिहास की दो पुस्तकें इस युग में ही लिखी हुई शिव सिंह सिंगर की 'शिव सिंह सरोज' और जॉर्ज ग्रियर्सन की 'द मॉडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर ऑफ नॉर्थन हिंदुस्तान' है। इन दोनों ऐतिहासिक ग्रंथों में छोटे-मोटे रूप में ही आलोचना दृष्टि का दर्शन होता है। इस काल की हिंदी आलोचना में राष्ट्रीयता, नैतिकता, उपयोगितावादी दृष्टिकोण प्रमुख था। इस काल की विशेषताएँ है कि साहित्यकार ही पत्रकार है और वह नागरिक होने के साथ-साथ राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने वाला प्रबुद्ध व्यक्ति भी है। अतः इस काल में अपने विचार प्रकट करने के लिए पत्र-पत्रिकाएँ ही माध्यम थी। जिसमें वह अपने युग के साथ-साथ साहित्यिक कृतियों की भी आलोचना करते हैं। इस काल की आलोचना सामाजिकता से जुडी है लेकीन आगे आलोचना का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा अन्य साहित्यिक द्विवेदी युग में हिंदी आलोचना को नई दशा एवं दिशा प्रदान करते हैं।

2. **द्विवेदी युगः-**

हिंदी साहित्य का दूसरा चरण द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है। इस युग में आलोचना की नई पद्धतियों के साथ-साथ व्यवहारिकता का भी विकास हुआ है। विश्वनाथ त्रिपाठी का मानना है कि भारतेंदु युग के साहित्य पर लेखकों के सहृदयता और जीवंतता की छाप है, तो द्विवेदी युग के साहित्य पर कर्तव्य परायणता उपयोगिता की। द्विवेदी जी साहित्य को उपयोगिता की कसौटी पर कस कर उसे ज्ञान राशि का संचित कोष मानते थे। महत्वपूर्ण बात यह है कि दिवेदी युग में सबसे अधिक साहित्यकार आलोचक है। इस युग के प्रमुख आलोचक- महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुंदर दास, मिश्र बंधु, पद्मसिंह शर्मा, बालमुकुंद गुप्त आदि थे।

द्विवेदी युग में व्यवहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों ही आलोचना पद्धतियों का विकास हुआ। यह वही समय है, जबकि 'जॉर्ज ग्रियर्सन', 'बुलकर' जैसे विद्वान भारतीय विद्या पर विभिन्न प्रकार के कार्य कर रहे थे। यदि सैद्धांतिक आलोचना की बात की जाए, तो 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका में गंगा प्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' निबंध प्रकाशित हुआ। इसमें समालोचना के गुणों का वर्णन किया है। इसी पत्रिका में जगन्नाथ दास रत्नाकर ने 'समालोचनादर्श' प्रकाशित किया। इसमें समालोचना के आदर्शों को बताया है।

इस काल के प्रमुख आलोचक महावीर प्रसाद द्विवेदी हैं। इन्होंने अपनी आलोचना में हिंदी कवियों का कर्तव्य निर्धारित किया। वे कहते हैं कि ''हिंदी कवि का कर्तव्य यह है, कि वह लोगों की रूचि का विचार रखकर अपनी कविता ऐसी सहज और मनोहर रचे की साधारण पढ़े लिखे लोग भी पुरानी कविता के साथ-साथ नई कविता पढ़ने का अनुराग उत्पन्न हो जाए।'' द्विवेदीयुगीन आलोचना में हिंदी भाषा को काव्य एवं

गध दोनों के लिए स्वीकार कर लिया गया तथा द्विवेदी जी ने अपनी पत्रिका द्वारा हिंदी भाषा को स्थापित कर दिया। इस काल में आलोचना की विभिन्न पद्धतियों का विकास होता है, जिसमें सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों शामिल हैं, जैसे– शास्त्रीय आलोचना, तुलनात्मक आलोचना, अनुसंधानपरक आलोचना, व्याख्यात्मक आलोचना आदि।

द्विवेदी युग में रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों की परंपरा का पालन करते हुए, कई विद्वानों ने काव्यशास्त्र सिद्धांतों एवं ग्रंथों की रचना की और शास्त्रीय सिद्धांतों को नए स्वरूप में विकसित किया। इस पद्धति के प्रमुख रचनाकार हैं– अयोध्या सिंह उपाध्याय (रस कलश), भगवानदीन (अलंकार मंजूषा), सीताराम शास्त्री (साहित्य सिद्धांत), जगन्नाथ भानु (काव्य प्रभाकर) आदि।

द्विवेदी युगीन आलोचना में केवल प्राचीन सिद्धांतों का ही अध्ययन नहीं हुआ तो नवीन सिद्धांतों पर भी कार्य किया गया है। जैसे महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'रस रंजन' में यह कहा है कि सरल भाषा का प्रयोग करना चाहिए। मनोरंजन के स्थान पर युगबोध, नैतिकता, मर्यादा, देश-प्रेम आदि से संबंधित विषयों को कुछ भागों में व्यक्त करना चाहिए। इस दौरान द्विवेदी जी ने रीतिकालीन 'श्रृंगारीकता' की भी आलोचना की और कहा ''इससे ना तो देश का कल्याण है, ना समाज का।'' इसी प्रकार अपने 'कवि कर्तव्य' नामक निबंध में वह कवि को कर्तव्य बोध याद दिलाते हैं। इसी श्रेणी के अन्य आलोचक– बाबू गुलाबराय, श्यामसुंदर दास, पुन्नालाल बख्शी हैं।

द्विवेदी युग में ही तुलनात्मक आलोचना की विशेष चर्चा होती है। इस श्रेणी के प्रमुख आलोचक– पद्मसिंह शर्मा, 'मिश्र बंधु' (श्याम बिहारी मिश्र, सुकदेव बिहारी मिश्र, गणेश बिहारी मिश्रा) है। तुलनात्मक आलोचना में साहित्यकारों ने संस्कृत के साथ-साथ अंग्रेजी, फारसी, उर्दू आदि भाषाओं एवं साहित्य के बीच तुलना करके तुलनात्मक आलोचना को नए स्वरूप में स्थापित किया। जैसे सबसे पहले 'पद्मसिंह शर्मा' ने हिंदी के बिहारी तथा फारसी के कवि सादी के बीच तुलनात्मक आलोचना की। इसी प्रकार मिश्र बंधुओं ने 'हिंदी नवरत्न' नामक ग्रंथ में नौ कवियों (सूर, तुलसी, देव, बिहारी, केशव, भूषण, सेनापति, चंद्र और हरिश्चंद्र) के बीच तुलनात्मक आलोचना को श्रेणीबद्ध करके प्रकाशित किया।

द्विवेदी युग में ही व्यवहारिक आलोचना की व्याख्यात्मक पद्धति का विकास हुआ है। यह पद्धति विशेषकर शुक्ल जी के काल में काफी विकसित हुई। द्विवेदी युग में व्यवहारिक आलोचना पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आगे बढ़ती है। द्विवेदी जी के संपादन में 'सरस्वती' पत्रिका एक मानक स्तंभ की तरह थी और इसमें विभिन्न पुस्तकों की समीक्षा प्रकाशित होती थी। इसी तरह की अन्य पत्रिकाएँ 'इंद्र', 'माधुरी', 'समालोचक', 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका आदि। व्यवहारिक आलोचना की बात की जाए तो 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका में 'जगन्नाथ दास रत्नाकर' ने अंग्रेजी के साहित्यकार 'पोप' के 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' का अनुवाद 'आलोचनादर्श' के नाम से प्रकाशित किया और इस तरह साहित्य आलोचना का स्वरूप और आदर्श पर विचार– विमर्श प्रारंभ होता है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी:–

यह इस युग के प्रमुख आलोचक हैं और द्विवेदी युग नाम भी इन्हीं के नाम पर पड़ा है। इन्होंने 'सरस्वती पत्रिका' में कवि 'कर्तव्य नामक' निबंध में कवि कर्तव्य को बताया। इसी प्रकार द्विवेदी जी रीतिकालीन नायिका भेद एवं लक्षण ग्रंथों की आलोचना करते हैं, तथा नैतिकता एवं मर्यादावादी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। द्विवेदी जी हिंदी भाषा स्थापित करते हैं और इसके साथ अपने अनुवाद कार्य द्वारा संस्कृत, बंगला, मराठी और उर्दू साहित्य की विभिन्न महत्वपूर्ण सामग्री पाठक तक पहुंचाते हैं। इसी प्रकार द्विवेदी जी कविता के रूप संबंधी विषय पर भी अपने विचार प्रकट करते हैं। जिस प्रकार निराला हिंदी में मुक्त छंद के समर्थक थे, उसी प्रकार द्विवेदी जी भी कविताओं को किसी विशेष छंद में बांधने के समर्थक नहीं थे।

इस प्रकार द्विवेदी जी सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक आलोचना द्वारा अपने युग के लिए ही नहीं, बल्कि आगे के लिए भी प्रमुख स्तंभ के रूप में सामने आते हैं।

मिश्र बंधु:–

द्विवेदी युग में प्रसिद्ध आलोचक मिश्र बंधु भी हैं इस श्रेणी में तीन आलोचक हैं गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र और सुकदेव बिहारी मिश्र। उन्होंने ''हिंदी नवरत्न'' नामक समालोचनात्मक ग्रंथ लिखा। जिसमें हिंदी के प्राचीन एवं आधुनिक साहित्य में से चुने हुए कवियों की समीक्षा की गई। नवरत्न में नौ कवि हैं – (गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, देव, बिहारी, भूषण और मतिराम, केशवदास, कबीर दास, चंदबरदाई हरिश्चंद्र) हिंदी साहित्य में तुलनात्मक आलोचना का गंभीर विकास इन्हीं के द्वारा शुरू हुआ। मिश्र बंधुओं ने हिंदी के इन नौ कवियों के परस्पर तुलना द्वारा तुलनात्मक आलोचना को गंभीर रूप प्रदान किया।

इन्होंने 'हमीरहट' की समालोचना की और भाषा के ऊपर भी गंभीरता पूर्वक विचार किया। इसी प्रकार मिश्र बंधुओं ने आलोचना के अलावा हिंदी साहित्य का इतिहास भी लिखा, यह ग्रंथ ''मिश्र बंधु विनोद'' के नाम से प्रतिष्ठित है। इस ग्रंथ में बंधु ने विभिन्न कालों की तुलनात्मक विवेचना की।

मिश्र बंधुओं ने इस सिद्धांत को केंद्र में रखा और श्रृंगार को रसराज के रूप में प्रतिष्ठित किया। श्रृंगार को रसराज के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए आधुनिक तर्कों का सहारा लिया। साथ ही पश्चात जगत के आलोचकों को भी अपनी रचनाओं में महत्त्व दिया।

श्यामसुंदर दास

श्यामसुंदर दास नाम द्विवेदी युग में एक प्रमुख आलोचक के तौर पर लिया जाता है। इन्होंने भाषा विज्ञान, हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास और साहित्य की आलोचना तीनों क्षेत्रों में योगदान दिया। इन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग में अनुसंधान परक आलोचना में सबसे अधिक योगदान दिया। अपने ग्रंथ 'साहित्य लोचन' में आलोचना के सिद्धांतों को प्रकट किया।

बाबू श्यामसुंदर दास ने रस और अलंकार पर भी अपनी आलोचना दृष्टि को प्रकट किया और यह बताया कि आधुनिक काल के अनुसार ही इनका प्रयोग करना चाहिए। उन्होंने हिंदी साहित्य में इसकी प्राचीनता एवं व्याप्ति पर भी विचार किया एवं यह माना कि केवल आधुनिक काल की खड़ी बोली तक ही हिंदी साहित्य का क्षेत्र नहीं, बल्कि प्राचीन परंपरा एवं लोक में भी उसकी प्रवृत्तियों को देखा जा सकता है। उनका मानना था कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से भले ही ब्रज, अवधि और राजस्थानी में भिन्न-भिन्न माना जाए, परंतु जहाँ तक साहित्य का प्रश्न है, तो उनमें प्रवृत्तिगत स्वामी आता है। बिना किसी कठिनाई के हिंदी का क्षेत्र व्यापक हो जाता है।

इस प्रकार बाबू श्यामसुंदर दास ने भाषा एवं साहित्य दोनों को अपनी आलोचना दृष्टि से मुखर किया।

शुक्ल युगः-

शुक्ल जी का काल हिंदी साहित्य में विशुद्ध आलोचना का काल माना जाता है। इस काल के प्रमुख आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल हैं, इनके अलावा कृष्ण शंकर शुक्ल, विश्वनाथ प्रताप मिश्र, गुलाब राय प्रमुख हैं।

द्विवेदी युग की आलोचना पद्धति को इस काल में विकसित एवं समृद्ध करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को है। इनका मानना था कि ''द्विवेदी युग में आलोचना का काल प्रारंभ हो चुका था, किंतु आलोचना भाषा के गुण, दोष, रस, अलंकार आदि बहिरंग बातों तक ही सीमित थी। इस आलोचना में कवि की अंत:वृत्ति का अधिक दर्शन नहीं है।''

इसमें कवि की मानसिक प्रवृतियां अधिक दिखाई नहीं पड़ती। शुक्ल जी ने आलोचना में पहली बार कवि के अंतः वृत्ति की छानबीन की और वे अपनी आलोचना ''सूर, तुलसी, जायसी'' में व्यवहारिक रूप में प्रस्तुत की।

शुक्ल जी एक मर्यादावादी, रसवादी, नीतिवादी और लोकवादी आलोचक हैं। इन्होंने ''कविता क्या है?'' काव्य में रहस्यवाद आदि में अपने काव्यवादी सैद्धांतिक पक्षों को प्रस्तुत किया है। उनकी किताबों 'चिंतामणि', 'रस मीमांसा' आदि में उनकी सैद्धांतिक आलोचना को देखा जा सकता है। इसी प्रकार 'सूर, तुलसी, जायसी' आदि उनकी व्यवहारिक आलोचना के उदाहरण हैं।

कृष्ण शंकर शुक्ल ने अपनी पुस्तक ''केशव की काव्य कला'' और ''कविवर रत्नाकर'' में केशवदास और जगन्नाथदास रत्नाकर के काव्य के विभिन्न पक्षों को उजागर किया। इसी प्रकार उन्होंने यद्यपि, आचार्य रामचंद्र शुक्ल की रचनाओं का विरोध तो नहीं किया (मुखर विरोध) नहीं किया, किंतु केशव दास के काव्य कला की सारगर्भित विवेचना अवश्य की है।

विश्वनाथ मिश्र ने अपनी पुस्तक ''हिंदी साहित्य का अतीत'' में रीतिकाल के आचार्य केशव बिहारी घनानंद आदि की अनुसंधान परक आलोचना की। जिसके कारण हिंदी साहित्य में नवीन विषयों तथा ज्ञान का समावेश हुआ।

बाबू गुलाब राय ने अपनी पुस्तकों 'काव्य के रूप' में अपने सिद्धांतों को प्रस्तुत किया है। इन्होंने भी आचार्य शुक्ल के समान भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धांतों के समन्वय से नवीन सिद्धांतों की स्थापना की।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल:–

आचार्य शुक्ल, शुक्ल युग के प्रमुख आलोचक हैं। उनकी आलोचना पद्धति में सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक दोनों आलोचनाओं को देखा जा सकता है। इन्होंने अपने समय में भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों के समन्वय से एक नवीन आलोचना पद्धति को जन्म दिया। जिसने हिंदी आलोचना को नई दशा एवं दिशा दी। हिंदी साहित्य का आधुनिकीकरण शुक्ल जी के काल में प्रारंभ हुआ और अपने समय में रहते हुए हिंदी साहित्य को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया।

शुक्ल जी की सैद्धांतिक आलोचना:–

(1) शुक्ल जी ने आलोचना में बहिरंग एवं अंतः प्रवृत्तियों, दोनों के समावेश तथा छानबीन की ओर ध्यान दिया। शुक्ल जी कहते हैं कि ''हिंदी में द्विवेदी युग के अंतर्गत आलोचना अधिकतर रस, छंद, अलंकार आदि बहिरंग तत्त्वों तक ही सीमित रही।'' इसमें कवि की मानसिक प्रवृतियां बहुत कम दिखाई देती हैं। अतः शुक्ल जी गद्य साहित्य के तृतीय स्थान काल में गद्य के अंत:प्रवृत्ति के छानबीन की बात करते हैं। शुक्ल जी अपने आलोचना में अनुवाद कार्य के द्वारा भी भाषा विज्ञान तथा साहित्य के ऊपर अपने सिद्धांत विवेचन प्रस्तुत करते हैं। जैसे उन्होंने ''एडिशन'' के ''ऐसे ऑन इमैजिनेशन'' का अनुवाद ''कल्पना के आनंद'' नाम पर किया और इसमें कल्पना तथा अनुभूति के बीच के सिद्धांतों को भारतीय परिपेक्ष में प्रस्तुत किया।

(2) शुक्ल जी पश्चिम के प्राणी तत्त्ववेता ''हैकल'' से प्रभावित है। 'हैकल' की पुस्तक ''रिडील ऑफ द यूनिवर्स'' में प्रकृति की व्याख्या आंनदवादी भौतिक सिद्धांत से की गई। शुक्ल जी इसी आधार पर यह बात मानते हैं कि, धर्म की परलौकिक व्याख्या नहीं बल्कि इहलौकिक व्याख्या होनी चाहिए।

शुक्ल जी काव्यशास्त्र के विवेचन में अपने दृष्टिकोण से भाव, विभाव और रस की व्याख्या फिर से करते हैं। शुक्ल जी का मानना है कि ''अलौकिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भाव की पुर्नव्याख्या करनी चाहिए।'' शुक्ल जी यह मानते हैं कि ''भाव और मनोविकार दोनों का ही साहित्य में प्रमुख स्थान है और दोनों की व्याख्या वे विकासवादी पद्धति से करते हैं, भाववादी से नहीं।'' ''रस मीमांसा'' में लिखते हैं कि ''सुख और दुख की इंद्रिय वेदना के अनुसार पहले पहल राग और द्वेष आदिम प्राणियों में प्रगट हुए, जिनसे दीर्घ परंपरा के अभ्यास द्वारा आगे चलकर वासनाओं और प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। ''

''पहले क्रोध, भय आदि वासना के रूप में थे, फिर भाव रूप में आए। भाव की विशेषता यह है कि उसमें प्रत्यय बोध होता है।'' प्रत्यय बोध का तात्पर्य है, सुख, दुख का विषय बोध शुक्ल जी का मानना है कि भाव में विवेक युक्त प्रवृत्ति उपस्थित होती है और उसकी प्रतिष्ठा से कर्म क्षेत्र का भी विस्तार होता है।

इसी आधार पर लोकमंगल के आदर्श को प्रतिष्ठित किया जाता है और काव्य कला को सामाजिक चेतना से जोड़ा जाता है। इसी आधार पर रीतिकाल की कुलवादी प्रवृत्तियों का शुक्ल जी निषेध करते हैं।

शुक्ल जी भाव योग की प्रतिष्ठा करते हैं और इसे ज्ञान योग एवं कर्म योग के समान खड़ा कर देते हैं। शुक्ल जी भाव एवं ज्ञान को एक दूसरे का विरोधी नहीं मानते। उनका मानना है कि जैसे- जैसे ज्ञान का विकास होता है, वैसे- वैसे ज्ञान का प्रसार भी होता है। इसी कारण मनुष्य पशु की तुलना में कुछ अलग है। वह इसी कारण ''कामायनी'' में चित्रित श्रद्धा और ईर्ष्या के रूपों से सहमति व्यक्त नहीं करते। शुक्ल जी अपनी आलोचना पद्धति में बाहरी जगत् और मानव जीवन की वास्तविकता के आधार पर नए साहित्य के सिद्धांतों को स्थापित करते हैं और इसी आधार पर सामंती साहित्य का विरोध करते हैं और देश भक्ति तथा जनतंत्र की साहित्यिक परंपरा का समर्थन करते हैं।

शुक्ल की व्यवहारिक आलोचना:-

शुक्ला जी के व्यवहारिक आलोचना के स्वरूप को निम्नलिखित आधार पर बेहतर समझा जा सकता है-

शुक्ला जी ने आलोचना में निगमनात्मक पद्धति को अपनाया है। जिसके आधार पर शुक्ल जी ने आधुनिक एवं वैज्ञानिक समीक्षा की है। शुक्ला जी का मानना है कि आलोचक का सहृदय होना आवश्यक है। यदि आलोचक सहृदय नहीं होगा, तो वह विभिन्न सिद्धांतों को बेहतर तरीके से नहीं समझ पाएगा क्योंकि बेहतर समीक्षक की पहचान यही है कि वह आलोचक कृति के मार्मिक स्थलों की पहचान कर सकें।

शुक्ला जी के व्यावहारिक आलोचना में भक्ति काल का महत्व सबसे अधिक है। वे रीतिकाल को इस आधार पर खारिज कर देते हैं कि रीति ग्रंथ के कवियों की दृष्टि अत्यंत संकुचित है और उन कवियों ने साहित्यिक सूचियों को जकड़न से भर दिया है। भक्तिकाल में भी वे सूर, तुलसी और जायसी को महत्त्व देते हैं। इसी प्रकार संस्कृत परंपरा में वे वाल्मीकि, भवभूति और कालिदास का महत्त्व देते हैं। इनका मानना है कि ''भारतीय परंपरा का विकास तथा काव्य चिंतन इनके कारण अत्यंत विकसित होता है।''

शुक्ल जी ने व्यावहारिक आलोचना में 'सूरदास, तुलसीदास और जायसी' इन तीनों में तुलसी को अधिक महत्व दिया। सूर और तुलसी की आलोचना करते हुए उन्होंने दोनों के भक्ति की जो व्याख्या की है, वह अलौकिक व्याख्या है। रामचंद्र शुक्ल करुणा और प्रेम इन दोनों को स्वतंत्र भाव मानते थे और सूर को उन्होंने प्रेम का कवि कहा है। जिसके अंतर्गत लोकरंजक की छवि आती है। इसी प्रकार तुलसी को वे करुणा का कवि मानते हैं। जिसके अंतर्गत लोक रक्षक की छवि आती है।

रामचंद्र शुक्ल काव्य में अनुभूति तत्त्व को प्राथमिकता देते हैं और अनुभूति प्रधान काव्य को उत्तम काव्य समझते हैं, परंतु ध्यान देने की बात यह भी है की अनुभूति को प्रधानता देने के बावजूद वे इसमें ऊंची- नीची भूमिका भेद करते हैं। इसी कारण बिहारी के श्रृंगार वर्णन का मूल्यांकन करते हुए वे कहते हैं ''अनुभवों और भावों की ऐसी सुंदर योजना कोई श्रृंगारी कवि नहीं कर सका है।'' इसी प्रकार बिहारी के

काव्य में संचारी भावो की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं ''कविता उनकी श्रृंगारी है पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुंची थी। नीचे ही रह जाती है इस प्रकार अनुभूति के तुरंत अद्वितीय या उच्च भूमि के शुक्ला जी समर्थक थे।''

आचार्य शुक्ल अपनी व्यवहारिक आलोचना में छायावादी कवियों की अभिव्यंजना शैली का विवेचन करते हुए, उनके कार्य शैली में अलंकारों के प्रयोग की प्रशंसा करते हैं। आचार्य शुक्ल ने अपने गद्य साहित्य कि प्रत्येक विधा का विवेचन किया और प्रेमचंद के उपन्यासों में उनकी यथार्थवादी जीवन दृष्टि, भारतीयता और सामाजिकता को केंद्र में रखकर उन्हें हिंदी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार घोषित करते हैं।

आचार्य शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी के स्थूल नैतिक उपयोगितावाद को भावात्मक मानवतावाद का रूप देकर आलोचना के एक प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित किया। आचार्य शुक्ल ने यद्यपि रीतिकालीन कवियों के जीवन दृष्टि का विरोध किया है, किंतु घनानंद के वियोग वर्णन और संवेदन क्षमता को बेहतर रूप से मानते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं।

आचार्य शुक्ल विद्यापति के पदों को इस आधार पर आलोचना करते हैं कि यह पद आध्यात्मिक पद नहीं, बल्कि विशुद्ध रूप से श्रृंगारी पद है। आचार्य शुक्ल विद्यापति को एक श्रृंगारी कवि भी कहते हैं। विद्यापति की आलोचना करते हुए शुक्ला जी लिखते हैं ''आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं, उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ आलोचकों ने विद्यापति के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया वैसे ही जयदेव के पदों को भी।''

शुक्ल जी अपनी आलोचना पद्धति में यह माना है कि वह काव्य ही श्रेष्ठ है जो कवि के अंतर्मन का उद्घाटन कर सके और किसी आख्यान के मर्मस्पर्शी स्थलों की पहचान कर सकें। इस कलेवर में प्रबंध काव्य मुक्तक की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। प्रबंध को शुक्ला जी मुक्तक से अधिक महत्व देते हैं। इसी कारण कुछ का यह मानना है कि शुक्ल जी सुर की अपेक्षा तुलसी को अधिक महत्वपूर्ण बना देते हैं।

शुक्ल जी की दृष्टि ''हैकल'' एवं तेन से प्रभावित है। और इसीकारण उनकी वैज्ञानिक दृष्टि है। इसमें प्रत्यक्षवाद का महत्व अधिक है। शुक्ल जी इसी कारण हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्ति काल के उद्भव की व्याख्या करते समय, इसे इस्लामिक आक्रमण का प्रभाव बताते हैं और कहते हैं अपने पौरूष से हताश जाति के पास भगवान की करुणा और भक्ति में ध्यान लगाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था। इसके कारण शुक्ल जी की दृष्टि थोड़ी सीमित भी हो जाती है, जिसकी आलोचना आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी करते हैं।

शुक्ल जी अपने व्यवहारिक आलोचना में सूर का वर्णन करते समय भक्ति की जागतिक व्याख्या के आधार पर यह कहते हैं कि ''सूर के काव्य में भी धार्मिक स्थल मौजूद हैं, क्योंकि कृष्ण की लीलाओं का विस्तार क्षेत्र, प्रकृति का विस्तार भी है, घर का कोई कोना नहीं है।''

सूर के विरह वर्णन को भी शुक्ल जी प्रशंसा करते हैं। इसी कारण तुलसी के काव्य में शुक्ल जी तुलसी के युग बोध और युग के भाषा में उनके काव्य को व्याख्यान किया और उनके युग के अनुकूल उनकी पुनर पुनर्व्याख्या की। रामकथा के भीतर मर्मस्पर्शी स्थलों की पहचान करते हुए राम वनगमन के प्रसंग को सबसे अधिक मर्मस्पर्शी बतलाते हैं।

शुक्ल जी ने अपने काव्य में लोकमंगल, सामाजिक मर्यादा और परंपरा की रक्षा को सबसे अधिक महत्त्व दिया है और इसके कारण तुलसी उनके प्रिय कवि हो जाते हैं।

जायसी एक सूफी कवि थे, उनको भक्तों की कोटि में लाने का कार्य आचार्य शुक्ल ने किया। यह शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि के धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण का परिचायक है, किंतु शुक्ल जी यह मानते हैं, कि सूफी कवि एकेश्वरवाद नहीं है, बल्कि अद्वैतवादी हैं। शुक्ल जी इसी प्रकार यह भी मानते हैं कि इनकी रचनाओं द्वारा हिंदू और मुसलमानों में भावात्मक संबंध स्थापित हुए। इन रचनाओं में प्रकट हुआ कि जिस प्रकार एक मत वालों के हृदय में प्रेम की तरंगे उठती हैं, उसी प्रकार अन्य मत वालों के हृदय में भी।

शुक्ल जी पद्मावत की भी प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि पद्मावत एक प्रेम का भी प्रतीक है। इसमें नायक लोक रक्षा के लिए नहीं, इतना अवश्य है कि प्रेम के आदर्श को लेकर कर्म क्षेत्र में प्रवेश करता है।

शुक्ल जी जायसी के विरह वर्णन में नागमती के विरह वर्णन की अत्यंत प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि ''नागमती का रानीपन उसके विरह में पीछे छूट जाता है और प्रेम की कसौटी पर वह एक साधारण नारी के समान दिखाई देती है। इसी आधार पर कविता लोक सामान्य की भाव भूमि पर उतर जाता है।''

शुक्ल जी जायसी के प्रकृति प्रेम का सबसे अधिक प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि ''मध्यकालीन साहित्य में प्रकृति की प्राय: उपेक्षा हुई है, किंतु जायसी ने प्रकृति को काव्य में इस तरह प्रयोग किया कि वह लोक सामान्य को अपनी ओर आकृष्ट करती है।''

शुक्लोत्तर आलोचना:–

शुक्ल जी के बाद का काल हिंदी आलोचना में शुक्लोत्तर आलोचना काल है। इस काल में नई आलोचना पद्धति का विकास हुआ है। आचार्य शुक्ल हिंदी आलोचना में वीरगाथा काल से लेकर छायावादी युग तक के साहित्य का विवेचन करते हैं। शुक्ला जी ने अपनी समीक्षा पद्धति में भक्तिकाव्य केंद्र में रखा और लोकमंगल, मर्यादावाद, रस आदि सिद्धांतों के सहारे विभिन्न काल खंडों की व्यवहारिक समीक्षा की है।

शुक्ल जी भक्ति आंदोलन के उदय होने के क्रम में परिस्थितिवादी तथा प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण को केंद्र में रखते हैं। जिसका खंडन बाद में चलकर शुक्लोत्तर आलोचना में द्विवेदी जी करते हैं। इसी प्रकार लोकमंगलवादी दृष्टि तथा प्रबंध को केंद्र में रखने के कारण आचार्य शुक्ल, कबीर को खारिज कर देते हैं। जबकि आचार्य द्विवेदी ऐतिहासिक दृष्टि तथा संस्कृति को महत्त्व देने के कारण कबीर को एक प्रगतिशील कवि के रूप में स्थापित करते हैं। शुक्ल जी रीतिकालीन ग्रंथों के सामाजिक दृष्टि से महत्त्व ना होने के कारण उन्हें साहित्य के प्रतिमान पर अधिक महत्त्व नहीं देते। जबकि इसी काल खंड में द्विवेदी जी

रितिकालीन ग्रंथों को भारतीय संस्कृति तथा काव्यशास्त्र के व्यापक परिप्रेक्ष्य से जोड़कर उनकी महत्ता को स्थापित करते हैं।

आचार्य शुक्ल ने व्यक्ति चेतना को केंद्र में रखकर रचना करनेवाले छायावादी काव्य धारा को अधिक महत्त्व नहीं देते और मानवीय सौंदर्य से शुक्ल छायावादी काव्य की सहृदय को भी पर्याप्त महत्त्व नहीं देते। इसी कारण इस कालखंड में छायावादी कवि जैसे- प्रसाद, पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी तथा महादेवी वर्मा ने विभिन्न पुस्तकों में अपने युग की काव्य प्रवृत्तियों को और उनकी आवश्यकताओं को प्रस्तुत किया है। छायावादी कवियों ने इस बात का विरोध किया की छायावादी कविता पर अंग्रेजी कविता का प्रभाव है। इसी प्रकार उन्होंने इस मान्यता का भी खंडन किया है की छायावादी कविता अभिव्यंजना की नूतन प्रणाली मात्र है।

जयशंकर प्रसाद ने अपनी आलोचना द्वारा यह बताया कि छायावाद का संबंध भारत की परंपरा से है। इसी प्रकार महादेवी वर्मा तथा पंत ने यह बताया कि छायावादी काव्य मनुष्य के अंतर्मन की अभिव्यक्ति है।

छायावादी कवियों के विभिन्न सिद्धांतों एवं उनकी मान्यताओं तथा स्थापना को विशेष स्वरुप में स्पष्ट करने का कार्य आचार्य नंददुलारे वाजपेई, डॉ नगेंद्र तथा शांतिप्रिय द्विवेदी ने किया। इन आलोचकों ने अपनी पद्धति में स्वतंत्र दृष्टि और मौलिकता का परिचय दिया।

इस काल में ही सबसे प्रमुख आलोचक के रूप में आचार्य द्विवेदी का नाम भी आता है। जिन्होंने आचार्य शुक्ल की आलोचना पद्धति कि न केवल फिर से समीक्षा की, बल्कि कई मामलों में तो उनकी मान्यताओं को स्पष्ट चुनौती भी दी।

शुक्लोत्तर आलोचना में हिंदी आलोचना की कई नई प्रवृत्तियों का भी जन्म होता है और इन नई पद्धतियों ने हिंदी समीक्षा में अपना व्यापक योगदान दिया। इसमें स्वच्छंदतावादी आलोचना, प्रभाववादी आलोचना, मनोविश्लेषणवादी आलोचना, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तथा मार्क्सवादी आलोचना प्रमुख हैं।

स्वातंत्र्योत्तर समीक्षा:-

आजादी के बाद हिंदी आलोचना में नई प्रवृत्तियों तथा नए आयामों का विकास हुआ है। स्वतंत्रता के बाद विभिन्न आलोचना पद्धतियों को देखा जा सकता है, जैसे- मार्क्सवादी, नई समीक्षा, समाजशास्त्रीय आलोचना, शैली विज्ञान तथा संरचनावाद।

स्वतंत्रता के बाद हिंदी आलोचना में मार्क्सवादी आलोचना का विकास अधिक हुआ है। डॉ. रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र, रांगेय राघव, प्रमुख आलोचक हैं।

रामविलास शर्मा प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक माने जाते हैं। इन्होंने आचार्य शुक्ल, प्रेमचंद और निराला के ऊपर विस्तृत मार्क्सवादी आलोचना लिख कर, इन्हें एक मानक के रूप में स्थापित किया। मार्क्सवादी आलोचना में दूसरा प्रमुख नाम मुक्तिबोध का है। उन्होंने अपनी पुस्तकों- 'कामायनी एक

पुनर्विचार', 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' तथा अन्य निबंध 'नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' आदि में मार्क्सवादी आलोचना में सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक पक्ष को नए आयाम में प्रस्तुत किया।

नामवर सिंह आजादी के बाद के एक बड़े मार्क्सवादी समीक्षक हैं। उनकी पुस्तकों- छायावाद, कविता के नए प्रतिमान, दूसरी परंपरा की खोज और वाद- विवाद- संवाद में उनके सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक पक्षों को देखा जा सकता है। नामवर सिंह अपने प्रतिमानों को लेकर डॉ नगेंद्र, रामविलास शर्मा और अशोक वाजपेयी से लगातार टकराते रहते हैं।

संरचनावाद:-

इसका मूल जिनेवा के भाषा विज्ञान के प्रोफेसर मफर्ननाडी सस्युरफ का भाषा सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार भाषा के दो रूप माने जाते हैं- 1. अंतरवैयक्तिक, 2. वैयक्तिक। इसके सहारे आगे चलकर ''रोलाबार्थ'' ने संरचनावाद सिद्धांत को इसी भाषा विज्ञान के सहारे स्थापित किया। इसके अनुसार संरचनावाद की यह मान्यता है कि रचना ध्वनि, बिंब, प्रतीक आदि का एक गूंज है।

रचना परत- दर- परत इतनी जटिल होती है कि उसके अवयवों को विश्लेषित करके ही उसे समझा जा सकता है। संरचनावाद के अनुसार प्रत्येक रचना एक भाषिक संरचना है। इस प्रकार इसका झुकाव भी कुछ हद तक रूपवाद की ओर हुआ, किंतु हिंदी साहित्य में इस सिद्धांत पर अधिक आलोचना कार्य नहीं हुआ।

समकालीन आलोचना:-

सच्चे अर्थों में आलोचना का आरंभ भारतेंदु युग से माना जाता है किंतु आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने हिंदी आलोचना के विकास को नई दिशा और गति प्रदान की। आलोचना का सुसंगत विकास आचार्य शुक्ल युग से माना गया है।

सच यह है कि भारतवर्ष में आलोचना की सुदृढ़ परंपरा विकसित हुई है। दुर्भाग्य की बात यह है कि आज अनेक क्षेत्रों में नैतिकता को लेकर सवाल उठ रहे हैं समकालीन आलोचना में भी यह सवाल देखने को मिल रहे हैं। लेखक अच्छे आलोचक का अभाव मानते हैं तो आलोचक जब तटस्थ होकर आलोचना करते हैं तो साहित्यकार निजी द्वेष मानते हैं। आज अनेक स्थानों पर साहित्यकार और आलोचक की साठगांठ भी देखने को मिलती है।

आज का लेखक प्रशंसा प्रिय बनता जा रहा है। अनेक पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तकों की आलोचना बाजारवादी दृष्टिकोण रखकर लिखी जा रही ही है। यह भी हमें मानना होगा कि तकनीकी क्रांति के कारण पठन-पाठन में बदलाव देखने को मिल रहा है। आज साहित्यकार आलोचकों को समकक्ष नहीं मान रहा है और आलोचक रचनाकार को लेकर उदासीन भी है। आज का आलोचक साहित्य के संसार को समझता है तो दूसरी ओर वैश्विक दुनिया में रचना की उपस्थितियों को दर्ज करता है। सही मायने में आलोचक दोहरी भूमिका निभा रहा है। लेकिन यह भी मानना होगा की आज रचना में विभिन्न विमर्श को लेकर वाद विवाद

बड़े पैमाने पर है और इसमें रचनाकार और आलोचना का योगदान भी महत्त्वपूर्ण रह चुका है। आज जनतांत्रिक विषय को लेकर भी चर्चा और उसकी आलोचना होने जा रही है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी आलोचना की नींव रखी। उनके पश्चात् आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और नंददुलारे वाजपेयी ने इसका विस्तार किया। बाद में हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना, प्राचीन काव्यशास्त्रीय आलोचना और आधुनिकतावादी आलोचना का विकास हुआ।

भारतेंदु हरिश्चंद्र आधुनिक हिंदी भाषा के जनक हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र को न केवल हिंदी का, बल्कि हिंदी रंगमंच का भी पिता कहा जाता है।

आधुनिक आलोचना का जनक मैथ्यू अर्नोल्ड को माना जाता है। मैथ्यू अर्नोल्ड 19 वीं सदी के अग्रणी कवियों और आलोचकों में से एक थे। हालाँकि उन्हें अक्सर आधुनिक साहित्यिक आलोचना का जनक माना जाता है, उन्होंने सामाजिक और सांस्कृतिक मुद्दों, धर्म और शिक्षा पर भी विस्तार से लिखा है।

4.3.3 आलोचना के प्रकार :

प्रस्तावना : साधारणतः कहा जा सकता है कि जितने प्रकार के साहित्यिक विषय होंगे उतने ही प्रकार की आलोचना पद्धति भी होगी। किसी कृति की आलोचना करते समय आलोचक किन बातों का विशेष ध्यान रखता है? उस रचना की उसके मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है? और किस सीमा तक वह उससे प्रभावित है? आलोचना का स्वरूप बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर करता है। ये सभी प्रश्न आलोचना का स्वरूप बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर करता है। ये सभी प्रश्न आलोचक की दृष्टि से संबंधित होते है और आलोचना के प्रकार आलोचक की इसी दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण निर्मित होते जाते है। इस प्रकार अनेक प्रकार की आलोचना पद्धतियों का जन्म होता है। आज हिंदी में अनेक प्रकार की आलोचना पद्धतियों का प्रयोग हो रहा है। महत्वपूर्ण आलोचना के प्रकार निम्नलिखित हैं–

1. सैद्धांतिक समीक्षा। 2. व्यावहारिक समीक्षा।

3. व्याख्यात्मक समीक्षा। 4. प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा।

5. निर्णयात्मक समीक्षा। 6. ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली।

7. शास्त्रीय आलोचना। 8. समाजशास्त्रीय/प्रगतिवादी/मार्क्सवादी आलोचना।

9. मनोविश्लेषणवादी आलोचना। 10. तुलनात्मक आलोचना।

11. नैसर्गिक आलोचना। 12. परिचयात्मक आलोचना।

13. जीवन वृत्तान्तीय आलोचना। 14. गवेषणात्मक आलोचना।

15. अनुभावात्मक आलोचना। 16. रचनात्मक आलोचना।

17. वैज्ञानिक आलोचना। 18. अभिव्यंजनावादी आलोचना।

19. चरितमूलक आलोचना। 20. अनुसंधानात्मक आलोचना।

21. अनुमानात्मक आलोचना। 22. विश्लेषणात्मक आलोचना।

23. समन्वयात्मक आलोचना 24. उपयोगितावादी आलोचना।

25. स्वच्छंदंतावादी आलोचना।

उपर्युक्त आलोचना की प्रणालियों के उपभेद भी हैं। जैसे सैद्धांतिक आलोचना में- सूत्ररूप आलोचना, कारिकारूप आलोचना, वृत्तिरूप आलोचना, उसी प्रकार व्याख्यात्मक आलोचना के- टिप्पणी रूप आलोचना, भाष्यरूप आलोचना, वार्तिकरूप आलोचना, टीकारूप आलोचना आदि।

हिंदी आलोचना के प्रमुख प्रकार :

हिंदी साहित्य समीक्षा की परम्परा का स्त्रोत संस्कृत साहित्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। आधुनिक हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में तीन प्रकार की विचारधाराएँ परिलक्षित होती हैं। प्रथम वर्ग के समीक्षक प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित काव्यदर्शो को समीक्षा का आधार मानते है। द्वितीय वर्ग के समीक्षक पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांतों को साहित्य का उत्कृष्ट मापदण्ड मानते हैं। तृतीय वर्ग के समीक्षक विषयानुरूप कभी प्राचीन भारतीय काव्यादर्शो को और कभी पाश्चात्य सिद्धांत परंपरा को स्वीकारते हुए समन्वयवादी धारणा को पुष्ट करते है। इसमें संदेह नहीं कि पश्चिम ने हमारे आधुनिक साहित्य-क्षितिज के अनेक नवीनतम बिंदुओं को उभारकर नया रंग भर दिया हैं।

4.3.3.1 हिंदी की सैद्धांतिक आलोचना –

हिंदी की शास्त्रीय आलोचना को 'सैद्धांतिक या व्यावहारिक आलोचना' भी कहते है। अंग्रेजी में इसे 'जुडीशल क्रिटिसिज्म' कहा जाता है। इसके अन्तर्गत काव्य, कला अथवा अन्य शास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर किसी कृति अथवा रचना की आलोचना की जाती है। सैद्धांतिक आलोचना का व्यावहारिक रूप 'शास्त्रीय आलोचना' है। यह सिद्धांतों को व्यवहार में लाता है। सिद्धांतों की कसौटी पर कठोरता से रचना को कसना इसका उद्देश्य है। प्रचलित सिद्धांतों जैसे अलंकार, रस, रीति, ध्वनि, अभिव्यंजनावाद अथवा समाज-शास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर हमें इस प्रकार की आलोचना पूर्ववर्ती युगों में खूब मिलती है। संक्षेप में परम्परागत काव्यशास्त्रीय नियमों के आधार पर किसी कलाकृति की व्याख्या-विश्लेषण करना इस आलोचना पद्धति की विशेषता है। इसमें संस्कृत के मम्मट का 'काव्यशास्त्र', आनंदवर्धन का 'ध्वन्यालोक' आदि ग्रंथ आते है। रीतिकाल के विविध लक्षण ग्रंथ, रीति-ग्रंथ तथा काव्यशास्त्रीय ग्रंथ इसी के अंतर्गत आते है।

संस्कृत साहित्य में भरत, दंडी, भामह, मम्मट, विश्वनाथ, आनंदवर्धन तो रीतिकाल में बिहारी, देव, घनानंद, केशव, मतिराम, भूषण, चिंतामणी, तो पाश्चात्य साहित्य में अरस्तू, लोंजाइनस, पोप, आई. ए. रिचडर्स, टी. एस. इलियट आदि तो हिंदी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ. श्यामसुंदरदास,

बाबू गुलाबराय, डॉ. नगेंद्र आदि को सैद्धांतिक अर्थात् 'शास्त्रीय आलोचक कहा' जा सकता है। हमें यहाँ हिंदी की शास्त्रीय आलोचना का परिचय प्राप्त करना है।

हिंदी आलोचना के क्षेत्र में आ. रा. शुक्ल जी का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। शास्त्रीय या सैद्धांतिक आलोचना की आधारशीला शुक्ल जी ने ही रखी है। हिंदी आलोचना को समृद्ध करने का श्रेय भी आचार्य शुक्त जी को ही दिया जाता है। इस संदर्भ में आ. नंददुलारे बाजपेयी का कथन युक्तिसंगत लगता है 'आचार्य शुक्लजी ने हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन किया।' शुक्लजी का सैद्धांतिक आलोचना का योगदान महत्त्वपूर्ण है। उनकी सैद्धांतिक आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण चिंतामणि-निबंध भाग 1-2 के संग्रह में मिलते है। अन्य-रस-मीमांसा, गोस्वामी तुलसीदास, भ्रमरगीत सार की भूमिका, जायसी ग्रंथावली शास्त्रीय आलोचना के श्रेष्ठ उदाहरण है।

शुक्लजी रसवादी आचार्य है। 'रस' को उन्होंने आलोचना का मापदंड माना है। नैतिकता, संयम तथा आदर्श पर बल दिया है। प्राचीन आचार्यों का अंधानुकरण न करके उसे मौलिकता से प्रस्तुत किया है। शुक्लजी समन्वयवादी थे। बुद्धि और ह्रदय, गांभीर्य और सारग्राह्य, प्रज्ञा और अनुराग, प्राचीनता और नवीनता का सुंदर समन्वय उनमें दिखाई देता है। शुक्लजी कलाकृति के गुण-दोषों से अधिक कवि की विशेषताओं और उनकी अत: प्रवृत्ति की छानबीन की ओर विशेष ध्यान देते है।

हिंदी की शास्त्रीय आलोचना में आ. शुक्ल जी के पश्चात् डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम बडे आदर के साथ लिया जाता है। द्विवेदी आ. शुक्लजी की परंपरा के नायक है। फिर भी उन्होंने हिंदी साहित्य समीक्षा को नई दिशा दी है। आचार्य शुक्ल जी ने अपनी प्रतिभा, चिंतन एवं पांडित्य द्वारा हिंदी-आलोचना के जिस मार्ग का निर्माण किया था, उसे अधिक प्रशस्त करने का कार्य द्विवेदी जी ने किया है। द्विवेदीजी ने हिंदी आलोचना को एक नई उदार और वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की। शुक्लजी ने हिंदी साहित्य को इतिहास दिया तो द्विवेदीजी ने हिंदी साहित्य की भूमिका प्रस्तुत की। कबीर का मूल्यांकन इन्होंने अनेक नई दृष्टियों से किया है। द्विवेदी मानवतावादी आलोचक है।

हिंदी-समीक्षा के क्षेत्र में पश्चिम से आयातित नूतन विचार-धारा को आत्मसात करके लिपिबद्ध करने की दिशा में बाबू श्यामशुंदर का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने 'साहित्यलोचन' समीक्षा ग्रंथ की रचना करके हिंदी आलोचना को नया मोड दिया। डॉ. श्यामसुंदर दास ने साहित्य और जीवन का अनिवार्य संबंध माना है। उनकी 'कबीर ग्रंथावली' पर हडसन, वर्सफिल्ड तथा विक्टोरियन काल के नैतिक मूल्यों का प्रभाव है। वे निर्णयात्मक समीक्षा को पूर्णत: भ्रमात्मक मानते हैं। निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि डॉ. श्यामसुंदर दास ने सैद्धांतिक समीक्षा की भाँति व्यावहारिक अर्थात् शास्त्रीय समीक्षा के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

समीक्षा जगत में बाबू गुलाबराय की उपलब्धियाँ निसंदेह महत्त्वपूर्ण है और उन्होंने आ. शुक्लद्वारा प्रतिस्थापित समीक्षा शृँखला को अपने कर्तव्य द्वारा आगे बढ़ाने का सराहनीय उपक्रम किया है। पश्चिमी काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के गहन अध्ययन-मनन तथा हिंदी में उनके मौलिक प्रतिपादन में बाबू गुलाबराय ने तत्त्वग्रही समन्वयधर्मी दृष्टिकोण अपनाया है। भारतीय चिंतन परंपरा को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया।

शास्त्रीय आलोचना के दो ग्रंथों की उन्होंने रचना की– 'नव रस' तथा 'सिद्‌धांत और अध्ययन' विविध काव्य–तत्त्वों तथा काव्य रूपों के विश्लेषण की दृष्टि से अन्य कृतियाँ ''काव्य के रूप'', ''हिंदी काव्य विमर्श'', ''साहित्य समीक्षा'' आदि पुस्तकें भी उल्लेखनीय है। कुछ विद्वान इन्हें आलोचक की अपेक्षा पाठयपुस्तक–रचियता मानते है। इस आक्षेप के होते हुए भी वे श्रेष्ठ, प्रौढ समीक्षक थे। उनका योगदान स्मरणीय रहेगा।

हिंदी की शास्त्रीय आलोचना में डॉ. नगेंद्र का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। नगेंद्र भी आचार्य शुक्ल की तरह मूलत: रसवादी आलोचक है। रस–सिद्‌धांत में उनकी गहरी आस्था है। उनकी आलोचना पद्‌धति पर शुक्लजी का विशेष प्रभाव है। उनकी तीन आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हुई है– सुमित्रानंदन पंत, साकेत– एक अध्ययन, आधुनिक हिंदी नाटक। 'भारतीय काव्यशास्त्र' की विद्‌वत्तापूर्ण भूमिका प्रस्तुत करके उन्होंने हिंदी में एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। आचार्य शुक्ल की आलोचना पद्‌धति नैतिक मान–मूल्यों पर आधारित है जबकि डॉ. नगेंद्र ने काव्य के आनंद पक्ष को अधिक महत्व दिया है जो विशुद्‌ध अनुभूतिगत सौंदर्य पर आधारित होता है। इसलिए शास्त्रीय आलोचक के साथ–साथ स्वच्छन्दतावादी आलोचक भी कहा जाता है। संक्षेप में नगेंद्र सुलगते हुए विचारक और गहरे विश्लेषक है। उनकी शैली तर्कपूर्ण विश्लेषणात्मक तथा प्रत्यायक है। वे कृति का केवल विश्लेषण ही नहीं करते बल्कि नई उद्‌भावनाओं से अपने विवेचन को विचारोत्तेजक भी बनाते है।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि हिंदी की शास्त्रीय आलोचना का आलोचना के क्षेत्र में अपना अनन्यसाधारण महत्व है भले ही आज इस प्रकार की आलोचना कालबाह्य सिद्‌ध हो चुकी हो लेकिन एक समय ऐसा निश्चित था जब हिंदी आलोचना सुनिश्चित मार्ग की प्रतिक्षा में थी तब इसी शास्त्रीय आलोचना ने स्वस्थ, प्रशस्त मार्ग का निर्माण किया। अत: हिंदी की शास्त्रीय आलोचना का अपना महत्व आज भी अक्षुण्य है।

4.3.3.2 हिंदी की व्याख्यात्मक आलोचना –

आलोचना के प्रकारों में आलोचना का यह रूप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा आलोचना के प्रकृत स्वरूप के सर्वाधिक निकट है। व्याख्या और विश्लेषण करना इसकी विशेषता है। इस प्रणाली को लाने का श्रेय शेक्सपिअर के प्रसिद्‌ध आलोचक डॉ. मोल्टन को है। व्याख्यात्मक आलोचना कृति की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर उसके गुण–दोषों का तटस्थ भाव से सम्यक् मूल्यांकन करती हैं, कृति का व्यवस्थित रूप से सौन्दर्योद्‌घाटन करती है और उसे व्यवस्था देती है।

व्याख्यात्मक आलोचना में न तो व्यापक सिद्‌धांतों की कठोरता को ही स्वीकार करते है और न किसी युग की चेतना को ही महत्त्व देते है। इसका प्रमुख ध्येय कृतियों की कवि के दृष्टिकोण से व्याख्या करना है। इस प्रकार की आलोचना में आलोचक सिद्‌धांतों और आदर्शों की ओर अधिक ध्यान न देकर कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश करके उसके आदर्श और दृष्टिकोण तथा प्रवृत्तियों को समझाता है। कवि की प्रवृत्तियों का अध्ययन आधुनिक युग में अधिक महत्त्व का माना जाता है।

व्याख्यात्मक आलोचना यह स्वीकार करती है कि सभी कवि या साहित्यकार एक श्रेणी या प्रकृति के नहीं होते। अतएव किसी एक सिद्धांत या नियम से उनको नापना असंगत है और इस बात में वह निर्णयात्मक आलोचना से सर्वथा भिन्न है। इसके अंतर्गत आलोचक साहित्य को प्रकृति के अन्य पदार्थो की भाँति विकासशील मानकर नूतन विकास तथा उसके कारणों को खोजने का प्रयास करता है। साहित्य को निर्जीव मानकर पूर्वप्रतिष्ठित निर्जीव सिद्धांतो द्वारा ही उसकी परीक्षा नहीं की जाती। साथ-ही-साथ इसमें व्यक्तिगत या आत्मप्रधान आलोचना का भी रूप नहीं रहता; क्योंकि इसमें आलोचक यह नहीं कहता कि रचना मुझे कैसी लगी, वरन वह व्यक्तिगत अभिरूचि का परित्याग करके तटस्थ रूप से यह स्पष्ट करता रहता है कि कवि या साहित्यकार ने इसमें क्या अभिव्यक्त किया है। आलोचक उस कृति के परीक्षण में सदैव एक वैज्ञानिक अन्वेषक की भाँति नवीन सिद्धांत, नियम या विशेषताएँ खोजने में सजग रहता है। इस प्रकार व्याख्यात्मक आलोचना में साहित्यकार के साथ पूर्ण न्याय होने के साथ-साथ सजीवता और रोचकता भी बनी रहती है और नवीन नियमों एवं सिद्धांतों को विकास प्रदान करनेवाले तथ्यों की भी खोज होती रहती है, इसीलिए इस आलोचना पद्धति को अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह आलोचना सैद्धांतिक आलोचना का आधार बनती है।

व्याख्यात्मक आलोचना के अनेक रूप हो सकते है, जिनसे इसके प्रभाव तथा विस्तार का सम्यक परिचय प्राप्त होता है। व्याख्या, विश्लेषण करते समय आलोचक कहीं तो उसकी तुलना करता है, कहीं शास्त्रीय नियमों का विवेचन करता है, कहीं उसके इतिहास को देखता है तो कहीं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है। किसी भी पद्धति दवारा अथवा एकाधिक पद्धतियों के सहयोग द्वारा समीक्षक को ''कलाकार या साहित्यिक कृति में पूर्णत: लीन होकर उसके उस अनुभव का उद्घाटन करना पडता है, जिससे उस कृति की रचना हुई। रूढि, पूर्वाग्रह, निरोध, भावुकता, सैद्धांतिक आसक्ति, रचना कौशल संबंधी पूर्व कल्पनाओं आदि बातों से व्याख्यात्मक आलोचना में बाधा पडती है। व्याख्यात्मक आलोचना नियमों एवं सिद्धांतों को निरपेक्ष तथा प्रगतिशील बनाती है।

हिंदी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल को व्याख्यात्मक आलोचना प्रणाली का सूत्रपात करने का श्रेय प्राप्त है। भक्तिकालीन कवि सूरदास, तुलसीदास और जायसी पर लिखी गयी उनकी आलोचनाएँ इसी प्रकार की है। उनके (1) चिंतामणि भाग-1, 2, (2) रस मीमांसा, (3) गोस्वामी तुलसीदास, (4) भ्रमरगीतसार की भूमिका, (5) जायसी ग्रंथावली समीक्षा ग्रंथोंमें व्याख्यात्मक आलोचना के दर्शन होते हैं। वे कविता का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं मानते बल्कि आदर्शोन्मुख आत्मविस्तारण मानते है जहाँ व्यक्ति ह्रदय लोक-ह्रदय में विलीन हो जाता है। उन्होंने सूरदास जी के वात्सल्य वर्णन की व्याख्यात्मक आलोचना करते हुए लिखा है

''सूर वात्सल्य है और वात्सल्य सूर है। यह एक बड़ी ही अल्हादायक एवं आश्चर्यपूर्ण बात है कि सूर से पूर्व किन्ही हिन्दी कवि ने वात्सल्य रस का चित्रण नहीं किया पर सूर ने पहली बार इस क्षेत्र में इतना सुन्दर कहा है कि इस संबंध में औरों के लिए कुछ कहने को नहीं रहा। सूर के वात्सल्य वर्णन के बाद सब उसकी जूठन है। सूर वात्सल्य रस का कोना-कोना झाँक आये है। उन्होंने बाल्य जीवन की साधारण से

साधारण घटनाओं और चेष्टाओं का अत्यंत मनोवैज्ञानिक और कलात्मक वर्णन किया है। इनके वात्सल्य रस के वर्णन में पृथ्वी भी स्वर्ग बन जाती है।''

हिंदी में डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कृत 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' आधुनिक युग में व्याख्यात्मक आलोचना प्रणाली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक को अपने व्यक्तिगत विचारों को साहित्यिक रचना में प्रविष्ठ करने का कोई अधिकार नहीं होता। वह केवल साहित्यिक रचना व्याप्त विचारों को प्रकट करें। पाश्चात्य में मॅथ्यू ऑर्नल्ड ने भी इस समीक्षा पद्धति को अपनाया है। आधुनिक युग में यह समीक्षा पद्धति सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है क्योंकि यह कृति में अन्तर्निहित शक्ति, सौंदर्य एवं प्रयोजन को पूर्णत: प्रकाशित करती है।

4.3.3.3 प्रगतिवादी आलोचना :

हिंदी में छायावाद के ह्रास और प्रगतिवाद के आविर्भाव के साथ आलोचना के जिस रूप ने प्रमुखता ग्रहण की, उसी को प्रगतिवादी, समाजवादी या मार्क्सवादी आलोचना कहा जाता है। मार्क्सवाद के अनुसार व्यक्ति, समाज तथा साहित्य का विकास किसी लोकोत्तर सत्ता के बल पर नहीं, वरन् द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर हुआ है। प्रगतिवादी या मार्क्सवादी आलोचक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, भगवान, भाग्य या धर्म में विश्वास नहीं करता।

प्रगतिवादी आलोचना के मुख्य सरोकार (Main Concerns of Progressive Criticism)

प्रगतिवादी आलोचना के अनुसार साहित्य का कार्य सामाजिक परिवर्तन के प्रति विश्वास पैदा करना है। यह प्रगतिवादी या मार्क्सवादी साहित्य-दृष्टि की क्रांतिकारी भूमिका है। वह समाज की परिवर्तनकारी शक्तियों के कार्यों को गति और दिशा देता है तथा संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार करता है।

साहित्यिक प्रगतिशीलता :

डॉ. रामविलास शर्मा साहित्य की प्रगतिशीलता के प्रश्न को समाज पर साहित्य के अच्छे और बुरे प्रभाव के प्रश्न के रूप में देखते हैं। उनके मत से ''प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।'' लेकिन क्या प्रगतिशील होने से ही साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है? डॉ. शर्मा का उत्तर है कि ''प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है। यदि वह मर्मस्पर्शी नहीं है, पढ़ने वाले पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता है, तो सिर्फ नारा लगाने से या प्रचार की बात करने से वह श्रेष्ठ साहित्य क्या, साधारण साहित्य भी नहीं हो सकता।'' प्रगतिशील साहित्य कुंठित मानसिकता, अंधविश्वास, निराशावाद, अश्लीलता, सांप्रदायिकता और व्यक्तिवाद आदि का विरोधी करता है।

प्रगतिशील साहित्य मानव मात्र की समानता और शोषण मुक्त समाज का निर्माण करने वाला साहित्य है।

डॉ. नामवर सिंह का विचार है कि ''प्रगतिशील साहित्य कोई स्थिर मतवाद नहीं है, बल्कि यह एक निरंतर विकासशील साहित्य-धारा है, जिसके लेखकों का विश्वास है कि प्रगतिशील साहित्य लेखक की स्वयंभू अंत: प्रेरणा से उद्भूत नहीं होता, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के क्रम से वह भी परिवर्तित और विकसित होता रहता है और उसके सिद्धांत उत्तरोत्तर स्पष्ट तथा अधिक पूर्ण होते चलते हैं।''

परंपरा के विरोधी :

प्रगतिवाद के आरंभिक में कुछ आलोचक पुराने विचारों का विरोध और नये का समर्थन करने को प्रगतिवाद या मार्क्सवाद मानकर साहित्य का मूल्यांकन करने लगे थे।

छायावाद और पूर्ववर्ती साहित्य की आलोचना करते हुए स्वयं शिवदान सिंह चौहान ने सन् 1937 ई. में प्रकाशित अपने प्रसिद्ध निबंध 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' में लिखा था कि ''इस छायावाद की धारा ने हिंदी के साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया है उतना शायद ही हिंदू महासभा या मुस्लिम लीग ने पहुँचाया हो।'' (यद्यपि बाद में उन्होंने अपने इस लेख को उस समय की मार्क्सवादी साहित्यालोचना की मतवादी संकीर्णताओं से प्रभावित माना है ।)

प्रगतिशील लेखक संघ के घोषणापत्र सन् (1938) ई. में भी समस्त प्राचीन साहित्य को नकारात्मक दृष्टि से देखा गया और विचार प्रकट किया गया कि ''वह रूप और विषयवस्तु की दृष्टि से निस्तेज हो गया है और उसने जड़वाद तथा निर्जीव और रुग्ण विचारधारा अपना ली है।'' जनसंस्कृति के निर्माण में परंपरा के जीवंत तत्त्वों के योगदान को स्वीकार करते हुए परंपरा के महत्त्व को रेखांकित किया जा रहा था। यह प्रगतिवाद की मुख्यधारा थी और डॉ रामविलास शर्मा इसके मुख्य प्रवक्ता थे। उनका विचार था कि जैसे सामाजिक जीवन में कोई नयी व्यवस्था पुरानी व्यवस्था से एकदम अलग होकर नहीं आ सकती, वैसे ही साहित्य में भी उसके विकास क्रम को पूरी तरह से भंग करके शून्य में नया साहित्य नहीं लिखा जा सकता। उन्होंने लिखा है कि ''साहित्य के ऐतिहासिक भौतिकवाद के ज्ञान से समाज में परिवर्तन करके नयी समाज–व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है। प्रगतिशील आलोचना के ज्ञान से साहित्य की धारा खंडित करके नये प्रगतिशील साहित्य का निर्माण किया जा सकता है।

डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार ''किसी भी युग में कोई भी वर्ग एकदम नये सिरे से साहित्य या संस्कृति की रचना नहीं करता। वह मनुष्य की तब तक की संचित ज्ञानराशि से लाभ उठाकर अपने दृष्टिकोण से उसका मूल्यांकन करके और उसके स्वस्थ तत्त्वों के आधार पर ही नये साहित्य, नयी संस्कृति का निर्माण करता है।'' अर्थात् प्रगतिवादी आलोचना वैज्ञानिक दृष्टि से परंपरा का सही अर्थ ग्रहण करती है। परंपरा के संबंध में प्रचलित भ्रान्त धारणाओं का खंडन करती है।

शिवदान सिंह चौहान ने लिखा कि ''हर नया साहित्य आंदोलन अपनी पूर्ववर्ती परंपरा से विद्रोह करता है, किंतु साथ ही उस परंपरा की श्रेष्ठ और मूल्यवान् उपलब्धियों का अपने अंदर समाहार करके उसका विस्तार करता है।'' परंपरा के सकारात्मक पक्षों का विकास और नकारात्मक पक्षों का त्याग ही प्रगति है।

परंपरा के प्रगतिशील तत्त्वों को रेखांकित करते हुए उसमें इतिहास का नया रूप खोज निकालना तथा उसे राष्ट्रीय स्वत्त्व और स्वाभिमान से जोड़ना प्रगतिशील आलोचना का एक महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है।

सामाजिक प्रतिनिधित्त्व और साहित्य

प्रत्येक युग में कलाकार अपने सामाजिक वर्ग का प्रतिनिधित्त्व करता है। मुक्तिबोध ने लिखा है कि ''साहित्य की सामाजिक व्याख्या और भौतिक जगत् का विवेचन करना आलोचना का आवश्यक कार्य हैं, क्योंकि मनुष्य की चेतना का विकास उसके सामाजिक अस्तित्व से ही होता है।'' प्रगतिवादी आलोचना के अनुसार साहित्य सामाजिक जीवन का अंग होता है इसलिए उसका इतिहास और स्वरूप सामाजिक इतिहास और समाज से एकदम अलग नहीं हो सकता।

लेखक एक सामाजिक व्यक्ति होता है। वह सामाजिक दर्शन से ही साहित्य-सृजन करता है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया में उपलब्ध सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति ही किसी न किसी रूप में उसकी रचनाओं में होती है। सामाजिक यथार्थ से एकदम विपरीत और अलग स्थितियों और तथ्यों का चित्रण रचना को अविश्वसनीय और सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगी बना देता है। साहित्य और समाज में परस्पर सापेक्षता का संबंध होता है। वह समाज को प्रभावित और परिवर्तित करता है।

डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में ''साहित्य की विकासमान, परिवर्तनशील विषयवस्तु रचनाकार का मनमाना व्यापार न होकर समाज का आधार पाकर सार्थक दिखाई देती है।''

आधुनिक काल में आलोचना के नए- नए प्रतिमानों को ढूँढने का प्रयत्न किया है। ये आलोचक अधिकतर मार्क्सवादी ही रहे हैं। वे इस प्रतिमानों के कारण इस पद्धति को मार्क्सवादी आलोचना भी कहते हैं। साहित्य के क्षेत्र में मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर की हुई रचनाओं को प्रगतिवादी रचनाएँ कहा जाता है। यही प्रचलित नाम है। इसकी मूल चेतना आर्थिक तथा उपयोगितावादी होने के कारण इसे उपयोगितावादी आलोचना पद्धति भी कहते हैं।

कॉडवेल ने लिखा है- "Poetry is regarded then, not as something racial, national, genetic or specific in its essence, but as something economic." अर्थात् कविता के मूल धरातल जातीय और देशगत नही मानने चाहिए। उसका वास्तविक महत्त्व उसकी आर्थिक उपयोगिता में सन्निहित रहना है। कॉडवेल के कविता संबंधी इस दृष्टिकोण को ही मार्क्सवादी आलोचकों ने काव्यालोचन की कसौटी मान ली।

मार्क्सवादियों ने साहित्य में उपयोगितावाद को ही उसके प्राण माना है। मार्क्सवाद का दृष्टिकोण स्थूल भौतिक सुखवादी अथवा कल्याणवादी है। इस बारे में अमृतराय अपनी किताब में लिखते हैं- ''मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह समाजशास्त्रीय आलोचना है, जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील पक्ष के संबंध का उद्घाटन करती है।''

गोविंद त्रिगुणायतजी ने अपनी 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत' में इस संबंध में लिखा है- ''हमारी समझ में मार्क्सवादी आलोचना ऐतिहासिक आलोचना का वह विकसित रूप है, जिसमें भाव पक्ष का बौद्धिक एवं उपयोगितावादी उद्धाटन तथा शैली के सरल, स्वाभाविक एवं जन समवेद्य स्वरूप सन्निहित रहता है।''

प्रगतिवादी आलोचना पद्धति की विशेषताएँ –

1. इसमें आलोचक काव्य में प्रेषणीयता को ही अधिक महत्त्व देता है।
2. प्रगतिवादी आलोचक काव्य के उपयोगितावादी पक्ष पर अधिक बल देता है। वह उसी काव्य को श्रेष्ठ समझता है, जिसकी उपयोगिता अधिक है।
3. इस पद्धति के आलोचक उसी कृति के वर्ण विषय को महत्त्वपूर्ण मानता है, जो जनोपयोगी तथा जनवादी होती है।
4. प्रगतिवादी आलोचक काव्यशास्त्र के प्रतिष्ठित प्रतिमान की कसौटी नहीं मानते।
5. ऐसे आलोचक अनुभूति की गहराई तथा संवेदना की उपेक्षा कदापि नहीं करता ।
6. मार्क्सवादी आलोचक सामाजिक या भौतिक यथार्थवाद को बहुत महत्त्व देता है।
7. प्रगतिवादी आलोचक जिस कलाकृति में यथार्थवाद का रूप जितना स्पष्ट तथा भव्य होगा वह उतनी ही महान कृति मानता है।
8. प्रगतिवादी या मार्क्सवादी आलोचक रचना की आलोचना का मूल्यांकन बौद्धिक कसौटी पर ही करते हैं।
9. प्रगतिवादी आलोचक परंपरा गत तत्त्वों को भी महत्त्व नहीं देते।

इस तरह प्रगतिवादी अथवा मार्क्सवादी आलोचना का स्वरूप दिखाई देता है।

इनके सिवा अनुसंधात्मक आलोचना भी विकसित हो गयी है। आज का युग वैज्ञानिक युग समझा जाता है। इस कारण इस युग में वैज्ञानिक आलोचना का बोलबाला अधिक हो गया है। हिंदी के नब्बे प्रतिशत अनुसंधात्मक निबंध इसी पद्धति से लिखे जाते हैं। वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रचलित वर्गीकरण, प्रक्रिया तथा तत्त्वों को आलोचना के क्षेत्र में लेकर साहित्य कृति का मूल्यांकन इसमें किया जाता है। इसमें बुद्धितत्त्व को प्राधान्य दिया जाता है।

भौतिक तथ्यों की खोज और उद्धाटक कोई वैज्ञानिक जिस प्रकार करता है, उसी प्रकार साहित्यकार भी मानसिक तथा आध्यात्मिक तथ्यों का उद्धाटन अवश्य करें। हम काव्य का यथार्थ मूल्य अवश्य समझ सकें, तो ही वह आलोचना श्रेष्ठ आलोचना बन सकेगी।

इसतरह कुछ समय से वादों या विशेष मतों की ओर प्रवृत्ति यह रही है। जिसके कारण हिंदी समीक्षा कई संप्रदायों में विभक्त हो गयी है।

डॉ. रामविलास शर्मा और शिवदानसिंह चौहान ने मार्क्सवादी विचार पद्धति पर समीक्षाएँ लिखी हैं। इलाचंद्र जोशी, डॉ. नगेंद्र मनोवैज्ञानिक प्रभाववादी समीक्षा को अपनाकर चल रहे हैं। अमृतराय, प्रकाशचंद्र गुप्त, चंद्रबलि सिंह, भगवतशरण उपाध्याय, नामवर सिंह, विश्वंभरनाथ उपाध्याय आदि आलोचक अपनी बुद्धिवादी समीक्षा पद्धति द्वारा आधुनिक साहित्य की गतिविधि का सूक्ष्म निरीक्षण मनन करने में संलग्र हैं। परंतु इन समस्त आलोचकों में अभी एक भी ऐसा नहीं दिखायी देता जो आचार्य शुक्ल के समान साहित्यिक गतिविधि पर व्यापक प्रभाव डाल सके। आज लेखकों और कवियों की अपेक्षा हमारे साहित्य में आलोचकों की संख्या अधिक प्रतित होती है।

अतः जो आलोचना जीवन, समाज तथा साहित्य के विकास को वैज्ञानिकता के आधार पर तलाशती है, वही सच्ची आलोचना है। इस प्रकार समाजवादी, प्रगतिवादी या मार्क्सवादी अलोचना में साहित्य के सामाजिक पक्ष पर ही बल दिया जाता है और उसी को साहित्य की परख की मूल कसौटी माना जाता है। हिंदी में इस क्षेत्र में जिन आलोचकों ने विशेष ख्याति अर्जित की, उनमें डॉ. रामविलास शर्मा का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। डॉ. शर्मा ने सर्वत्र साहित्य के सामाजिक पक्ष पर बल देते हुए लिखा है, ''किसी भी समाज विशेष के मनुष्य की सौंदर्य मूलक प्रवृत्ति उसके समूचे ऐतिहासिक विकास का परिश्रम होती है...''

साहित्य के मूल्य स्थायी हैं। जो देशकाल की सीमाओं में निरंतर विकास करते हैं। कला का स्रोत जनता है। साहित्य के नायक तो समाज से ही मिलते हैं। इस समय एक ऐसे प्रखर व्यक्तित्व संपन्न आलोचक की आवश्यकता है, जो इस बिखरे हुये मंडल को इकठ्ठा करके साहित्य का उचित पथ-प्रदर्शन कर सकें।

4.3.3.4 हिंदी की ऐतिहासिक आलोचना

हिंदी आलोचना के प्रमुख प्रकारों में शास्त्रीय आलोचना के पश्चात्त ऐतिहासिक आलोचना का स्थान महत्वपूर्ण है। युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य तथा साहित्यांगो की आलोचना 'ऐतिहासिक आलोचना' कही जाती है। यह आलोचना साहित्य को जन्म देनेवाली परिस्थितियों का विश्लेषण करती है और उसके परिप्रेक्ष्य में आलोच्य कृति की व्याख्या करती है। इसमें कृति का महत्व उस युग विशेष कें संदर्भ में देखा जाता है, जिसमें उसकी रचना हुई है। इससे कवि और उसकी कृति दोनों के प्रति पूर्ण न्याय होता है; क्योंकि साहित्यिक मूल्य भी मानव-धारणाओं के अनुरूप ही परिवर्तित होते रहते है। हो सकता है कोई कृति आज के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण न हो, पर अपने समय के लिए उसका विशेष महत्त्व रहा होगा; जिस समय वह रची गयी, उस उसका मूल्य था, इसे परखना ऐतिहासिक आलोचना का ध्येय होता है।

सच तो यह है कि जितने भी हमारे प्राचीन कवि या कलाकार है- उनको जब तक हम उनके निजी युग की परिस्थितियों के प्रकाश में नहीं देखते तब तक हम उनका वास्तविक गौरव नहीं समझ सकते। किसी प्राचीन कवि को आज की कसौटी पर कसना और उसके संबंध में उसी आधार पर कोई निर्णय दे देना और उसे सर्वमान्य समझना, कवि या कलाकार के साथ अन्याय करना होता है। ऐतिहासिक आलोचना में इस प्रकार की संभावना नहीं। अत: उसका अपना स्थान है और वह महत्त्वपूर्ण है। ऐतिहासिक आलोचना का किसी भी कवि या कृति के मूल्यांकन में बहुत बड़ा महत्व होता है। विश्व साहित्य का इतिहास इस बात का

प्रमाण है कि कवियों के व्यक्तित्त्व का निर्माण उस युग की परिस्थितियों ने किया है। इसके निर्माण में अन्य अनेक तत्त्व भी सहाय्यक रहते है। उन तत्वों के आधारपर भी कवि या कृति का विवेचन किया जाता है। ऐतिहासिक आलोचना के अंतर्गत आलोचक तात्कालिक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि समस्त परिस्थितियों का अत्यंत सूक्ष्म एवं गहराई के साथ अध्ययन करता है, और फिर उसी परिप्रेक्ष्य में आलोच्य कृति का विवेचन एवं विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

ऐतिहासिक आलोचना में इस बात पर भी ध्यान दिया जाता है कि कोई कृति किस सीमा तक अपनी परिस्थितियों से प्रभावित है और उस प्रभाव के परिणामस्वरूप उसमें भावी समाज या युग के लिए किस सीमा तक प्रेरणा या मार्गदर्शन का भाव सन्निहित है। उदा.: 'कबीर' के 'साखी' 'सबद' 'रमैनी' पर या गोस्वामी तुलसीदास जी के 'रामचरित मानस' पर तत्कालीन धार्मिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का समन्वित प्रभाव है तो सूरदासजी के 'सूर सागर' पर केवल धार्मिक परिस्थिति का ही प्रभाव है। उसी प्रकार रीतिकालीन बिहारी, देव, भूषण, घनानंद आदि कवियों के व्यक्तित्त्व पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव तो है, किंतु प्रधानता भिन्न-भिन्न परिस्थितियों की है।

हिंदी की ऐतिहासिक आलोचना पद्धति में अपना योगदान देनेवाले आचार्यों में डॉ. श्यामसुंदरदास तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी महत्त्वपूर्ण है। वस्तुत: ये दोनों आलोचक सैद्धांतिक अर्थात् शास्त्रीय आलोचना करनेवाले आलोचक है फिर भी उनकी आलोचना में ऐतिहासिक आलोचना पद्धति के दर्शन होते है जो दृष्टव्य है। इसका मतलब यह नहीं कि इनके समकालीन या पूर्ववर्ती आलोचकों में ऐतिहासिक आलोचना के दर्शन नहीं होते. स्वयं आचार्य शुक्लजीने इस प्रणाली का काफी प्रयोग किया है विशेषकर भक्तिकालीन रचनाकार एवं उनकी रचनाओं की आलोचना करते समय फिर भी इस प्रणाली का खुलकर प्रयोग डॉ. श्यामसुंदरदास और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने ही किया है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी एक श्रेष्ठ ऐतिहासिक आलोचक है। ''उनकी आलोचनात्मक रचनाएँ महत्वपूर्ण और संग्रहणीय है। हिंदी साहित्य की भूमिका में उन्होंने आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति की प्रतिष्ठा करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि, 'किसी ग्रंथकार का स्थान निर्धारित करने के लिए क्रमागत सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जातीय सातत्य को देखना आवश्यक है। आलोचक को अपनी जातीय परंपरा का सांस्कृतिक विरासत का पर्याप्त बोध होना चाहिए।' द्विवेदी जी में बोध और पांडित्य का अद्भुत मिश्रण है। नवीन मानवतावाद और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के कारण उनका पांडित्य लचीला और बोध आधुनिक हो गया है। मानवीय मूल्यों में इतनी गहन आस्था उनके पूर्व किसी आलोचक ने व्यक्त नहीं की थी। ''कबीर'' का मूल्यांकन द्विवेदीजी ने अनेक नई दृष्टियों से किया। उन्होंने बताया कि, कबीर का महत्व सबसे अधिक इस बात से है कि उन्होंने मनुष्य-मनुष्य के बीच रागात्मकता का उद्घाटन किया है।

हिंदी के मूर्धन्य समीक्षक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा शैली शास्त्राधारित सूक्ष्म तत्त्वाभिनिवेशी अन्तर्दृष्टि से परिपूर्ण है। उनमें गहराई में प्रविष्ट होकर सार-संग्रह की अद्भुत क्षमता है। उनमें कलाकृति के सर्वांगीण निरीक्षण, परीक्षण एवं विश्लेषण दवारा तल-व्यापी संवेदनाओं को मूल्यात्मक निष्कर्ष

पर परखने की आत्मिक आतुरता रहती है। अपना समीक्षात्मक निष्कर्ष देने के पूर्व वे प्रस्तुत कलाकृति का विभिन्न ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक संदर्भों में तुलनात्मक परीक्षण एवं विश्लेषण करतें है। लोक धर्म की ऐतिहासिक विकास-चेतना के आलोक में साहित्यकार का महत्व प्रतिष्ठापित करने की उन्होंने चेष्टा की है। उनके-सूर साहित्य, कबीर और समीक्षा ग्रंथों में ऐतिहासिक आलोचना के दर्शन होते हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की तरह श्यामसुंदरदास भी हिंदी के ऐतिहासिक आलोचक है। अपने 'साहित्यालोचन' ग्रंथ की भूमिका में उन्होंने उसके उद्देश्य को स्पष्ट किया है। 'कबीर ग्रंथावली' उनकी ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली पर आधारित श्रेष्ठ रचना है जिसमें उन्होंने को तत्कालीन परिस्थिति के आलोक में देखा, परखा और फिर अपना मन्तव्य प्रकट किया है। जिस समय समीक्षात्मक दृष्टि-बोध का अभाव था उस समय उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा दृष्टियों का समन्वय कर समीक्षा-दर्शन का निर्माण किया।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि हिंदी की ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली अपना विशिष्ठ स्थान एवं महत्व रखती है। प्राय: सभी आलोचक इस पद्धति को अपनाते हैं, मात्रा भले ही कम-अधिक रहती हो। रचना एवं रचनाकार को तत्कालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखना तर्क एवं न्यायसंगत होता है।

4.3.3.5 हिंदी की मनोवैज्ञानिक आलोचना –

यह आलोचना पद्धति मनोविज्ञान से अनुशासित होती है। इसमें कवि की कृति को समझने के लिए कवि के अंतर्जगत् और उसके स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना पडता है। इस पद्धति का आलोचक कृति को उसके रचियता के व्यक्तित्त्व का प्रकाशन मानता है। आलोचक यह मानता है कि साहित्य की मूल प्रेरणाएँ दमित वासना की अभिव्यक्ति, हीन-ग्रंथियों से विमुक्ति, कुण्ठा, हताशा, निराशा आदि से पलायन तथा जीवनेच्छा का कारण है। वह यह भी मानना है कि इन सब के मूल में काम-भावना विद्यमान है अत: साहित्यकार की अन्तर्वृतियों का प्रकाशन इस समालोचना का मूल लक्ष्य होता है। कवि की रचनाओं को वैयक्तिक स्वभाव, उसकी आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न उसकी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप मन:स्थिति आदि के प्रकाश में देखना और निष्कर्ष निकालना भी इस कोटि की आलोचना का उद्देश्य रहता है।

हिंदी की मनोविश्लेषणवादी समीक्षा पर, प्रसिद्ध मनोविश्लेषण शास्त्री फ्रायड, एडलर और युंग के सिद्धांतों का प्रभाव है। यह समीक्षा पद्धति वैयक्तिक यथार्थ की गहन अभिव्यंजना से संबंधित है। छायावाद का व्यक्तिपरक चिंतन ही जटिलतम रूप धारण कर मनोविश्लेषण पद्धति में परिणत हो गया। मनोविश्लेषणवादी समीक्षा मनुष्य के अचेतन में प्रच्छन्न दमित वासनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति का विवेचन करती है। साहित्य में अन्तर्निदित अनुभूतियों, संवेदनाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यंजना रहती है। अचतेन मन में व्याप्त वासनाओं का सांस्कृतिक उन्नयन मनुष्य को विकासोन्मुखी बनाता है। प्रत्येक

व्यक्ति का परिष्कार समाज की प्रगति का हेतु बनता है। अत: मनोविश्लेषणवादी समीक्षा मनुष्य की नितान्त निजी भाव-निधि के अनंत गोपनीय स्तरों का उद्‌घाटन करके सत्य की प्रतिष्ठा करती है।

साहित्य सृजन एक मनोव्यापार है। साहित्य और साहित्य-समीक्षा में मनोविश्लेषण का विचार 20 वीं शताब्दी की देन है। हिंदी की मनोविश्लेषणवादी समीक्षा पर पाश्चात्य मनोविश्लेषकों का विशेष प्रभाव है। हिंदी के मनोविश्लेषणवादी समीक्षकों में श्री. इलाचंद्र जोशी, जैनेंद्रकुमार, अज्ञेय आदि प्रमुख है। डॉ. नगेंद्र की समीक्षा दृष्टि पर भी मनोविश्लेषण वाद का प्रभाव लक्षित होता है।

श्री इलाचंद्र जोशी सैद्‌धांतिक रूप से युंग द्‌वारा प्रभावित है और व्यावहारिक रूप से एडलर के विचारों से प्रेरित है। फ्रायड के काम-सिद्‌धांत का भी उनपर प्रभाव लक्षित होता है। उन्होंने अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण को प्रतिपादित करते हुए कहा है ''मेरा उद्‌देश्य व्यक्ति के अवचेतनात्मक भावों के सूक्ष्म विश्लेषण द्‌वारा उस समाजवादी अहंभाव को ध्वस्त करने का होता है जो उसके सामूहिक जनता के साथ एकरूप में सम्मिलित होने के पथ में सबसे बड़े अवरोध के रूप में खडा रहता है।'' उनके मतानुसार व्यक्ति का अहं और अहं जन्य मानसिक विकृति उसे समाज-विरोधी बनाती है। जोशी जी के अनुसार संस्कृत साहित्य में अभुक्त कामवासना की झलक है, भक्ति काल तथा रीतिकालीन साहित्य भी मानसिक कामोत्पीड़न का साहित्य है और हिंदी का छायावादी काव्य ''केवल अपने रूग्ण हृदयों की अलस रसावेशमयी भावनाओं के वासनोद्‌वारों से सार साहित्यिक वातावरण को विषमय करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।''

जैनेंद्रकुमार ने साहित्य में व्यक्ति-चिंतन को महत्त्व देते हुए आन्तरिक हीनताओं, कुण्ठाओं, विवशताओं, यंत्रणाओं और दुर्बलताओं का चित्रण किया है। उन्होंने मनुष्य की असहाय्य स्थिति, दीनता, शूद्रता और आत्मपीडा का निरूपण करना साहित्यकार का कर्तव्य माना है। मनुष्य भविष्य से बंधा है। उससे परे मनुष्य की कोई नियति नहीं है। अदृश्य भवितव्यता का सूत्र मनुष्य को अज्ञात मार्गो पर संचालित करता हुआ घोर निराशा, विफलता और असमर्थतता की असह्य पीड़ा से बोझिल बना देता है। अनाचार के प्रतिकार के लिए आत्म-पीड़न् ही अहिंसात्मक अस्त्र है। कठोर आत्म-पीडा से उत्पन्न असीम त्याग, सहनशीलता और करूणा ही मानव-उत्थान के प्रेरक तत्त्व है। साहित्यकार मानव जीवन के सत्य का उद्‌घाटन करता है और अपने इस प्रयास में वह मानवीय चरित्र के अंतरंग द्‌वंदवों आघातों और प्रतिक्रियाओं का मार्मिक विश्लेषण करता है। मनुष्य के अन्तद्‌वंदवों एवं तनाव के अनेक दैहिक, भौतिक, मानसिक और सामाजिक कारण होते है। अतृप्त कामेच्छा-जटिल कारण है जो मनुष्य की असामान्य गति-विधि को जन्म देते है। जैनेंद्रकुमार के उपन्यास साहित्य पर भी- (सुनीता, परख, त्यागपत्र, कल्याणी) पाश्चात्य मनोविश्लेषणवार का प्रभाव है।

अज्ञेय पर पाश्चात्य मनोविज्ञान का प्रचूर प्रभाव है। वे फ्रायड एवंड एडलर से विशेष रूप से प्रेरित है। उनका कथन है ''आज का हिंदी साहित्य अधिकांश में अतृप्ति का या यह कह लीजिए लालसा का, इच्छित विश्वास का साहित्य है।'' यहाँ फ्रायडीय दमित कामेच्छा जन्य अतृप्ति का बोध पूर्णत: मुखर हो रहा

है। एडलर के हीनता की प्रतिक्रिया में श्रेष्ठता-स्थापन के सिद्धांत का प्रतिफलन अज्ञेय के प्रसिद्ध उपन्यास ''नदी के द्वीप'' में हुआ हैं ''सब सिद्धांत क्षतिपूरक होते है। अज्ञेय संघर्षरत व्यक्ति की अतृप्ति को ही साहित्य-प्रेरणा का स्त्रोत मानते है। व्यक्ति मानसिक पलायन की दशा में मृत्यु को मुक्ति का द्वार समझ लेता है। साहित्यकारों की मनोवृत्ति की समीक्षा के लिए अज्ञेय ने मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि और व्यक्ति-चिंतन का आश्रय लिया है।''

संक्षेप में मनोविश्लेषण मूलत: मानसिक और स्नायविक रोगों की चिकित्सा-विधि थी। मनोवैज्ञानिका नें इसी विधि का साहित्य की आलोचना करने के लिए प्रयोग में लाया। हिंदी आलोचना कें क्षेत्र में प्रस्तुत प्रणाली का प्रचलन पर्याप्त रूप से हुआ हैं।

4.3.3.6 नई समीक्षा

प्रस्तावना:

20वीं शताब्दी का सबसे महत्त्वपूर्ण और समृद्ध आलोचनात्मक आन्दोलन का नाम 'नयी समीक्षा' आन्दोलन है। 'यूनान' पाश्चात्य काव्यशास्त्र और दर्शन का स्रोत माना जाता है और प्लेटो को पाश्चात्य कव्य शास्त्रीय परंपरा का प्रारंभिक दार्शनिक। आधुनिक काल में इंग्लैंड और अमेरिका में साहित्यिक आलोचना से संबंधित यह सबसे बड़ा आंदोलन था। इस आलोचनात्मक आंदोलन का उद्भव 'आंग्ल-अमरीकी' आलोचनात्मक के रूप में हुआ।

पश्चिम में रचना की इस समीक्षा पद्धति को 'नयी समीक्षा' नाम दिया गया। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले कोलंबिया विश्वविद्यालय के तुलनात्मक साहित्य के प्रोफ़ेसर एस.ई. स्पिनगार्न ने सन् 1911 ई. में 'नयी समीक्षा' शीर्षक नाम से शोध पत्र लिखा था जो सन् 1913 ई. में प्रकाशित हुआ।

नई समीक्षा

'नयी समीक्षा' में स्पिनगार्न ने क्लासिकल, रोमांटिक, समाजशास्त्रीय, जीवनीमूलक आदि समीक्षा पद्धतियों को अस्वीकार करते हुए स्थापित किया था कि समीक्षा वस्तुतः एक प्रकार की वैयक्तिक प्रतिक्रिया है, जो जीवंत-दृष्टि पर आधारित होती है। यह निश्चित है कि टी.एस. इलियट की पुस्तक दि सिक्रेड वुड (1920 ई.), मिल्टन मरे की पुस्तक 'दि प्राबल्म ऑफ स्टाइल' (1922 ई.), और आई. ए.रिचर्ड्स की पुस्तक 'प्रिन्सिपुल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (1924 ई.) आदि कृतियों के माध्यम से नयी समीक्षा के आधार तत्त्वों का विकास हुआ।

अमरीका में आई.ए. रिचर्ड्स को नयी समीक्षा का 'जनक' माना जाता है। नयी समीक्षा को पूर्णतः प्रतिष्ठित करने वाले 'जॉन क्रो रैनसम' के अनुसार- रिचर्ड्स को माना जाता है।

जॉन क्रो रैनसम के अतिरिक्त एलेन टेट, रॉबर्ट पेन वारेन, आर. पी. ब्लैकमर, आइवर विंटर और क्लीन्थ बुक्स आदि नए समीक्षकों में प्रमुख माने जाते हैं। सभी समीक्षकों ने कविता के साथ उसके भाषिक

विश्लेषण पर बल दिया। इन सभी समीक्षकों ने 'कविता' पर ही पूरा ध्यान केंद्रित करते हुए उसके भाषिक विश्लेषण पर बल दिया।

रैनसम के अनुसार ''कविता की रूप-रचना में 'शब्द-विधान' और 'अर्थविधान' दोनों का संश्लेषण (मिलना) होता है। शब्दविधान, 'बिंबविधान' और अर्थविधान 'विचारात्मक' है। इन दोनों का तनाव ही काव्यभाषा को अपेक्षित (जिसकी चाह या आशा) भंगिमा प्रदान करता है।''

एलेन टेट के अनुसार ''कविता का अस्तित्त्व जिस संतुलन पर स्थित होता है वह उसके बहिरंग संतुलन पर स्थित होता है और वह उसके बहिरंग संतुलन और अंतरं के बीच घटित होता है।''

एलेन टेट ने यहाँ 'संतुलन' शब्द का प्रयोग 'बहिरंग संतुलन' (अभिधेयार्थ को प्रकट करनेवाला) और ङ्गअंतरंगफ शब्द का प्रयोग (लक्ष्यार्थ को प्रकट करनेवाला) के बीच पूर्ण सामंजस्य के अर्थ में लिया है। रॉबर्ट पेन वारेन की ख्याति आलोचना से अधिक कवि और उपन्यासकार के रूप में हुआ। रॉबर्ट पेन वारेन ने काव्य-भाषा में व्यंग्य, विरोधाभास और प्रतीक पर बल दिया है।

आइवर विटर के अनुसार ''कवि अपनी भाषा में अभीधार्थ और लक्ष्यार्थ का गूढ़ संश्लेष उपस्थित करता है।''

क्लींथ ब्रुक्त ने 'विसंगति' को काव्यभाषा का प्रधान गुण माना है। उनके अनुसार विसंगति ही किसी कविता के संरचनात्मक ढाँचे का मूल आधार है।

आर. पी. ब्लैकमर के अनुसार ''सांकेतिकता ही काव्य भाषा का प्रधान गुण है, क्योंकि इसमें गति होती है, जहाँ अभिधा समाप्त हो जाती है वहाँ सांकेतिक भाषा कार्य करती है।''

नयी समीक्षा के उन्नायक काव्यभाषा के तात्त्विक विवेचन में एकमत नहीं है, किंतु नई समीक्षा की मूल प्रतिज्ञा ''काव्य स्वतः वस्तु है'' को लेकर पूर्ण सहमती है।

नयी समीक्षा प्रमुख तथ्य:

* नयी समीक्षा के कृतिकार से अधिक कृति को महत्व दिया जाता है।
* इसमें कृति की रूप रचना, कृति की शब्दावली, शब्दों के बनावट अर्थ का ढांचा, सादृश्य विधान अर्थ निर्वाह आदि बातों पर विचार किया जाता है।
* नयी समीक्षा में कृति के शब्द विधान, प्रतीक विधान, लय, शब्द भंगिमा, तनाव, विरोधाभास् आदि पर ध्यान दिया जात है।
* नयी समीक्षा 'कलाकृति की अखंडता' को स्वीकार करती है।
* नयी समीक्षा में कृति के विचार पक्ष और वस्तु पक्ष दोनों को अलग-अलग नहीं देखा जाता दोनों की समन्वित इकाई उसे कृति बनाती है।

* कविता शब्द विधान और अर्थ विधान की सम्मिलित बनावट है। इसमें शब्द विधान प्रमुख होता है। वही काव्य को सौंदर्य प्रदान करती है।

* 'नयी समीक्षा' रचना को शुद्ध रूप से देखने की पक्षधर है।

आज की समीक्षा को जानने के लिए नव लेखन के स्वरूप को जानना आवश्यक है। वैसे तो प्रत्येक युग में नए नए प्रयोग होते आए ही है। परिणाम स्वरूप साहित्य में विविध वाद निर्माण हो चुके हैं। आधुनिक समीक्षा में नव लेखक के बारे में जो प्रमुख प्रश्न निर्माण होते हैं, वे निम्नलिखित हैं-

1. रचना शिल्प की प्रक्रिया का नया विवेचन।
2. साहित्य के आस्वादन तथा मूल्यांकन के नूतन मानों की खोज करना याने नए साहित्य के मूल्यों तथा प्रतिमानों का विवेचन करना।
3. परंपरा तथा आधुनिक युग का बोध कराना।
4. साहित्य के इतिहास का भी एक स्वतंत्र दर्शन होता है, उस पर भी विचार करना
5. साहित्य में आयी हुई अश्लीलता पर विचार।
6. साहित्य एवं सामाजिक मर्यादा का विचार।
7. साहित्यकार की स्वाधीनता के बारे में विचार ।

इस सभी को समेट लेना मुश्किल है, फिर भी साहित्य का मूल्यांकन करते समय प्रथम प्रश्न यह उठता है कि साहित्य को परखने के लिए कौन सी सर्वोत्तम कसौटी है? इस ध्वनि, अलंकार आदि कसौटियाँ आज काम नहीं दे सकती। क्योंकि नए सर्जन का संपूर्ण आकलन करने में ये असमर्थ हैं। ये असमर्थ होने का कारण यह हैं कि नव साहित्य में अभिव्यक्त भावबोध एवं शिल्प दोनों अपने स्वभाव तथा उद्देश्य में इतने भिन्न है कि उनका मूल्यांकन प्राचीन मानदंडों से हो नहीं सकता। आज साहित्य निर्माण करनेवाले अधिकांश साहित्यकारों का यही आग्रह होता है कि वास्तविक जीवन को, तथा जगत को खुद । जितना भोगा है उतना ही इमानदारी से अपनी रचना में कह दे। दूसरी बात यह है कि नई समीक्षा के व्यक्तित्व को जिन जिन चिंतन आयामों द्वारा पहचाना जा सकता है, उनमें भाषागत चिंतन भी महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। क्योंकि साहित्य में स्वच्छंद भावधारा के साथ भाषा का स्वरूप भी बदलता रहा है।

तात्पर्य यह कि नए साहित्यकारों की समीक्षा की आधारभूत मान्यताओं को इस प्रकार बताया जा सकता है-

1. जिया हुआ सत्य ही काव्य (साहित्य) का सत्य है, एवं जी कर पाया हुआ सत्य ही विशिष्ट होता है, और उससे मिली हुई अनुभूति भी विशिष्ट होती है। साहित्य निर्माण करनेवाले के व्यक्तित्त्व और परिवेश के अनुसार उसमें भिन्न भिन्न कोण निर्माण होते हैं अलग अलग छटाएँ पैदा होती हैं।

2. इस जिए हुए सत्य को सर्जनात्मक रूप देते वक्त साहित्यकार की मूल्यांकनकारी निगाह भी उसके साथ रहती है। यह सामाजिक दृष्टि होती है। इसी कारण सच्ची एवं जीवंत साहित्य कृति सिर्फ अनुभवों तक ही नहीं ठहरती

3. समाज अथवा परिवेश एक विकसनशील वस्तु होती है, इसलिए सामाजिकता का अर्थ है विकास के एक चरम बिंदू तक पहुँचे हुए समाज के भाव मूल्य, संबंध एवं चिंतन के अनेक आवर्तो की अनुभूति तथा आकलन क्षमता। इस तरह सामाजिक संदर्भ में मूल्य, मर्यादा, नैतिकता, आदर्श सभी जिए हुए सत्य के ही अंग बन जाते हैं। कोरी नैतिकता उन्हीं की थोपाई गयी लगती है, जो समाज का असली जीवन न जी कर भी उसके मूल्यों और नैतिकताओं के बारे में केवल जोर जोर से बोलते रहते हैं।

निष्कर्ष:

निष्कर्ष यह कि, नव साहित्यकार कि दृष्टि मूल्यों को कदापि अस्वीकार नहीं करती लेकिन उसे पाने के लिए बेचैनी का अनुभव करती है। मुक्तिबोध ने लिखा ही है कि–''साहित्य समीक्षा के मूल बीज वास्तविक जीवन में तजुर्बे के बाद होनेवाले ज्ञान संवेदन तथा संवेदन ज्ञान में ही है। इसलिए समीक्षक का आदि कर्तव्य वास्तविक जीवन की – संवेदनात्मक समीक्षाशक्ति का विकास करना है। यदि साहित्य जीवन का उद्घाटन है, तो समीक्षक को जानना ही पड़ेगा कि जीवन वास्तविक जीवन है कि नहीं।''

साहित्य निर्माण की सार्थकता जीवन के विशिष्ट अनुभवों, नई जिज्ञासाओं नए मूल्यों की खोजों एवं नए सामाजिक संबंधों के अहसास से ही प्राप्त हो सकती है। यह एहसास आज के साहित्य निर्माण के लिए अधिक आवश्यक हो गया है। इसका कारण यह है कि आज का समाज तथा मनुष्य जीवन बहुत ही जटिल हो चुका है। आज की समीक्षा आज के साहित्य निर्माण के संदर्भ में इस सत्य को पहचान सकी है कि सामाजिक विकास की संक्रांत स्थितियों में टूटते और बनते हुए मूल्यों को बराबर पहचानना ही होगा।

4.3.4 हिंदी के प्रमुख आलोचक

4.3.4.1 आचार्य रामचंद्र शुक्ल

आचार्य महावीर प्रसाद दि्ववेदी के काव्यादर्श को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने प्रौढ और शास्त्रीय रूप दिया है। शुक्ल जी के सैंद्धांतिक विवेचन में दि्ववेदी जी की मान्यताओं का ही विकास हुआ है। उनकी समीक्षा दृष्टि व्यवस्थित और विस्तृत रस सिद्धांत में परिणत हो गई है। शुक्ल जी रसवादी आचार्य हैं। उनकी समस्त सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षाओं में 'रस' को ही सिद्धांत रूपमें स्वीकार किया हैं। भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के गहन अध्ययन और मनन से उन्होंने हिंदी समीक्षा को एक व्यापक और प्रशस्त आधार प्रदान किया। उन्होंने भारतीय सिद्धांतों की एक सिरे से व्याख्या की और नए, संदर्भों में उनकी उपदेयता पर प्रकाश डाला। उन्होंने भारतीय संदर्भों में पाश्चात्त्य सिद्धांतों की उपोदयता पर विचार किया तथा अधूरी व्याख्या से उत्पन्न भ्रमों का निराकरण किया।

उनके आलोचक व्यक्तित्त्व का परिचय उनके समीक्षा ग्रंथों से मिलता है।

प्रमुख कृतियाँ–

'भ्रमर गीत सार' (2006 ई.), 'जायसी ग्रंथावली' (2008 ई.), 'गोस्वामी तुलसीदास', 'चिंतामणी भाग' (1950 ई.), 'चिंतामणी भाग–2', 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (सन 2009), 'रस मीमांसा' आदि।

1. सिद्धांत–रस :

आचार्य शुक्ल ने सूर, तुलसी और जायसी के काव्यों की समीक्षा रस सिद्धांत की कसौटी पर की गई है। उनके इतिहास का प्रणयन रस भूमि पर ही हुआ है। 'रस मीमांसा' रस सिद्धांत का प्रतिपादक ग्रंथ है और 'चिंतामणी' के विविध निबंधों में भी 'रस' को ही महत्त्व दिया है। शुक्ल जी ने रस की परिभाषा इस प्रकार दी है "लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है" शुक्ल जी की इसे परिभाषा में रस सिद्धांत के नवीन रूप के दर्शन होते हैं। शुक्ल जी रस दशा को हृदय कीं मुक्तावस्था मानते हैं। हृदय की मुक्तावस्था को रस दशा मानने का कारण यह है कि शुक्ल जी साहित्य में ही नहीं प्रत्यक्ष जीवन की अनुभूतियों में भी रस दशा मानते हैं। बस उनके लिए अनिवार्य लक्षण यह है कि वह हृदय को मुक्तावस्था में ला दे, उसे अपने पराये के भेदभाव से मुक्त कर दे, उसे निर्वेयक्तिक कर दे, उसकी व्यक्ति सत्ता का परिहार कर दे, उसे सामान्य भाव सत्ता में लीन कर दे तथा अशेष सृष्टि के साथ उसका रागात्मक संबंध स्थापित कर दे। शुक्लजी का यह विचार तो आचार्य विश्वनाथ के साथ अनुरूप है और दूसरी ओर पश्चिमी समीक्षा के अहंम् विसर्जन एवं निस्संगता के सिद्धांत का समावेश भी देखा जा सकता है।

रस की शास्त्रीय स्थिति से शुक्ल संतुष्ट नहीं हैं। वे रस की तीव्रता, कवि की तन्मयता, रस की विविध स्थितियों एवं उसके विस्तार तथा रस वैविध्य पर भी दृष्टि रखते हैं। शुक्ल जी तुलसी तथा सूर की इसलिए बार–बार प्रशंसा करते है कि तुलसीने बडी तन्मयता के साथ जीवन के विभिन्न भावों एवं रसों में अवगाहन कराया है। घनानंद में भाव पक्ष की प्रधानता है, इसलिए घनानंद भी शुक्ल जी के प्रशंसा पात्र है। बोधा की भाव तन्मयता की भी प्रशंसा की है।

शुक्ल ने रस को बडे व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। भारतीय काव्यशास्त्र में जो रस माना गया है, उसके अतिरिक्त भी उन्होंने रस की कई कोटियाँ निर्धारित की हैं। शुक्ल जी की समीक्षा रस सिद्धांत के आधार पर है। यह रस दृष्टि बहुत कुछ नैतिक थी।

2. काव्यरस द्वारा मनोभावों का परिष्कारण :

रस सिद्धांत के सम्यक विवेचन के लिए आचार्य शुक्ल ने 'रस मीमांसा' नामक ग्रंथ की रचना की है। इसमें रस के विभिन्न अवयवों और रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया का बडा सूक्ष्म और मौलिक विवेचन किया गया है। इस विवेचन में शुक्ल जी की मौलिकता स्थायीभावों, संचारियों और विभावों के विश्लेषण से संबंधित है। उन्होंने स्थायीभावों और संचारियों का बडा मनोवैज्ञानिक और सूक्ष्म विश्लेषण किया है। सात स्थायीभावों तथा तीन संचारियों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने सिद्ध किया है कि काव्यरस इन मनोभावों के परिष्करण से जुडा हुआ है। उनके अनुसार व्यक्ति की भावसत्ता का सामान्य भावसत्ता में लय होता है, वहाँ रस की पुनीत

भूमि है। स्थायीभावों की व्यंजना के कारण ही साहित्य में रस की भूमि तैयार होती है जो अपनी संक्रामक विशेषताओं के कारण श्रोता या पाठक में उन्हीं भावों का संचार कर देती है। काव्यरस का स्वरूप स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी कहते हैं- ''कुछ रूपरंग की वस्तुएँ ऐसी होती है, जो हमारे मन में आते ही थोडे देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि हमारा सारा ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। हमारी अंत:स्थता की यही तदाकार परिणति ही सौंदर्य की अनुभूति हैं।''

3. काव्य संबंधी विचार :

शुक्ल जी के साहित्य सिद्धांत के स्पष्टीकरण के लिए उनके काव्यसंबंधी विचारों पर भी चिंतन करना आवश्यक है। उन्होंने अपने निबंध 'कविता क्या है' तथा अन्य स्थानों पर काव्य को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। कविता की परिभाषा देते हुए चिंतामणी भाग-1 में लिखा है कि, ''जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार ह्रदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। ह्रदय की मुक्ति की इसी साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते है।'' इस परिभाषा की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमें शुक्ल जी ने काव्य को वैयक्तिक भूमि से ऊपर उठाकर एक उच्च सामाजिक अथवा निर्वेयक्तिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है। भट्टनायक का भावकत्त्व व्यापार भी यही है। काव्य से ह्रदय के स्वार्थ संबंध छूट जाते है। कविता ह्रदय को सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है। वहाँ जगत् की नाना गतियों का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इससे हमारे मनोविकारों का परिष्कार और शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है। आचार्य विश्वनाथ की सत्त्वोद्रेक की अवस्था भी यही है।

एक अन्य स्थल पर शुक्ल जी ने भावोद्रेक करनेवाली रस सुक्ति को कविता कहा है। इस परिभाषा में भी आचार्य विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' की प्रतिध्वनि सुनाई पडती है। शुक्ल जी काव्य की आत्मा रस मानते है तथा अलंकारादि उसके बाह्य स्वरूप है। काव्य के दो पक्ष होते हैं- ह्रदय पक्ष और कला पक्ष। ह्रदय पक्ष काव्य में प्रधान होता है उसका बाहय पक्ष तो उसके अंतरंग की अभिव्यक्ति में सहायता पहुँचाता है। शुक्ल जी ने दो प्रकार का काव्य माना है प्रकृत और काव्यभारत। सर्वश्रेष्ठ प्रकृत काव्य रस या भावुकतासे युक्त होता है। कभी-कभी रस और भाव के साथ चमत्कार भी मिल जाता है। परंतु कोरी चमत्कार युक्त उक्तियाँ शुक्ल जी के अनुसार काव्याभास है, काव्य नहीं। इस प्रकार बिना रस या भाव को वे काव्य की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते है।

आचार्य शुक्ल काव्य को सप्रयोजन रचना मानते है जिसका उद्देश्य पाठक को संकीर्णता से ऊपर उठाना है। शुक्ल के अनुसार काव्य का उद्देश्य 'लोकमंगल' है। उनके अनुसार ''सौंदर्य और मंगल वास्तव में पर्याय हैं। कला पक्ष से देखने में जो सौंदर्य है, वह धर्म पक्ष से देखने में मंगल है।''

4. काव्य में भाव पक्ष की प्रधानता :

आचार्य शुक्ल काव्य में भाव पक्ष को प्रमुखता देते है। कला पक्ष भावोत्कर्ष में सहायक होता है। वस्तुत: कलात्मक सौंदर्य वही तक ग्राह्य है, जहाँ तक भावाभिव्यक्ति में सहायक होता है। इस संबंध में शुक्ल जी के कुछ उद्धरण देखिए

1. ''अनूठी से अनूठी उक्ति तभी काव्य हो सकती है, जब कि उसका संबंध कुछ दूर का सही हृदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा।''

2. ''ऐसी वस्तुव्यंजना जिसकी तह में कोई भाव न हो, चाहे कितने ही ढंग से की गई हो, चाहे उसमें कितना ही लाक्षणिक चमत्कार हो, प्रकृत कविता न होगी, सूक्ति मात्र होगी।''

3. ''संसार में मनुष्य जाति के बीच कविता हृदय के भावों को लेकर ही उठी है। प्रेम, उत्साह, आश्चर्य, करूणा आदि की व्यंजना के लिए ही कवियों ने अपने स्निग्ध कंठ खोला था। तब से आज तक संसार की प्रत्येक सच्ची कविता की तह में भावानुभूति आत्मा की तरह रहती चली आ रही है।''

अपने समीक्षात्मक निबंधों में बडी स्पष्टता के साथ आचार्य शुक्ल ने कविता में भाव पक्ष की प्रमुखता का प्रतिपादन किया है। कविता के सैद्धांतिक विवेचन के साथ ही उन्होंने काव्य के विविध रूपों के रचना विधान, लक्ष्य आदि का सैद्धांतिक विवेचन किया है।

5. भारतीय समीक्षा संप्रदाय और शुक्ल :

आचार्य शुक्ल रसवादी आचार्य थे। वे अन्य समीक्षा संप्रदायों की उपेक्षा नहीं करते हैं। वास्तव में वे समन्वयवादी आचार्य हैं। विभिन्न समीक्षा संप्रदायों की अतिवादिता के विरुद्ध हैं। शुक्ल जी के अनुसार प्रत्येक सच्ची कविता की तह में भावानुभूति आत्मा की तरह रहती है। मानते है रीति काव्य शरीर का अंगविन्यास है, अलंकार काव्यागता के आभूषण है, गुण आत्म धर्म हैं, औचित्य अवयवों की संगति अथवा व्यवस्था है। उनकी दृष्टि में ध्वनि आत्मा का रूप नहीं ले सकती, क्योंकि उसकी सीमा में अलंकार ध्वनि, वस्तु ध्वनि आ जाने से अतिव्याप्ति दोष आ जाता है।

रस काव्य का आत्मभूत तत्त्व है और अन्य सभी तत्त्व उसके सहायक हैं। उनके अनुसार व्यक्ति हृदय के लोक हृदय में लीन होने की दशा 'रसदशा' कहीं जा सकती है। हृदय का काव्य वस्तु से प्रभावित होना ही रसानुभूति है। इस दृष्टि से उन्होंने कवि, काव्यगत आलंबन और सहृदय तीनों के तादात्म्य पर बल दिया है। आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में आनी चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। आलंबन की प्रधानता प्रतिपादित करते हुए, शुक्ल दृढता के साथ जहाँ उसके साधारणीकरण पर बल देते हैं, वहाँ लोक धर्म के साथ संबंध स्पष्ट करके 'काव्य रस' की एक अभिनव व्याख्या करते हैं।

6. पाश्चात्य काव्य सिद्धांत और आचार्य शुक्ल :

शुक्ल ने भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का अनुशीलन और विवेचन जितनी सक्षमता के साथ किया है, उतनी ही क्षमतापूर्वक वे पाश्चात्य सिद्धांतों की परख करते हैं। अपने निबंध 'काव्य में रहस्यवाद' में

युरोप के लोकादर्शवाद की आलोचना की है। उनका कहना है कि आदर्शवादी केवल आदर्श में ही सौंदर्य देखते है। यह काव्य को संकुचित कर देता है। युरोप में समीक्षा क्षेत्र में नवीनता और अनूठेपन के संबंध में 'कला कला के लिए', 'अभिव्यंजना ही सब कुछ है' आदि सिद्धांतों का खंडन किया है। क्रोचे, स्पिन्बर्न, ब्रैडले आदि के काव्यसंबंधी विचारों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है और सिद्ध किया है कि भारतीय संदर्भ में इन सिद्धांतों का कोई औचित्य नहीं है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि काव्य में अभिव्यंजना या कला पक्ष को एक सीमा से आगे प्रमुखता नहीं दी जा सकती। काव्य में कल्पना तत्त्व के सीमित और मर्यादित प्रयोग के वे पक्षपाती है।

7. समन्वयवादी समीक्षा दृष्टि :

वास्तव में शुक्ल जी समन्वयवाद के समर्थक है। वे किसी वाद या सिद्धांत के घेरे में संकुचित होना स्वीकार नहीं करते हैं। जो भी लोकमंगलविधायक है, वह इन्हें ग्राहय है। उन्हें किसी से विरोध नहीं है, विरोध है तो केवल अतिवादिता से। वे कल्पना तत्त्व का महत्त्व स्वीकार करते है, किंतु वे अतिशय कल्पनावाद के विरोधी हैं। काव्य में प्रकृति चित्रण का महत्त्व उन्हें मान्य हैं किंतु कोरा प्रकृति चित्रण उपयुक्त नहीं मानते। काव्य वर्णन कौशल पर उनकी दृष्टि हैं किंतु नितांत व्यक्ति वैचित्र्य के विरोधी हैं।

शुक्ल जी कविता का महत्त्व समाज के लिए मानते हैं। लोकमंगल उनके समीक्षा सिद्धांत का मूल तत्त्व है। यद्यपि काव्य में कलात्मक कौशल महत्त्वपूर्ण है किंतु वस्तु प्रमुख है। वे रस को काव्य की आत्मा तथा रसानुभूति, भावानुभूति अथवा लोकानुभूति को काव्य का प्रयोजन मानते हैं। वे सही अर्थों में भारतीय विचारक है। साहित्य में स्वदेशी तत्त्व पर वे सदैव ध्यान रखते हैं। वे अतिवादिता के कट्टर विरोधी हैं। वे समन्वयवाद के पोषक हैं और सत्य, शिव तथा सुंदर तीनों को एक मानते हैं।

अत: यहां स्पष्ट है भारतीय काव्य चिंतन परंपरा में आ. शुक्ल जी का अपना एक स्थान है। उनकी रचनाएँ चिंतनीय एवं श्रेष्ठ रचनाकृतियाँ है। समन्वयवाद के समर्थक शुक्ल जी ने काव्य को लोकहितवादी, लोकमंगल माना है। आलंबन, अनुभूति तादात्म्य पर बल दिया है। 'गोस्वामी तुलसीदास', भ्रमरगीत सार की भूमिका, जायसी ग्रंथावली की भूमिका में व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक आलोचना के दर्शन होते है। अर्थात उन्होंने प्राचीन काव्य के सारतत्त्व को ग्रहण करके उसमें पाश्चात्य समीक्षा का बल देकर, युगीन काव्यकृतियों का अवलोकन कर आधुनिक आलोचना को नया रूप दे दिया। भावी आलोचना के लिए प्रकाश स्तंभ स्थापित किया।

4.3.4.2 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

हिंदी आलोचना के विकास में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का विशिष्ट योगदान रहा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के आलोचक व्यक्तित्त्व से प्रेरणा लेते हुए द्विवेदी जी ने अपेक्षाकृत अधिक उदारवादी दृष्टि अपनायी, जिसकें कारण वे ऐसी साहित्यधाराओं के साथ भी न्याय कर सके जो शुक्लजी द्वारा समुचित महत्त्व नहीं प्राप्त कर सकी। भारतीय वाङ्मय के गंभीर अध्ययन और पांडित्य का प्रभाव उनकी समीक्षा दृष्टि पर पडा है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह विशिष्टता है कि उन्होंने शुक्ल जी की कमजोरी से बचने का प्रयास किया है। उनका अथाह पांडित्य किसी को डराता नहीं अपितु अद्वितीय उदारता एवं सहजता के समन्वय के कारण पुराने तथां नए सभी प्रकार के लोगों के लिए समान रूप से आकर्षक है। यह आकर्षण अनायास नहीं है, अपितु उनके आलोचक व्यक्तित्त्व के कारण हैं।

प्रमुख कृतियाँ –

'साहित्य का मर्म', 'विचार और वितर्क' (1945 ई.), 'अशोक के फूल' (1948 ई.), 'हिंदी साहित्य की भूमिका' (1944 ई.), 'सूर साहित्य' (1956 ई.), 'कबीर' (1955 ई.), 'हिंदी साहित्य' (1952 ई.), 'कल्पलता', 'हिंदी साहित्य का आदि काल' (1957 ई.), 'प्राचीन भारत का कला विकास', 'नाथ संप्रदाय' (1950 ई.)।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना की विशेषताएँ

1. सिद्धांत–मानवतावाद :

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानवतावादी समीक्षक हैं। उनका मत है कि 'मनुष्य ही मुख्य है' बाकी सब बातें गौण हैं। अलंकार, छंद, रस का अध्ययन इस मनुष्य को समझने का ही साधन है, ये अपने आपमें कोई स्वतंत्र महत्त्व के नहीं हैं। द्विवेदी मानते हैं कि हमारे सारे प्रयत्न मनुष्य के लिए हैं। हमारे सब प्रयत्नों का एक ही लक्ष्य है कि मनुष्य वर्तमान दुर्गति के पंख से उद्धार पावे और भविष्य में सुख और शांति से रह सके। मनुष्य के लिए ही साहित्य, दर्शन, इतिहास, राजनीति आदि बनते हैं। साहित्य की रचना भी दस अन्य कर्मों के समान मनुष्य को सुखी बनाने के लिए ही की जाती है। हमारे अध्ययन की सामग्री प्रत्यक्ष मनुष्य है। मानवतावाद व्यक्ति मानव की नहीं, बल्कि समस्त मानव की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्ति चाहता है। आज के युग में सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। साहित्य की सबसे बडी उपयोगिता यह है कि वह मनुष्य को मनुष्य बनाता है।

द्विवेदी जी स्पष्ट करते है कि जिस साहित्य में संकीर्ण स्वार्थों के बंधन से मुक्त होने की प्रेरणा नहीं मिलती, वह साहित्य दो कौडी के मोल का भी नहीं है। मनुष्य को मनुष्य बनाने में ही उसकी उपयोगिता है। आज संसार इतना मदमत्त है कि अच्छी बातें सुनने के लिए तैयार नहीं है। आज की सबसे बडी समस्या है कि अच्छी बात सुनने और मनाने के लिए संसार को कैसे तैयार किया जाए? साहित्य और साहित्यिक सभाएँ इस समस्या का समाधान कर सकती है।

2. पांडित्य का प्रभाव :

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया था। इसके साथ ही दर्शन, अध्यात्म, धर्मशास्त्र, पुराण, उपनिषद आदि का भी गंभीर अध्ययन किया था। भारतीय वाङ्मय के गंभीर अध्ययन और पांडित्य का प्रभाव उनकी समीक्षा दृष्टि पर पडा है। वस्तुत: द्विवेदी भारतीय वाङ्मय के भीतर से गुजरते हुए हिंदी के क्षेत्र में आ पहुँचे है। इसी कारण पूर्ववर्ती आलोचकों से उनकी दृष्टि भिन्न है। द्विवेदी

जी ने ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति की नींव डाली है। विविध वादों पर भी उन्होंने मानवतावादी दृष्टि से ही विचार किया है। आदर्शवाद, छायावाद, यथार्थवाद तथा प्रगतिवाद के संबंध में भी उन्होंने लोककल्याण की दृष्टि से विचार किया है। उनके पास वह दृष्टिकोण है जो उनके विशाल भारतीय साहित्य के अध्ययन मंथन, वर्तमान विश्व समाज की समस्याओं और प्रश्नों के चिंतन, मनन तथा रविबाबू, आचार्य क्षितिजमोहन सेन जैसे उदार व्यक्तिमत्त्व वाले मनीषियों के संपर्क से निर्मित हुआ है।

3. विश्लेषण क्षमता :

दृविवेदी जी की एक प्रमुख विशेषता उनकी अद्‌वितीय विश्लेषण क्षमता है। संस्कृत एवं हिंदी साहित्य का अध्ययन करते हुए उन्होंने इस क्षमता का परिचय दिया है। वे पुरी आस्तिकता के साथ पुराणों, उपनिषदों तथा धार्मिक साहित्य का अध्ययन करते हैं किंतु उनका विश्लेषण करते समय रागद्‌वेष, या भावुकता से बिल्कुल प्रभावित नहीं होते। इसी कारण उनके चिंतन में मौलिकता दिखाई देती हैं। 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में संस्कृत काव्य के संबंध में उनका निम्नलिखित कथन उपर्युक्त तथ्य को प्रमाणित करता हैं ''जन्मांतर व्यवस्था और कर्मफलवाद के सिद्‌धांत का ऐसा जबर्दस्त प्रभाव था कि परवर्ती कवियों के चित्त में इस जागतिक व्यवस्था के प्रति भूल से भी असंतोष का आभास नहीं मिलता। जो कुछ जगत में हो रहा है उसमें प्रश्न करने और संदेह करने की जगह ही नहीं। कवि शांतिमय जगत्‌ में निवास करते थे, उसमें दु:ख भी, कष्ट भी, हास्य भी एक सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था का परिणाम समझा जाता था। कवि इन बातों से विचलित नहीं होता था। इसलिए संस्कृत के इस युग के कवियों में समाज व्यवस्था के प्रति किसी प्रकार की विद्रोह की भावना तथा असंतोष का भाव एकदम नहीं पाया जाता। आप विधवा का मर्मस्पर्शी रोदन पढ पाएँगे, पर बहुत कम ऐसा देखेंगे कि कवि ने एक बार भी आपका हृदय सहला देने के लिए विद्रोह के साथ कहा हो कि यह अन्याय है। हम इसका विरोध करते हैं। व्यक्तित्त्व की इतनी जबर्दस्त उपेक्षा संसार के साहित्य में दुर्लभ हैं।''

संस्कृत साहित्य के प्रति उनका असीम अनुराग है। उसके प्रति आस्था एवं श्रद्‌धा का भाव है। फिर भी उसका विश्लेषण करते हुए वे उसकी सीमाओं और दुर्बलताओं की उपेक्षा नहीं करते। इन दुर्बलताओं के होते हुए भी वे उस साहित्य की महानता को स्वीकार करते हैं।

4. युगबोध :

समीक्षक के रूपमें आचार्य दृविवेदी की एक बहुत बडी विशिष्टता यह है कि वे किसी काल के साहित्य पर विचार करते समय उस युग की परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों को अवश्य ध्यान में रखते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है ''साहित्य की मान्यताएँ जीवन की मान्यताओं से विच्छिन्न नहीं होती। नई परिस्थितियों में जब मनुष्य नए अनुभव प्राप्त करता है तो जागतिक व्यापारों और मानवीय आधारों तथा विश्वासों के मूल्य उसके मन में घट या बढ जाते हैं। सभी मूल्यों में कुछ पुराने संस्कार और नए अनुभव होते हैं।''

युग के जीवन मूल्यों में परिवर्तन को सहज स्वाभाविक मानने के कारण आचार्य दृविवेदी की इतिहास दृष्टि दूसरे विचारकों की तुलना में अधिक उदार, भिन्न एवं विशिष्ट हैं।

इतिहास को वे एक गडा मुर्दा या विगत तथ्यों का ब्यौरा नहीं मानते बल्कि उसे एक जीवंत शक्ति मानते है। अत: उनके अनुसार मनुष्य ही इतिहास को नहीं बनाता, बल्कि इतिहास मनुष्य को बनाता है। इतिहास का वास्तविक अर्थ मनुष्य जीवन के अखंड प्रवाह का अध्ययन हैं। इतिहास केवल व्यक्ति या मनुष्य का नहीं, बल्कि समाज और उसके परिवेश का होता है। मानव प्रयत्नों और परिवेश की अटूट परंपरा ही इतिहास है। इस प्रकार इतिहास ने द्विवेदी जी को अमोघ शस्त्र प्रदान किया है जिसके कारण आदिकालीन और मध्यकालीन हिंदी साहित्य में उनका प्रवेश सहज और सुकर हो सका।

आचार्य द्विवेदी जी के अनुसार एकही मानदंड से सभी साहित्यधाराओं की आलोचना उचित नहीं हैं। मूल्यों के अनुसार मानदंडों में परिवर्तन आवश्यक है। उनका यह कथन इस ओर संकेत करता है ''साहित्य का जिज्ञासू यदि मूल्यों के परिवर्तन का ठीक ठीक ध्यान न रखे तो वह साहित्य के नवीन प्रयोगों को एकदम नहीं समझ सकेगा। रीति मूल्यों को स्वीकार करनेवाला सहृदय नवीन उत्थान की हिंदी कविता को नहीं समझ सकेगा।''

5. परंपरा एवं आधुनिकता का समन्वय :

युगबोध के साथ आचार्य द्विवेदी की समन्वयवादी दृष्टि भी उल्लेखनीय है। एक ओर वे अत्यंत परंपरावादी हैं तो दूसरी ओर आधुनिकता की नई प्रवृत्ति को स्वीकार करते हैं। यह समन्वय दृष्टि उनकी आलोचनात्मक दृष्टि को खुलापन प्रदान करती है। वे आधुनिक साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों की कडी आलोचना करते हैं किंतु इसकी अनेक विशेषताओं की प्रशंसा भी करते हैं। इसी प्रकार प्राचीन साहित्य के काव्य वैभव को वे मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं किंतु उसके सीमाओं को भी स्पष्ट करते हैं।

इसके साथ ही साथ वे साहित्य समीक्षा के समय अपने संस्कारों से ऊपर उठकर समीक्षा साहित्य की देश कालगत विशिष्टताओं को समझने की आवश्यकता पर बल देते हैं।

6. जातीय साहित्य की अवधारणा :

शांतिनिकेतन से संबंध होने के कारण बँगला साहित्य का द्विवेदी जी ने अध्ययन किया। इसके साथ कवींद्र रविंद्र और आचार्य क्षितिमोहन सेन के साहित्य का लाभ भी उन्हें प्राप्त हुआ। जिज्ञासु वृत्ति के कारण उन्होंने अन्य भारतीय भाषाओं की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं का भी गहन अध्ययन किया था। इन सबके परिणामस्वरूप उनमें विचारधारा की उदारता दिखाई पडती है। 'साहित्य सहचर' के 'जातीय साहित्य' निबंध में वे कहते है- ''समूची जाति भी एक व्यक्ति मनुष्य की भाँति है। जिस प्रकार मनुष्य कभी सोता है, कभी जागता है, कभी सोचता विचारता है। कभी आनंद के तराने छेडता है, ठीक उसी प्रकार सारी जाति भी अपने जीवन में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से गुजरती है। इसलिए जब हम किसी साहित्य के इतिहास को पढ़ने बैठते हैं तो वस्तुत: उस जाति की संपूर्ण चिंतन शक्ति अनुभूति परंपरा और संवेदनशीलता का परिचय पाना चाहते है।'' आचार्य द्विवेदी बार-बार भारतीय साहित्य की ही बात करते हैं इसमें उनका उदार और व्यापक दृष्टिकोण स्पष्ट होता है।

7. सांस्कृतिक समीक्षा दृष्टि :

आचार्य द्विवेदी जी को सांस्कृतिक समीक्षक कहा जाता है। उपन्यास, निबंध तथा अपने संपूर्ण लेखन में द्विवेदी जी को संस्कृति की अविच्छिन्न धारा दिखाई देती है। भारत में अनेक संस्कृतियों का आदान-प्रदान हुआ है। संस्कृति के अध्ययन में उनकी रूचि है। उनकी यह रूचि साहित्यिक आलोचना को प्रभावित करती हैं। साहित्य को संस्कृति का अंग मानते हुए साहित्य के माध्यम से किसी जाति के सांस्कृतिक विकास के अध्ययन पर बल देते हैं। इस दृष्टि से वे एक सांस्कृतिक समीक्षक कहे जा सकते हैं।

8. रस की अभिनव दृष्टि :

आचार्य द्विवेदी जी को 'रसवादी समीक्षक' कहा जा सकता है। उसकी रस की विवेचना अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक एवं नवीन है। 'रस' और 'ध्वनि' का सहसंबंध स्पष्ट करते हुए उनकी तर्कसंगत स्थापना यह है कि ब्रह्मानंदसहोदर 'रस' ही है। 'निष्पत्ति' को 'आस्वाद' का पर्यायवाची मानते है तथा रसास्वाद की प्रक्रिया के लिए कालीदास द्वारा संकेतित 'करण विगम' को सार्थक बतलाते हैं। मेघदूत में प्रयुक्त करण विगम का अर्थ इंद्रियों को उल्टी दिशा में मोडना है। कालिदास का साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए वे कहते है- ''सुंदर वस्तु के दर्शन से मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ बाह्य विषयों से हटकर अंतर्मुखी हो जाती हैं। जिस चित्र, मूर्ति या सुंदर पदार्थ में अंतर्विलीन करने की शक्ति जितनी अधिक होगी, वह उतनाही अधिक उत्तम होगा।''

सहृदय का अर्थ 'समाज हृदयवाला' बताते हैं। 'करण विगम' और रसास्वाद की प्रक्रिया शीर्षक निबंध में काव्यरस विषयक अपना दृष्टीकोण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं ''समाधि का अर्थ ही है इंद्रियों का बाहरी विषयों से निवृत्त होकर अंतर्मुखी होना। भारतीय आचार्यों के अनुसार जब तक कलाकार के चित्त में स्वयं रसानुभूति नहीं होती तब तक वह सहृदय को रस बोध नहीं करवा सकता। कलाकार अंतर्मन की रसानुभूति को रूप देता है और सहृदय उस रूप का बाह्य को प्रत्यक्ष करके अंतर्मुखी होता है। इस प्रक्रिया को कालिदास के शब्दों में 'करण विगम' कह सकते हैं।

काव्यरस की यह विवेचना पूरी तरह शास्त्रसम्मत है। फिर भी आचार्य द्विवेदी जी की विवेचना में नवीनता और मौलिकता है।

9. प्रगतिशील दृष्टिकोन :

द्विवेदी जी की अन्य एक विशेषता प्रगतिशील दृष्टिकोन है। कबीर तथा अन्य संतों के साहित्य का मर्म जिस तरह उन्होंने समझाया है, वह आगे चलकर प्रगतिवादी आलोचकों के लिए भी प्रेरणा का स्त्रोत सिद्ध होता है। प्रगतिवाद के विषय में उनकी दृष्टि स्पष्ट झलकती हैं ''साधारणत: यह समझा जाता है कि यह विचार पद्धति (प्रगतिवाद) आर्थिक दृष्टि की उपज हैं। परंतु इसमें केवल आर्थिक दृष्टि की उपज नहीं कही जा सकती। यह मनुष्य जीवन को कल्याण मार्ग की ओर ले जाने के जीवन दर्शन से अनुप्रपित हैं।''

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षा के दोनों ही क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया हैं। उन्होंने मानवतावादी दृष्टि से समस्त साहित्य की परीक्षा की

हैं। मानवतावादी दृष्टि का रस सिद्धांत से समन्वय किया जा सकता है। अपने मानवतावाद को मनुष्य के आर्थिक, सामाजिक, और राजनीतिक शोषण से मुक्ति की भावना के रूप में स्पष्ट किया है।

अत: स्पष्ट है हजारीप्रसाद जी शुक्ल युग के आलोचक है। वे रसवादी आचार्य होकर भी रामचंद्र शुक्ल के कार्यो को आगे बढाया उनकी मान्यता थी साहित्य का मूल्यांकन, परंपरा के संदर्भ में करना चाहिए। 'हिंदी साहित्य का आदिकाल, और कबीर प्रमुख रचनाएँ है। वे सैद्धांतिक समीक्षा के जाल में नहीं फसे। उन्होंने साहित्य के इतिहास के संदर्भ में देखने का प्रयास किया। साहित्य का मर्म, हिंदी साहित्य का इतिहास आदि ग्रंथ एवं अनेक निबंध उल्लेखनीय है।

आलोचना के क्षेत्र में उनका अपना योगदान एवं अनोखा स्थान रहा है।

4.3.4.3 नंददुलारे वाजपेयी

आचार्य वाजपेयी शुक्लोत्तर समीक्षकों में शीर्षस्थ समीक्षक माने जाते हैं। आ. शुक्ल के उत्तराधिकारी वाजपेयी ने उनकी समीक्षा पद्धति का विकास किया। उन्होंने शुक्ल की कमी और दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए अपनी मौलिक मान्यताओं की स्थापना की। यह दृष्टि कहीं पर शुल्क के विरोधी तो कहीं उनके पूरक नजर आती है। आ. वाजपेयी ने 'जयशंकर प्रसाद' (1939 ई.), 'हिंदी साहित्य: बीसवीं शताब्दी' (1939 से 1940 तक के निबंधों का संग्रह), (1942 ई.), 'महाकवि सूरदास' (1953 ई.), 'प्रेमचंद: एक साहित्यिक विवेचन' (1954 ई.), 'नया साहित्य: नये प्रश्न' (1955 ई.), 'आधुनिक साहित्य' (1960 ई.), 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ' (1961 ई.), 'कवि निराला' (1965 ई.) और 'प्रकीर्णिका' (1965 ई.) आदि महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का लेखन किया है।

सैद्धांतिक समीक्षा की दृष्टि से 'हिंदी साहित्य: बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य'और 'नया साहित्य: नये प्रश्न' विशेष महत्त्वपूर्ण है। 'आधुनिक साहित्य' समीक्षा ग्रंथ से आ. वाजपेयी जी का आलोचक व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है। आ. वाजपेयी का 'नया साहित्यः नए प्रश्न' समीक्षा ग्रंथ आत्मनिरीक्षण अंकित है, जो आलोचनात्मक मनोभूमि समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य-सिद्धांतों की चर्चा और साहित्यिक प्रवृत्तियों की गहरी छानबीन परिलक्षित होती है। आ. वाजपेयी 'नया साहित्य: नए प्रश्न' समीक्षा ग्रंथ के 'निकष' भाग में 'समीक्षा' के बारे में लिखते हैं कि 'एक ओर समीक्षा रचना विशेष की अनुचरी मात्र समझी जाती है और दूसरी ओर उसे साहित्य का कठोरता से नियंत्रण करने वाली अभिनेत्री माना जाता है। समीक्षा वस्तुत: इन दोनों से बहुत भिन्न है। वह रचनात्मक साहित्य की प्रिय सखी, सुभैषिणी सेविका और सहृदय स्वामिनी कही जा सकती है।'

आ. वाजपेयी के अनुसार बुद्धितत्त्व के नितांत बहिष्कार, रुग्न और कुंठित मनोवृत्तियों की स्वीकृति और साहित्य के आस्वाद की उदात्तता का अस्वीकार आदि अंधेरी गलियों में ले जाने वाले अशिव तत्त्व है। आ. वाजपेयी ने साहित्य का विवेचन विभिन्न संदर्भों में किया। आ. वाजपेयी के विचारों की केंद्रीय आस्था मानव जीवन की मार्मिक एवं स्वस्थ चेतना रही है। उनकी नई कविता पर लिखी समीक्षाएँ बौद्धिकतावादी चिंतन के नाम पर भावुकतावादी मजाक बनकर रह गई है। नई कविता के संदर्भ में वे जिद्दी किस्म के

आलोचक नजर आते हैं। वे पाश्चात्य और भारतीय साहित्यिक मान्यताओं का संतुलित समन्वय साधते हैं, कल्पना को काव्य का नियामक तत्त्व मानते रहें, साहित्य में सौंदर्य सृष्टि का स्वीकार करते हैं और रस को आनंदात्मक प्रतिक्रिया मानते हैं। इस संदर्भ में 'राष्ट्रीय साहित्य और अन्य निबंध' में वे लिखते हैं–'साहित्य की आत्मा रस, अतंत: क्या है? वह मानव मात्र की वह आनंदात्मक प्रतिक्रिया है, जो श्रेष्ठ साहित्य को पढ़कर उसे उपलब्ध होती है।' आ. वाजपेयी की आलोचना दृष्टि को जानने के लिए– 'हिंदी साहित्य: बीसवीं शताब्दी' समीक्षा ग्रंथ में रेखांकित– कवि की अंतर्वृत्तियों का अध्ययन, कलात्मक सौष्ठव का अध्ययन, शैली का अध्ययन, समय और समाज एवं उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन, कवि की जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन, कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन और काव्य के जीवन संबंधी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन –इन सात सूत्रों को जानना जरूरी है। उन्होंने वैयक्तिक मनोविज्ञान पर आधारित (फ्रायड, एडलर, युंग से प्रभावित), समाजवादी (मार्क्सवादी), समीक्षा, कला–विज्ञानवादी पुरानी परंपरा और उपयोगवादी या नीतिवादी (आई. ए. रिचर्ड्स द्वारा उद्घाटित) इन चार दृष्टियों से समीक्षा की ओर ध्यान आकर्षित किया हुआ दिखाई देता है।

आ. वाजपेयी मूलत: व्यावहारिक समीक्षा के समीक्षक है। प्राचीन शास्त्रीय चर्चा या काव्य विवेचन में उन्होंने अपनी स्वतंत्र दृष्टि का परिचय दिया है। उनकी समीक्षा का मूल दृष्टिकोण ऐतिहासिक–सांस्कृतिक आधारों पर बना हुआ दिखाई देता है। आ. वाजपेयी ने महाकवि सूरदास, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, अज्ञेय और अंचल पर लिखे समीक्षात्माक लेखों में व्यावहारिकता प्रदान की हुई दिखाई देती है। वे अपने ही मापदंडों पर कवियों को परखते रहें, मगर शुक्ल जी की तरह प्रयोगवाद और नई कविता को सहानुभूति नहीं दे सके। वे अपने प्रतिमानों में सिकुड़े हुए नजर आते हैं। नए साहित्य की धज्जियाँ उड़ाते हुए उन्होंने काव्यालोचन में निजी रुचि से कार्य किया। नई कविता व्यक्ति–पीड़ा, व्यक्तिवाद, घुटन में सीमित हो जाना आ. वाजपेयी की चिंता का विषय रहा। नए पाठक और आलोचक उनके नई कविता संबंधी विचारों से सहमत नहीं हो पाए। उनकी छायावादी दृष्टि इस काव्य को सहानुभूति नहीं दे पा सकी। उनके छायावादी काव्य प्रतिमान नई कविता के मूल्यांकन में असमर्थ रहें। यही वजह है कि वे मुक्तिबोध और अज्ञेय जैसे बड़े कवियों को न्याय नहीं दे सके। प्रयोगवाद एवं नई कविता की समीक्षा में मूल्यों का अंधापन नजर आता है; जिससे वे प्रभावमूलक समीक्षा के चक्कर में फँस हुए नजर आते हैं।

छायावादी काल में आ. वाजपेयी जी में समीक्षा की नई दृष्टियाँ सामने आती हैं। उनकी सैद्धांतिक दृष्टि छायावादी काव्य की अनुभूतियों और संवेदनाओं के मर्म और मूल्यों का अंकन करती है। उनमें स्वच्छंदतावाद की कल्पना, रसशास्त्र की भावात्मकता, अभिव्यंजनावाद का सौंदर्य दर्शन, रूसो की प्रगतिशील दृष्टि, मनोविज्ञान की नवीन धमक और समाजशास्त्र आदि की झलक दिखाई देती है। इनमें उन्होंने एक ओर स्वच्छंदतावादी प्रतिमानों को अपनाया तो दूसरी ओर रूढ़िग्रस्त शास्त्रीयता को पीछे छोड़ दिया, जिसमें वे प्रबुद्ध नजर आते हैं। मूल्य और सम्मान का हेरफेर उनकी समीक्षा में नजर आता है। राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिकता के पक्षधर होने के नाते वे भारतीय समीक्षा दृष्टि के आलोचक नजर आते हैं। उनकी समीक्षा पश्चिम से गृहीत दिखाई देती है। पाश्चात्य स्वच्छंदताधर्मी और अभिव्यंजनावादी चिंतनधारा ने

उन्हें काफी प्रभावित किया हुआ दिखाई देता है। इसके दबाव के कारण काव्य – दृष्टि में आत्माभिव्यंजना और व्यक्तिपरकता परिलक्षित होती है। भारतीय आध्यात्मिकता, राष्ट्रीयता और रहस्यवाद पर जोर देने से आ. वाजपेयी की सैद्धांतिक दृष्टि अंतर्विरोध में फँसी हुई नजर आती है। मध्यकाल में सूरदास और जयशंकर प्रसाद का सौंदर्य दर्शन उन्होंने क्रोचे की दृष्टि से देखा। आश्चर्य की बात यह कि प्रसाद के काव्य संवेदन की कालिदासीय लय को वे कभी–भी समझ नहीं पा सके क्योंकि वे पाश्चात्य प्रतिमानों में भटकते रहें। इस दौड़ में वे न 'कामायनी' को ठीक से समझे और न 'यामा' को। वे पश्चिम की गहराई कभी नहीं समझे जब कि उनके चिंतन में सिर्फ पल्लवग्राही बनते रहें। परिवेश और संस्कार से समझौता करने पर वे समन्वयवादी नजर आते हैं। उनका यही समन्वयवाद अवसरवाद को जन्म देता हुआ नजर आता है। उनकी समीक्षा दृष्टि एक ओर मनोविश्लेषकों का चुपके से समझौता करती है तो दूसरी ओर उन्हें लताड़ती हुई दिखाई देती है। ठीक यही स्थिति प्रगतिवादी आलोचना को लेकर है। उन्हें सौष्ठववादी आलोचक कहना बड़ी भूल होगी। उन्होंने पाश्चात्य जगत् की सौंदर्यवादी दृष्टि का स्वीकार किया। वे मार्क्सवादियों और मनोविश्लेषणवादियों से आजीवन जूझते रहें। ये सब वे स्वच्छंदतावादी समीक्षा के सिद्धांतों को बचाए रखने के लिए करते रहें।

रस चिंतन में उन्होंने व्यापकता लाने का प्रयास किया। आ. वाजपेयी रसानुभूति को 'संवेदना' का विकल्प मानते रहें। यह संवेदना सजग कलाकार की मानसिकता का अनिवार्य रूप है और अपनी इसी दृष्टि से वे 'रसानुभूति' को 'सौंदर्यनुभूति' का विकल्प मानते हुए रसास्वादन की नई भूमिका प्रस्तुत करते रहें। वे 'काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौंदर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र में स्वभावत: अनुरुप भावोच्छवास और सौंदर्य–संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौंदर्य संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में रस कहते हैं।' वे रसवादी आलोचक है। वे सृजन प्रक्रिया में साधारणीकरण सिद्धांत को नए संदर्भों में परिभाषित करते हैं। इसमें उन पर एक ओर वे कांट और हीगेल का प्रभाव है तो दूसरी ओर कीट्स और टी. एस. इलियट का। वे पाश्चात्य साहित्य विवेचन के नए अनुसंधान के प्रति विशेष सतर्क हैं। उन्होंने प्रतिभा, व्यत्पत्ति और अभ्यास को काव्य हेतु के रूप में स्वीकार किया और प्रतिभा को काव्य का प्रमुख हेतु माना और व्युत्पत्ति और अभ्यास को उसका संस्कारक हेतु माना। इस संदर्भ में वे लिखते हैं–'जीवन की इस विशालता का निर्माण स्वत: एक महत्मार्ग है। ऊंची साहित्यिक प्रतिभा द्वारा ही यह संभव है।' उनका कहना था कि सृजन शक्ति ही विशाल एवं जीवंत जीवनानुभूतियों को कविता में डालती है। आश्चार्य इस बात का है कि वे प्रतिभा के विकल्प में कल्पना को मानते हैं। काव्य प्रयोजन पर वे लिखते हैं–'साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति है... आत्मानुभूति साहित्य का प्रयोजन है, इसका अर्थ हम यह लेते हैं कि आत्मानुभूति की प्रेरणा से ही साहित्य की सृष्टि होती है।'

'साधारणीकरण'का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि 'साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि कल्पित समस्त व्यापार का होता है। केवल किसी पात्र विशेष का नहीं। इस तथ्य को न समझने के कारण ही

साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे हैं।' उनको सांप्रदायिक कठोरता, साहित्यिक एवं काव्यात्मक मूल्यों की अनभिज्ञता और प्रतिमानों से उत्पन्न अव्यवस्था बेचैन करती रही।

सारांश यह कि आ. वाजपेयी पाश्चात्य और भारतीय सिद्धांतों के सुंदरतम तत्त्वों का समन्वय चाहते थे। वे साहित्यशास्त्र की मान्यताओं को व्यापक अर्थ देना चाहते थे। दरअसल आ. वाजपेयी, आ. शुक्ल की परंपरा का कई अंतर्विरोधों से भरा आलोचक है। वे देश-विदेश से काफी प्रभावित है, जिससे उनकी समीक्षा दृष्टि मौलिक दिखाई नहीं देती। मार्क्सवादी और मनोविश्लेषवादी समीक्षा के दुर्बल और सबल पक्षों का वे जमकर विरोध नहीं करते।

उन्होंने कवि की अंतर्वृत्तियों का सामाजिक एवं मानवीय संवेदना की दृष्टि को ध्यान में रखते हुए विश्लेषण किया। सृजन प्रक्रिया का स्वरूप, सृजन प्रेरणा, सृजनानुभूति का स्वरूप, काव्य अधिकारी, काव्य के उपादान, माध्यम, घटक तत्त्व या काव्य कृति के समग्र सौंदर्य का मूल्यांकन, सृजन-प्रक्रिया और कवि कर्तृत्व, सृजन अवधारणा, सृजन शक्ति आदि सैद्धांतिक समीक्षा के विभिन्न पक्षों पर उन्होंने गंभीर चिंतन जरूर किया है, मगर उसमें पाश्चात्य विचारों की गहरी छाप दिखाई देती है। उन्होंने व्यक्तिवादी कला दर्शन का खंडन-मंडन किया और कलावादी मूल्यों को सामाजिकता के साथ जोड़ दिया।

संक्षेप में आ. वाजपेयी का समाज सापेक्ष रसवाद लोक-संवेदना, लोक अभिरुचि, लोकधर्मी संस्कार का ही संस्कृत रूप है; जिसमें समसामयिकता एवं आधुनिकता, शास्त्रीयता और व्यावहारिकता, स्वच्छंदता एवं परंपरा का समन्वय दिखाई देता है।

4.3.4.4 डॉ नगेंद्र

हिंदी आलोचना का विकास आचार्य रामचंद्र शुक्ल से आरंभ होता है। आ. रामचंद्र शुक्ल के बाद हिंदी आलोचना को नई दृष्टि और नया पथ प्रदान करने की दृष्टि से आ. नंददुलारे वाजपेयी, आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ-साथ डॉ नगेंद्र के महत्व है। डॉ. नगेंद्र ने आलोचना के क्षेत्र में अपनी शुरुवात साहित्य से सबंधित समसामयिक प्रश्नों से की है। उनका प्रथम समीक्षात्मक निबंध छायावाद था, जो सन् 1937 में लिखा गया। उन्होंने कवि सुमित्रानंदन पत पर पहली पुस्तक सन् 1938 में प्रकाशित की। इस समय छायावाद अपने पूर्ण चरम पर था और प्रगतिवाद साहित्य का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा था। डॉ. नगेंद्र ने इस समय में हिंदी आलोचना का आरंभ किया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नदुलारे वाजपेयी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की परंपरा का निर्वहन करते हुए हिंदी आलोचना के विकास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

डॉ नगेंद्र का जन्म अलीगढ़ जिले के अतरौली नामक ग्राम में सन 1915 में एक जमीदार परिवार में हुआ था। उनके पिता पंडित राजेंद्र और माता श्रीमती शिवधारा थी। डॉ. नगेंद्र के पिता विचारों से आर्य समाजी थे और राजनीतिक रूप से वे कांग्रेस विचारधारा से गहरे तक सम्पर्क में थे और उनका संपूर्ण जीवन आर्य समाज और कांग्रेस की गतिविधियों में बीता। निश्चित रूप से उनके विचारों का प्रभाव डॉ. नगेंद्र पर

भी पड़ा। डॉ. नगेंद्र भी कांग्रेसी विचारधारा तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्त्व से अपने जीवन के अंत तक प्रभावित रहे।

डॉ. नगेंद्र की प्राइमरी शिक्षा अतरौली गाँव के स्कूल में ही संपन्न हुई जहाँ से सन् 1928 में उन्होंने - आठवीं कक्षा तक की शिक्षा हासिल की। सन् 1930 में एंग्लो वैदिक हाईस्कूल अनूपशहर से प्रथम श्रेणी में हाई स्कूल पास किया। इंटरमीडिएट की शिक्षा चंदौसी शहर में पूरी की और सेंट जॉन्स कॉलेज आगरा से उन्होंने स्नातक की उपाधि प्राप्त की।

वर्ष 1936 में अंग्रेजी विषय के साथ उन्होंने एम. ए. की उपाधि प्राप्त की। इसके साथ-साथ नागपुर विश्वविद्यालय से सन 1937 में हिंदी विषय से एम. ए. की उपाधि भी हासिल की।

डॉ. नगेंद्र का विवाह सन 1934 में रक्षावती देवी के साथ संपन्न हुआ, जो स्वयं भी उच्च शिक्षित और आर्य समाजी विचारों की महिला थी। इसका परिणाम यह था कि डॉ नगेंद्र के स्वयं के उदारवादी विचारों को पर्याप्त पोषण मिला और इसका प्रभाव उनके भविष्य गत जीवन पर पूर्ण रूप से दिखाई देता है। इसी दौर में उन्होंने 'सुमित्रानंदन पंत' और 'साकेत एक अध्ययन' जैसी महत्वपूर्ण कृतियों की रचना की। उन्होंने अपनी आलोचनात्मक मेघा का संकेत दे दिया। डॉ. नगेंद्र ने रीतिकालीन पृष्ठभूमि में देव का स्थान विषय पर शोध कार्य हेतु नामांकन कराया परंतु सन 1947 में आगरा विश्वविद्यालय ने उनके तब तक के कृतित्त्व को ध्यान में रखते हुए उनकी पीएच.डी. की अर्हता को निरस्त कर उन्हें डी. लिट. की उपाधि प्रदान की। इस दुर्लभ उदाहरण से उनकी विद्वता के प्रभाव को आँका जा सकता है। डॉ. नगेंद्र का यह शोधप्रबंध आज भी अत्यंत महत्त्व रखता है। इस शोध प्रबंध का प्रकाशन रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता के नाम से दो भागों में प्रकाशित है।

यद्यपि डॉ. नगेंद्र अपना लेखन कार्य सन् 1937 के आसपास आरंभ कर चुके थे परंतु उन्हें लेखन के लिए उपयुक्त: वातावरण और समय तब मिला जब ये सन 1952 मे दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के पहले अध्यक्ष के रूप में नियुक्त हुए।

प्रमुख कृतियाँ :

डॉ. नगेंद्र ने समीक्षा के क्षेत्र में लगभग 40 से अधिक पुस्तकों का लेखन किया। लगभग 45 पुस्तकें उनके द्वारा संपादित की गयी। यह सभी पुस्तकें हिंदी साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान करने वाली पुस्तके थी। उनके द्वारा लिखी गई कुछ महत्वपूर्ण कृतियाँ है- सुमित्रानंदन पंत (1938), साकेत एक अध्ययन (1939), आधुनिक हिंदी नाटक (1940), रीतिकाव्य की भूमिका (1949), देव और उनकी कविता (1949) आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ (1955), विचार और विश्लेषण (1955) भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका (1955), भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा भाग 1 (1956), काव्य में उदात्त तत्व (1958), अरस्तु का काव्यशारण (1957), अनुसंधान और आलोचना (1961), कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ (1962). रस सिद्धांत (1964), आलोचक की आस्था (1966), काव्य- बिंब

(1967), आस्था के चरण (1968) नई समीक्षा नए संदर्भ (1970), भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (1973), शैली विज्ञान (1976). शोध और सिद्धांत (1976), भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा भाग 2 (1977), मिथक और साहित्य (1978), साहित्य का समाजशास्त्र (1982), पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र सिद्धांत और परिदृश्य (1984), भारतीय, समीक्षा और आचार्य शुक्ल की काव्य-दृष्टि (1985), साहित्यिक अनुसंधान सिद्धांत और प्रक्रिया (1987)। प्रसाद और कामायनी मूल्यांकन का प्रश्न (1990) आदि। उनकी सभी रचनाएँ हिंदी समीक्षा की अनमोल विरासत है।

संपादित ग्रंथ:

उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य चितन से संबंधित विभिन्न ग्रंथों का संपादन भी किया, जिनमें प्रमुख हैं हिंदी ध्वन्यालोक (1952), हिंदी काव्यालंकारसूत्रवृति (1954), हिंदी वक्रोक्तिजीवितम (1955), हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास (1976), पाश्चात्य काव्यशास्त्र सिद्धात और बाद (1966), पाश्चात्य काव्यशास्त्र मार्क्सवादी परंपरा (1969)। भारतीय साहित्य कोश (1973), भारतीय कृष्णकाव्य और सूरसागर (1979), तुलनात्मक साहित्य (1985) भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास (1989)। नेहरू का साहित्य संसार (1990) विश्व साहित्यशास्त्र (1996) आदि।

उपर्युक्त समीक्षा ग्रंथों के अतिरिक्त डॉ नगेंद्र ने बनमाला (1937) छदमयी (1949) जैसे दो काव्यसंग्रहों की भी रचना की। उन्होंने चेतना के बिम्ब (1967) अधकथा (1988) जैसे संस्मरणात्मक और आत्मकथात्मक ग्रंथों की रचना की तत्रालोक से यनालोक तक (1968)। अप्रवासी की यात्राएँ (1971) उनके द्वारा लिखे गए यात्रावृत्त है।

वस्तुतः डॉ नरेंद्र में अद्भुत सृजनात्मक और समीक्षात्मक प्रतिभा थी, इसीलिए वे सौ से अधिक ग्रंथों की रचना और संपादन कर सके। उनके अध्ययन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक था। उन्होंने जितने अधिकारपूर्ण ढंग से भारतीय साहित्यशास्त्रीय संदर्भों पर अपनी लेखनी चलाई, उतने ही अधिकारपूर्ण ढंग से उन्होंने पाश्चात्य समीक्षा के मानकों पर भी लेखन कार्य किया। उन्होंने प्राचीन और नवीन तथा पूर्व और पश्चिम के समन्वय का अद्भुत प्रयास किया। डॉ. नगेंद्र का निधन सन 1999 में हुआ।

समीक्षा सिद्धांत एवं अवधारणाएँ :

समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की भांति ही डॉ. नगेंद्र का कार्यक्षेत्र भी अत्यंत व्यापक था। समीक्षा के संबंध में उनकी विभिन्न मान्यताएँ उनके विविध निबंधों में स्पष्ट की गई है। इस दृष्टि से उनकी कृतियाँ आलोचक की आस्था, आस्था के धरण, विचार और अनुभूति, विचार और विवेचन, तथा काव्यचिंतन आदि का अत्यंत महत्व है। इसके अतिरिक्त भी उनके सभी समीक्षा ग्रंथों में संदर्भानुकूल उनकी विविध मान्यताएँ विकसित हुई हैं। डॉ नगेंद्र ने अपने समीक्षात्मक लेखन का आरंभ एक स्वच्छंदतावादी समीक्षक के रूप में किया था। उनका पहला समीक्षात्मक निबंध 'छायावाद था और पहली समीक्षात्मक कृति सुमित्रानंदन पंत'। डॉ नगेंद्र से पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य नंददुलारे वाजपेयी दोनों ही स्वच्छंदतावादी काव्य पर अपने विचार व्यक्त

कर चुके थे और इसी के चलते आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की नैतिक काव्य-दृष्टि से अलग हटकर साहित्य की स्वायत्त संस्कृति का पक्षधर बनकर स्वच्छंदतावादी काव्य की सकारात्मक समीक्षा की थी।

डॉ. नगेंद्र ने आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के सौष्ठववाद और आचार्य रामचंद्र शुक्ल के रसवाद से अलग हटकर अपनी मान्यताओं के आधार पर इसकी समीक्षा की। उन्होंने स्वच्छंदतावाद को भारतीय रस दृष्टि के अनुरूप व्याख्यायित करने का कष्ट साध्य कार्य किया। स्वच्छंदतावाद या छायावाद के संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी और शांतिप्रिय द्विवेदी आदि समीक्षकों के विचारों का सम्यक विश्लेषण करने के बाद डॉ. नगेंद्र छायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, ''स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है। स्थूल शब्द बड़ा व्यापक है। इसकी परिधि में सब प्रकार के वाहा रूप-रंग आदि सन्निहित है और इसके प्रति विद्रोह का अर्थ है उपयोगिता के प्रति भावुकता का विद्रोह, नैतिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातंत्र्य का विद्रोह और काव्य के बंधनों के प्रति स्वच्छंद कल्पना और टेक्निक का विद्रोह'' छायावाद के लिए निश्चित की गई डॉ नगेंद्र की यह उक्ति स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह आज भी छायावाद को परिभाषित करने का एक मानक बनी हुई है। आगे अपनी बात को और विस्तार देते हुए। ये कहते हैं। ''आधुनिक छायावाद भी एक विशेष प्रकार की जागृति का साहित्यिक रूप है, जिसकी नीव सौंदर्य और अदभुत के मिश्रण पर स्थित है।'' अपनी इन स्थापनाओं के द्वारा डॉ. नगेंद्र ने अन्य समीक्षकों से अंतर नीव सौंदर्य और अदभुत मिश्रण स्थापित कर दि दिया। उन्होंने सौंदर्यानुभूति की पाश्चात्य अवधारणा के साथ रसानुभूति की भारतीय अवधारणा में तालमेल स्थापित कर दिया और इसी जगह पर उनकी रस अवधारणा आचार्य रामचंद्र शुक्ल से अलग हो गयी डॉ. नगेंद्र ने सौंदर्य को रस के साथ सम्मिलित कर उसकी भाववादी व्याख्या की और इस रूप में उन्होंने रहस्यानुभूति को भी रस सिद्धांत के दायरे में समाविष्ट कर लिया। दूसरी तरफ आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी को सौंदर्य की पाश्चात्य अवधारणा उतनी सरोकार नहीं थी और रहस्यानुभूति के स्तर पर भी वे गुरेज करते रहे।

भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों में डॉ. नगेंद्र रस सिद्धांत को सर्वाधिक मान्यता प्रदान करते हैं और उसे सर्वाधिक व्यापक भी मानते हैं। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का विशद अध्ययन किया और अपनी मान्यताओं को रस सिद्धांत पुस्तक में अभिव्यक्त भी किया। उनके अनुसार इस प्रकार रस एक व्यापक शब्द है. वह विभावानुभाव व्यभिचारि संयुक्त स्थायी अर्थात परिपाक अवस्था काही वाचक नहीं है वरन उसमें काव्य की संपूर्ण भाव संपदा का अन्तर्भाव है। अपारिभाषिक रूप में वह काव्यगत भाव सौंदर्य का पर्याय है, शब्दार्थगत चमत्कार के माध्यम से भाव के आस्वाद का अथवा भाव की भूमिका पर शब्दार्थ के सौंदर्य का आस्वाद ही वस्तुतः रस है। काव्य के अनुचिंतन से प्राप्त रागात्मक अनुभूति के सभी रूप और प्रबल, सरस और जटिल, क्षणिक और स्थायी, सवेदन, स्पर्श, चित-विकार, भाव-बिंब, संस्कार, मनोदशा, शील सभी रस की परिधि में आ जाते हैं।'' रस को इतनी व्यापकता देने का कारण भी था और वह कारण यह था कि रस सिद्धांत को इतनी शक्ति प्राप्त हो जाए कि वह सभी काव्य कृतियों के मूल्यांकन की क्षमता से

युक्त हो जाए। रस को मनोवैज्ञानिक आधार देते हुए डॉ. नगेंद्र रस की वास्तविक स्थिति मनो जगत में ही स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि, ''रस अपने व्यापक अर्थ में मानसिक अनुभूति ही है।''

डॉ. नगेंद्र ने प्राचीन से लेकर आधुनिक काल तक की कविता के मूल्यांकन का आधार रस सिद्धांत को प्रदान कर दिया। उन्होंने अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य जैसे भारतीय काव्य संप्रदायों के साथ-साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अभिजात्यवाद, स्वच्छंदतावाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद आदि को भी रस सिद्धांत के भीतर समाविष्ट माना है। वास्तव में उनके अनुसार, रस सिद्धांत एक. ऐसा व्यापक सिद्धांत है, जिसमें इन सभी सप्रदायों और वादों का विरोध मिट जाता है जो सभी के अनुकूल पड़ता है और सभी को अपने स्वरूप में समन्वय कर लेता है। आधुनिक काल में अस्तित्व में आए तमाम समीक्षा सिद्धांतों, जैसे नई समीक्षा, सौंदर्यशास्त्रीय समीक्षा, मिथकीय समीक्षा, समाजशास्त्रीय समीक्षा आदि सभी से वे भलीभांति परिचित थे परंतु उन्हें इन सभी समीक्षा सिद्धांतो के एकागी होने का विश्वास था। अपने अध्ययन से उन्होंने यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि यह सभी ''समीक्षा सिद्धात सीमाओ से बचे हुए हैं और इनमें रस सिद्धात जितनी व्यापकता एवं सामर्थ्य नहीं है।''

डॉ. नगेंद्र की दृष्टि में रस सिद्धात ही एकमात्र ऐसा निर्विवाद सिद्धांत है जो देश-काल से परे है अर्थात् वह किसी भी युग (की कविता या किसी भी स्थान की कविता की समीक्षा के लिए उपयुक्त है। अपनी इन धारणाओं के माध्यम से डॉ. नगेंद्र ने समीक्षा के क्षेत्र में दोहरे उद्देश्यों की सिद्धि की। पहला, तो उन्होंने रहस्यवाद को भी रस के दायरे में समेट लिया और इस तरह स्वच्छंदतावाद की समीक्षा का सकारात्मक मार्ग खोज लिया और दूसरी तरफ इन अवधारणाओं के कारण उन्होंने नए- पुराने हर तरह के काव्य की आलोचना करने में भी सिद्धि हासिल की। डॉ. नगेंद्र के आलोचना कर्म को देखने पर एक बात स्पष्ट हो जाती है कि उनकी रुचि व्यवहारिक समीक्षा की अपेक्षा सिद्धात विवेचन में अधिक रही है। यद्यपि उन्होंने व्यवहारिक समीक्षा पर आधारित कुछ पुस्तकों की रचना भी की थी जिनमें सुमित्रानंदन पंत, साकेत एक अध्ययन और कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ प्रमुख है। जिनमें उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही कला प्रतिमानों का संतुलित प्रयोग किया है। उनकी इन व्यवहारिक आलोचना संबधी कृतियों में भी सैद्धांतिकता के प्रति अधिक झुकाव देखने को मिलता है। उनका आलोचकव्यक्तित्व विभिन्न आलोचना पद्धतियों के विश्लेषण में अधिक लगा रहा है।

डॉ. नगेंद्र की समीक्षा दृष्टि का एक बड़ा हिस्सा काव्य पर आधारित है, गद्य प्रायः उनकी दृष्टि में नहीं था काव्य और उसके अन्य उपादान के संबंध में उनकी कृतियों में व्यापक विचार-विमर्श मिलता है। प्रायः सभी समीक्षकों ने कविता के स्वरूप को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। डॉ नगेंद्र के अनुसार कविता को व्यापक अर्थ में रस के साहित्य अथवा ललित वांङ्मय को मैं मूलतः आत्माभिव्यक्ति ही मानता हूँ।'' आत्माभिव्यक्ति का यह सिद्धात उनके काव्य संबंधी समस्त विचारों का आधार है। कृति आस्था के चरण में उन्होंने आत्माभिव्यक्ति की इस अवधारणा का सविस्तार वर्णन किया है। भक्तकवि तुलसीदास के उदाहरण से इस बात को समझाते हुए वे लिखते हैं, ''विनयपत्रिका और रामचरितमानस दोनो ही तुलसी की आत्माभिव्यक्ति के दो रूप हैं इन दोनों में मूल प्रेरणा का भेद न होकर माध्यम प्रतीकों और बिम्बों का ही भेद

है। दोनों के माध्यम से ही तुलसी ने आत्माभिव्यक्ति की है, केवल उसके प्रकार में भेद है: एक में आत्माभिव्यक्ति प्रत्यक्ष है अर्थात् लघु-सरल प्रतीकों के द्वारा हुई है और दूसरे में व्यापक एवं संश्लिष्ट प्रतीकों के द्वारा। डॉ. नगेंद्र की इस अवधारणा पर पाश्चात्य काव्य-चिंतक इलियट का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कविता को रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति मानने के बावजूद डॉ नगेंद्र यह मानते थे कि कवि के व्यक्तिगत भाव कला सृजन की प्रक्रिया में स्व और पर की सीमाओं से मुक्त होकर व्यापक चेतना का विषय बन जाते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, ''अभिव्यक्ति अर्थात् कला सृजन की प्रक्रिया में पड़कर व्यक्तिगत भाव भी स्व पर की सीमाओं से मुक्त होकर व्यापक चेतना शास्त्रीय शब्दावली में, निर्विघ्न प्रतीति का विषय बन जाता है। अतः कविता भाव का वमन नहीं है, यह तो मैं भी मानता हूँ, किंतु यह मान्यता आत्माभिव्यक्ति के सिद्धांत के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि अभिव्यक्ति वमन नहीं है।''

आत्माभिव्यक्ति सिद्धांत की व्याख्या के क्रम में वे काव्य के प्रयोजन के संदर्भ में भी विचार करते हैं।

डॉ. नगेंद्र ने आत्माभिव्यक्ति को आत्मनः कामाय से जोड़कर उससे प्राप्त होने वाले आनंद को काव्याभिव्यक्ति का अंतिम प्रयोजन घोषित किया है। इस संदर्भ में वे कहते हैं. सवाल यह है कि काव्य का प्रयोजन क्या है? मेरा उत्तर है- आनंद मनुष्य अपने सभी कर्म मआत्मनः कामाय ही करता है। इसके प्रतिपक्ष में विचारकों के दूसरे वर्ग ने 'लोक हिताय' की प्रतिष्ठा की है। किंतु यह केवल दृष्टि का ही भेद है, आत्मवादी जहाँ प्रकृति को अपनी चेतना के भीतर खींचकर उसका भोग करता है, वहाँ लोकवादी आत्मा का प्रकृति में विस्तार करता है, पर यह दोनों ही अपने-अपने ढंग से आनंद-साधना ही करते हैं। इस तरह आनंद को वे प्रयोजन घोषित करते हैं। कर्ता के संबंध में आनंद जहाँ सृजन से जुड़ा हुआ है, वहीं सहृदय के संबंध में यह आनंद आस्वाद से संबंधित है। और यह आस्वाद कल्पनागम्य, शुद्ध अथवा निर्वैयक्तिक भाव का होता है। आस्वाद के इसी रूप को वे रस की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार ''आस्वाद के इसी रूप को शास्त्र में रस कहा गया है। इस प्रकार काव्य के संदर्भ मे आनंद का विशिष्ट अर्थ है रस, और यही काव्य का प्रयोजन है।''

डॉ. नगेंद्र के अनुसार काव्य के अस्वायत्व से ही काव्य मूल्य का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। इस सबंध में वे मानते थे कि जिस काव्य में संगात्मक आस्वाद प्रदान करने की क्षमता जितनी अधिक होगी. उत्तना ही उसका मूल्य होगा। उनके द्वारा इस धारणा को मान लेने पर शास्त्र विरोध का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। अर्थात काव्य मूल्य मानने पर काव्य का उत्कृष्ट या निकृष्ट निर्धारण होना संभव हो जाता है। जबकि रस सिद्धांत की शास्त्रीय व्याख्या में रस कोटियों कि कोई भी चर्चा नहीं की गई है। इसका निराकरण करते हुए वे मानते हैं कि यद्यपि सिद्धि की अवस्था में रस का स्वरूप अखंड है परंतु संकलित प्रभाव की अवस्था में रागात्मक स्थितियों के संख्या भेद से मात्रा का भेद हो जाता है और इस मात्रा भेद का निर्धारण भी आस्वाद दशा के स्थायित्व के आधार पर उन्होंने किया।

उनके अनुसार रस में मात्रा भेद की प्रतीति की यही उचित व्याख्या है। उन्होंने इस भेद को स्वरुपगत या गुणात्मक नहीं माना है बल्कि कालिक और नैतिक माना है। इस तरह डॉ. नगेंद्र ने अपनी नवीन उद्भावनाओं

के द्वारा रस सिद्धांत को और समृद्धि प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। रस सिद्धांत को नवीन उद्भावनाएँ प्रदान करने में निश्चित रूप से डॉ. नगेंद्र, आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुगामी थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी रस सिद्धांत की शास्त्रीय मान्यताओं को आधुनिक समीक्षा के सिद्धांतों और आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धांतों के अनुरूप नए ढंग से व्याख्यायित करने का काम किया था। डॉ. नगेंद्र ने इसी का अनुसरण करते हुए रस सिद्धांत को और अधिक व्यापकता देने का काम किया। डॉ. नगेंद्र यह मानते थे कि मूलतत्वों की दृष्टि से जीवन के मूल्य अक्षुण्ण है, बस देश काल के अनुरूप उनमें संशोधन और विकास होता रहता है। डॉ. नगेंद्र ने काव्यास्वाद और काव्याभिव्यक्ति के स्वरूप और प्रश्न पर भी विचार किया है। वे काव्यास्वाद या अनुभूति और काव्याभिव्यक्ति या अभिव्यंजना के बीच अभिन्न संबंध मानते हैं परंतु अभिव्यंजना को वे भाव -निर्भर ही मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार वाणी का असली चमत्कार तो भाव प्रेरित ही हो सकता है। इस प्रकार अनुभूति और अभिव्यक्ति को तात्त्विक दृष्टि से अभिन्न मानने के बावजूद व्यवहारिक समीक्षा की दृष्टि से वे दोनों की प्रथकता को स्वीकार करते हैं। इन दोनों में ही वे अनुभूति को निश्चित रूप से अधिक महत्व देते हैं क्योंकि अनुभूति ही कविता का प्राणतत्त्व है और अनुभूति ही अभिव्यक्ति के सौंदर्य का आधार है।

अभिव्यक्ति या काव्याभिव्यंजना के उन्होंने दो मूल तत्व माने है बिम्ब और छंद, और इन तत्वों की सार्थकता अमूर्त अनुभूति को मूर्त बनाने में है। उनके अनुसार जो मन या ह्रदय का विषय है, उसे इंद्रियों का विषय बनाना ही अमूर्त को मूर्त करना है। डॉ. नगेंद्र साहित्य के विभिन्न रूप भेदो में तात्विक दृष्टि से कोई अंतर नहीं मानते। अर्थात प्रबंध, प्रगीत, नाटक, उपन्यास आदि में कोई मौलिक भेद नहीं है और इनके रूप-भेद से साहित्य के आस्वाद में कोई मौलिक अंतर नहीं आता। उनके अनुसार नाटकों में आख्यान तत्व और आख्यानों में नाटकीय तत्व घुले-मिले रहते हैं या परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। वास्तव में काव्य-रुप या विभिन्न विधाएँ अनुभूति के आस्वाद के विभिन्न माध्यम ही है और इन माध्यमों से जो आस्वाद प्राप्त होता है उसकी अंतिम परिणति मचित की समाहिति में होती है।

डॉ. नगेंद्र के आलोचना सिद्धांतों के विकास में उनकी विशिष्ट इतिहास चेतना का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भारतीय भाषाओं के संदर्भ में तो इस प्रकार का अध्ययन उन्होंने किया ही बल्कि विश्व के संदर्भ में भी उन्होंने अपनी इसी धारणा के अनुरूप अध्ययन किए और विश्व साहित्यशास्त्र नाम के ग्रंथ का संपादन भी किया। उनका मानना था कि हर देश की अपनी विशिष्ट भाषा, संस्कृति और समाज के अनुरूप अपना-अपना विशिष्ट साहित्य होता है और इस साहित्य के अनुरूप अपना विशिष्ट साहित्यशास्त्र भी होता है। परंतु भाषाई एवं परिवेशगत तथा अन्य अंतर होने के बावजूद प्रत्येक भाषा के साहित्य और शास्त्र में कुछ तत्व ऐसे निश्चित रूप से मिल जाएँगे, जो सार्वभौमिक और शाबत होते हैं और डॉ. नगेंद्र की यह स्पष्ट धारणा थी कि इन तत्वों के आधार पर विश्व साहित्यशास्त्र की कल्पना को साकार किया जा सकता है। डॉ. नगेंद्र की यह इतिहास दृष्टि उनके विभिन्न आलोचकीय निष्कर्षो में स्पष्ट रूप से लक्षित भी की जा सकती है।

निष्कर्ष:

डॉ. नगेंद्र के विश्लेषण की एक विशेष शैली थी। वे अपने अध्ययनों के आधार पर पहले अपना एक मत सुनिश्चित कर लेते थे। इसके बाद वे उस मत के पक्ष में विभिन्न तथ्यों और तर्कों के आधार पर उसकी पुष्टि सुनिश्चित करते थे और अंत में तमाम प्रतिरोधी मतों का उल्लेख और खंडन करते हुए निर्णयात्मक शैली में अपना मत प्रतिपादित करते थे। डॉ. नगेंद्र की आलोचना का क्षेत्र अत्यंत व्यापक था, जिसमें प्राचीन से लेकर आधुनिक तक सभी कुछ समाविष्ट था। काव्यशास्त्रीय चिंतन के संदर्भ में उन्होंने न केवल प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रीय सिद्धातों का मूल्याकन किया बल्कि उसके साथ-साथ पाश्चात्य अवधारणाओं का भी सम्यक मूल्यांकन किया और इस रूप में उन्हें जो कुछ भी उपयुक्त लगा, उसे उन्होंने स्वीकार किया। आधुनिक समीक्षा सिद्धातों का भी उन्होंने अपनी दृष्टि से मूल्यांकन किया साहित्य के इतिहास की विभिन्न अवधारणाओं पर उनका मौलिक चिंतन अत्यंत महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान है। उनके व्यवहारिक समीक्षा से संबंधित ग्रंथ उनकी सैद्धांतिक मान्यताओं। की पुष्टि करते हैं। हिंदी समीक्षा को दिया गया उनका योगदान चिरस्मरणीय है।

4.3.4.5 रामविलास शर्मा

डॉ. रामविलास शर्मा एक प्रगतिवादी आलोचक हैं। प्रगतिवादी समीक्षा को आगे बढाने में शर्मा जी का योगदान अतुलनीय हैं। शर्मा जी स्पष्टवादी, सूक्ष्म दृष्टि, गहरी पेठ, एवं निर्भिक व्यक्तित्त्व के समीक्षक हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि 'प्रगतिवाद अतीत की उपेक्षा करता है,' परंतु शर्मा जी ने उसको स्पष्ट उत्तर दिया है। शर्मा जी का कहना है कि 'प्रगतिवाद न तो अतीत की उपेक्षा करता है और न ही उसके प्रति उँचा मोह ही रखता है। प्रगतिवाद के लिए अतीत उतने ही अंशों में स्वीकार्य है, जहाँ तक वर्तमान के जीवन संघर्ष की प्रेरणा मिल सके।'

डॉ. रामविलास शर्मा मार्क्सवादी या प्रगतिवादी समीक्षा के प्रमुख उन्नायक माने जाते हैं। मार्क्सवाद उनकी दृष्टि को कही प्रतिबंधित नहीं करता। समुचित अध्ययन, विश्लेषण एवं, विवेचन के उपरांत ही वे अपना मंतव्य प्रकट करते हैं। एक सहृदय मार्क्सवादी समीक्षक के रूप में डॉ. शर्मा नें हिंदी आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया हैं। उनके आलोचक व्यक्तित्त्व का परिचय उनके निम्नलिखित समीक्षा ग्रंथों से प्राप्त किया जा सकता हैं।

प्रमुख कृतियाँ :-

'प्रेमचंद' (1941 ई.), 'भारतेंदु युग' (1943 ई.), 'निराला' (1946 ई.), 'प्रगति और परंपरा' (1949 ई.), 'साहित्य और संस्कृति' (1949 ई.), 'प्रेमचंद और उनका युग' (1952 ई.), 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' (1953 ई.), 'भाषा साहित्य और संस्कृति' (1954 ई.), 'प्रगतिशील साहित्य की समीक्षा' (1954 ई.), 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' (1955 ई.), 'लोकजीवन और साहित्य' (1955 ई.), 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' (1956 ई.), 'आस्था और सौंदर्य' (1961 ई.), 'भाषा और समाज' (1968 ई.), 'निराला की साहित्य साधना' (तीन खंड-1969, 72, 76 ई.), भारतेंदु युग और

हिंदी साहित्य की विकास परंपरा' (1975 ई.), 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' (1977 ई.), 'नयी कविता और अस्तित्त्ववाद' (1978 ई.), 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी' (1989, 80, 81 ई. में तीन खंड), 'परंपरा का मूल्यांकन' (1981 ई.), 'भाषा, युगबोध और कविता' (1981 ई.), 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' (दो खंड–1988 ई.), 'कथा विवेचना और गद्य शिल्प' (1972 ई.), 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' (1984 ई.), 'लोक जागरण और हिंदी साहित्य संपादन' (1985 ई.), 'हिंदी जाति का साहित्य' (1985 ई.), 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ' (1986 ई.), 'मार्क्स और पिछडे हुए समाज' (1986 ई.)

पाँच दशकों से भी अधिक लंबी अवधि में मार्क्सवादी विचारधारा भाषा विज्ञान और समकालीन दार्शनिक विचारधाराओं का गंभीर चिंतन मनन करते हुए डॉ. शर्मा का आलोचक व्यक्तित्त्व, क्रमश: ऊँचाई की ओर अग्रेसर हुआ हैं। प्रथम 'तारसप्तक' में एक महत्त्वपूर्ण रचनाकार के रूप में काव्य सृजन से प्रारंभ करते हुए उन्होंने काव्य समीक्षा के क्षेत्र में पदार्पण किया और स्वयं को सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा की समृद्धि के लिए समर्पित किया। उनके आलोचक व्यक्तित्त्व की निम्नलिखित विशेषताओं को रेखांकित किया जा सकता है।

1. अध्ययनशीलता :

डॉ. रामविलास शर्मा की सबसे बडी विशेषत: उनकी अध्ययनशीलता है। उन्होंने भारतीय साहित्य के साथ पाश्चात्य साहित्य का भी गहन अध्ययन किया है। विस्तृत अध्ययन के लिए जिन लेखकों, कवियों और समीक्षकों को शर्मा जी ने चुना है, वे हैं भारतेंदु हरिश्चंद्र, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'प्रेमचंद और आचार्य रामचंद्र शुक्ल'। उनकी आलोचना को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने एक सहृदय पाठक की तरह पूरा साहित्य आद्यंत पढने के बाद लिखना प्रारंभ किया है। इन लेखकों की कृतियों की समीक्षा उन्होंने तत्त्कालीन घटनाओं एवं परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही की है। इनकी आलोचना में जागृति है, सूक्ष्म दृष्टि, गहरी पेठे और स्पष्टवादिता सर्वत्र है।

2. ऐतिहासिक दृष्टिकोण :

अध्ययनशीलता के साथ ही ऐतिहासिक दृष्टिकोण उनकी प्रमुख विशिष्टता है। वे मानते हैं कि, समाज के ऱ्हास और विकास का प्रतिबिंब साहित्य में अवश्य दिखाई पडता है किंतु इसके साथ ही प्रत्येक युग के साहित्य में प्रगति और विकास की ओर उन्मुख प्रवृत्तियों की खोज भी की जा सकती है। कोई साहित्य युग जीवन की प्रगति और उन्मुख करने में किस सीमा तक सफल है, इस आधार पर ही उसकी श्रेष्ठता का निर्धारण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए भक्तिकाल का साहित्य निर्गुण अथवा सगुण भक्ति और ईश्वर चिंतन के कारण उल्लेखनीय नहीं हैं। उसका महत्त्व इस कारण है कि उसमें अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लोकजागरण है।

यह ऐतिहासिक दृष्टि आलोचना पद्धति को उदार और व्यापक बनाती है। इसी कारण शर्मा जी छायावाद, तुलसीदास और संत साहित्य आदि की समीक्षा प्रस्तुत करने में इसी विशेषता के कारण सफल रहे

हैं। 'निराला की भूमिका' में उनका यह कथन उनकी ऐतिहासिक दृष्टि के महत्त्व को संकेतित करता है ''आज यह अत्यंत आवश्यक है कि हम छायावादी कवियों के इस पक्ष की ऐतिहासिक दृष्टि से छानबीन करें। इस तरह की समीक्षा बिना हम अपनी परंपरा की काडियाँ न जोड सकेंगे और न हमारे नए साहित्य का आंदोलन सही प्रगति कर सकेगा।''

3. प्रासंगिकता :

डॉ. शर्मा की एक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता साहित्य की प्रासंगिकता के निरूपण से संबंधित है। जो भी साहित्य समकालीन जीवन की दृष्टि से प्रासंगिक है, उसके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। 'भारतेंदु युग' की भूमिका में उनका कथन उल्लेखनीय है ''यह स्वाभाविक है कि किसी बीतें हुए युग के बारे में लिखते हुए हमारा ध्यान अपने युग और उसकी समस्याओं की ओर भी जाए। यदि मुझे भारतेंदु युग से आज के युग का एक घनिष्ट संबंध न दिखलायी पडता तो मैं यह पुस्तक अभी न लिखता। यह सोचकर कि आज की समस्याओं को सुलझाने में हमें उस युग से कुछ प्रेरणा मिल सकती है, मैंने इसे लिखना आरंभ किया था।''

भारतेंदु युग के लेखकों का महत्त्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने अपनी आँखों में 'ब्रजभाषा प्रेम' की पट्टी न बाँधकर गद्य की भाषा में भी प्रयोग किए जिससे नई पीढी का मार्ग प्रशस्त हुआ। उस युग के दायरे में यह उन लेखकों की प्रगतिशीलता थी जो शर्मा जी के अनुसार उनके साहित्य को महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक बनाती हैं।

4. परंपरा से उदात्त तत्त्वों का स्वीकार :

डॉ. शर्मा प्रगतिवादी आलोचक होते हुए भी परंपरा विरोधी नहीं है। वे परंपरा का सम्मान करते हैं तथा परंपरा से ग्राहय तत्त्वों को आत्मसात करने में बल देते हैं। 'संस्कृति और साहित्य' में उनका कथन दृष्टव्य हैं ''यह अत्यंत आवश्यक है कि हम अपने साहित्य की पुरानी परंपराओं से परिचित हो। परिचित होने के साथ-साथ उनके श्रेष्ठ तत्त्वों को ग्रहण भी करना चाहिए।''

5. प्रगतिशीलता एवं स्पष्टवादिता :

डॉ. रामविलास शर्मा ने 'प्रगतिवाद' के स्थान पर प्रगतिशील साहित्य की विशेषताएँ बताई हैं। प्रगतिशील साहित्यकार मार्क्स के विचारधारा का अनुसरण करता हैं। डॉ. शर्मा असंदिग्ध रूप से मार्क्सवादी है। सर्वहारा के हितों के संरक्षण, पूँजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन तथा समतामूलक समाज की स्थापना का ध्यान में रखते हुए उपयोगिता की कसौटी पर साहित्य के मूल्यांकन के पक्षधर हैं। उन्होंने इसी दृष्टि को केंद्र में रखकर समीक्षा का विकास किया है। 'निराला की साहित्य साधना' यह प्रगतिशील दृष्टि का गौरवशाली ग्रंथ है।

आलोचक के रूपमें डॉ. शर्मा की एक अन्य विशेषता उनकी स्पष्टवादिता एवं निर्भिकता है। वे चिंतन और विश्लेषण द्वारा प्राप्त निष्कर्षों को बिना लाग लपेट के निर्भिकता से प्रस्तुत करते है।

तुलनात्मक, विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक समीक्षा पद्धति –

डॉ. शर्मा की आलोचनात्मक कृतियों का अध्ययन करने से पता चलता है कि उन्होंने किसी कृति, कृतिकार या किसी साहित्य की समीक्षा करते समय तुलनात्मक, विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धतियों का आश्रय ग्रहण किया हैं। जहाँ आवश्यक है वे इन पद्धतियों का उपयोग करते हैं तथा अपने निष्कर्षों को वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं।

साहित्य विषयक मान्यताएँ –

डॉ. रामविलास शर्मा की समीक्षात्मक कृतियों में साहित्य समीक्षा के मानदंडों के विषय में महत्त्वपूर्ण विचार मिलते हैं। साथ ही ये मानदंड एक नई वस्तुनिष्ठ समीक्षा के विकास में भी उल्लेखनीय योगदान देते हैं।

काव्य समीक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार उसकी विषयवस्तु है। भाषा की अपेक्षा विषयवस्तु का अधिक महत्त्व है। काव्य के विषयवस्तु का मूल्यांकन ऐंद्रियबोध पर आधारित भाव वैभव के आधार पर किया जा सकता है। युग परिवर्तन के बीच ऐंद्रियबोध ही सबसे अधिक स्थायी है। इस पर आधारित भावबोध का स्थायित्त्व भी असंदिग्ध है। काव्य का कला पक्ष भी महत्त्वपूर्ण है किंतु उसकी तुलना में विषय वस्तुवाला पक्ष अवश्य ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। भाषा विज्ञान पर आधारित रूपात्मक समीक्षा की उपयोगिता संदिग्ध है क्योंकि इसमें विषयवस्तु के अध्ययन को अपेक्षित महत्त्व नहीं दिया जाता।

इस प्रकार प्रत्यक्षत: मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होते हुए भी डॉ. रामविलास शर्मा का साहित्य चिंतन पर्याप्त वस्तुनिष्ठ मूल्यपरक एवं उदार है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद उस कलेवर के साहित्यचिंतक का व्यक्तित्व उनमें ही देखा जा सकता है। सही अर्थों में हिंदी समीक्षा में मार्क्सवाद की प्रगतिशील चिंतनधारा के एक मात्र आचार्य हैं। हिंदी आलोचना के वर्तमान स्वरूप के विकास में उनका उल्लेखनीय योगदान हैं।

4.3.4.6 डॉ. नामवर सिंह

नामवर सिंह आलोचना के प्रतिष्ठापक और प्रगतिशील आलोचना के प्रमुख हस्ताक्षर थे। वे 'वाचिक ही मौलिक है' में अपार विश्वास करते रहें। उन्होंने अपनी आलोचक समाजवादी जीवन दृष्टि से नई कविता को सकारात्मक दिशादर्शन किया और अपनी नव्य दृष्टि से आलोचना क्षेत्र को नया प्रकाश दिया। उन्होंने अपने युगबोध की विस्तृत विचारधारा प्रतिनिधित्त्व किया। क्रांतिकारी, मार्क्सवादी दर्शन के व्यक्तित्त्व से परिपूर्ण आलोचक नामवर सिंह ने आलोचना विधा को नवीन प्रतिमानों का आलोक प्रदान किया तथा उसे सृजनात्मक और रचनात्मक पृष्ठभूमि प्रदान की। उन्होंने 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' (1952) और 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' (1959) आदि शोध ग्रंथ लिखे। उन्होंने 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' (1954), 'छायावाद' (1955), 'इतिहास और आलोचना' (1957), 'कहानी: नयी कहानी' (1964), 'कविता के नये प्रतिमान' (1968), 'दूसरी परंपरा की खोज' (1982) और 'वाद-विवाद संवाद' (1989)

आपकी प्रमुख आलोचनात्मक रचनाएँ हैं। उन्होंने साक्षात्कार–'कहना ना होगा' (1994), 'बात बात में बात' (2006); पत्र संग्रह–'काशी के नाम' (2006); व्याख्यान–'आलाचेक के मुख से' (2005) आदि किताबों का लेखन किया है और हिंदी की दो पत्रिकाओं 'जनयुग' (साप्ताहिक) और 'आलोचना' (त्रैमासिक) का संपादन किया है।

नामवर सिंह ने अपनी आलोचना कृति में सबसे पहले छायावाद की समीक्षा की। तत्कालीन समय में छायावादी कविता पर पलायनवादी और व्यक्तिपरक होने के आरोप हो रहे थे, मगर नामवर सिंह ने छायावादी कवियों को व्यक्तिवाद से बाहर निकालकर सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ जोड़ दिया। यह उनके मार्क्सवादी आलोचना का कलात्मक रूप माना जा सकता है। इसमें उनकी शैली में ताजगी और सर्जनात्मक प्रतिभा का परिचय मिलता है। इसलिए तो दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में आयोजित 'नामवर संग बैठकी' कार्यक्रम में लेखक विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा कि 'अज्ञेय के बाद हिंदी का सबसे बड़ा 'स्टेट्समैन' कहा था।'

नामवर सिंह ने 'कविता के नये प्रतिमान' आलोचना ग्रंथ में नई कविता और काव्य मूल्यों को प्रश्नों के कटघरे में खड़ा किया। इसी कारण उन पर रूपवाद को उभारने के आरोप लगते रहें। 'कविता के नये प्रतिमान' में उन्होंने एक ओर कविता के नवीन प्रतिमानों का प्रयोग किया तो दूसरी ओर इसके केंद्र में मुक्तिबोध की रचनाओं को पेश किया और मुक्तिबोध को एक मॉडल के रूप में प्रयोग किया। 'कविता के नये प्रतिमान' की भूमिका में आलोचक के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं–'मूल्यवान है एक भी ऐसे आलोचक का होना जो किसी भी चीज को तब तक अच्छा न कहे, जब तक उस निर्णय के लिए अपना सब कुछ दाँव पर लगाने के लिए तैयार न हो।' उनका मानना था कि एक आलोचक को सत्यनिष्ठ होना चाहिए और निष्पक्ष एवं मुक्त भाव से मूल्य सापेक्ष वर्णन करना चाहिए। नामवर सिंह रेमंड विलियम्स के माध्यम से कहते हैं–'आलोचक का धर्म है उस विकल्प के अवकाश को जहाँ वह है, रेखांकित करें, जैसे भूगोल का आदमी किसी प्राचीन जमीन पर उस जगह को बताता है कि वह यहाँ है। सत्ता की सर्वग्राही संस्कृति के बरक्स आलोचक उस विकल्प के अवकाश की तलाश करता है। विकल्प का आवकाश उस स्वतंत्र लोक की खोज है जहाँ खड़े होकर उसे स्वयं आलोचना कर्म में प्रवृत्त होना है।' इसी कारण भाई काशीनाथ सिंह ने कहा है कि 'हिंदी आलोचकों में भी ऐसी लोकप्रियता किसी को नहीं मिली जैसी नामवर जी को मिली।' 'कविता के नये प्रतिमान' ग्रंथ के कारण वे समकालीन कविता के गंभीर विश्लेषक रूप में प्रस्तुत हुए। इसमें उनकी सूक्ष्म निरीक्षण और अचूक पहचान की क्षमता से परिलक्षित होती है।

'इतिहास और आलोचना' ग्रंथ में उन्होंने साहित्यिक मूल्यों को प्रस्तुत किया। इसमें शामिल निबंधों को पुनर्मूल्यांकनपरक आलोचना और साहित्य इतिहास के बीच संबंधित किया है। उन्होंने 'कहानी: नयी कहानी' में नई कहानी की समीक्षा रेखांकित की है। इसमें कथा–समीक्षा को लेकर नए प्रतिमानों की खोज की गई है। प्रस्तुत ग्रंथ आलोचना विधा का नया एस्थैटिक खोजने का प्रयास करता है, जो कहानियों की आलोचना में सफल हो चुका है। यह ग्रंथ समकालीन कहानी संबंधी प्रखर निबंधों के संकलन है। प्रस्तुत ग्रंथ ने हिंदी में

पहली बार कहानी समीक्षा की एक पद्धति सामने लाया। कहानी को अखंड इकाई के रूप में पढ़ने-समझने की अनुशंसा बहुमूल्य साबित हो गई।

'दूसरी परंपरा की खोज'और 'वाद विवाद संवाद' पुस्तकें हिंदी आलोचना की श्रेष्ठ उपलब्धि है। 'दूसरी परंपरा की खोज' ग्रंथ में उन्होंने हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्त्व के साथ उनके जीवन दर्शन पर प्रकाश डाला है। इस संदर्भ में उनका कहना था कि 'दूसरी परंपरा का मतलब दूसरी परंपरा नहीं बल्कि एक और परंपरा है। वह गणना के क्रम में दूसरी नहीं थी।' इस किताब में उन्होंने भारतीय संस्कृति की लोकोन्मुखी परंपरा की खोजबीन की हुई प्रतीत होती है। साथ ही इसमें उनकी इतिहास दृष्टि और रचनाधर्मिता का समग्र आलोचनात्मक विश्लेषण दिखाई देता है। उन्होंने प्राचीन एवं आधुनिक आलोचना के सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन किया और नए आलोचना सिद्धांतों की सृष्टि की। इस संदर्भ में कवि लीलाधर मंडलोई ने कहा है कि 'नामवर सिंह आधुनिकता में पारंपरिक हैं और पारंपरिक में आधुनिक।' उन्होंने आलोचकों और कवियों की आलोचना करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। यहाँ तक कि उन्होंने आलोचकों की आलोचना की। वस्तुनिष्ठ आलोचना करने से वे तीखे आलोचक भी रहें। उनकी खासियत यह रही कि किसी भी विषय पर वे सोच-विचार कर अपनी राय देते रहें। आलोचना की चीरफाड़ में में वे स्वस्थ और पूर्वग्रहरहित दृष्टिकोण अपनाते रहें और नए दृष्टि से विचार देते रहें। वे विचारों में प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाते रहें और चौकन्ना स्थापनाओं के लिए प्रसिद्ध रहें। उनकी स्थापनाएँ जितनी जिवंत और मौलिक होती हैं, उतनी ही विवादास्पद रही। इस संदर्भ में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने कहा था-'नामवर सिंह की आलोचना जीवंत आलोचना है। भले ही लोग या तो उनसे सहमत हुए अथवा असहमत, लेकिन उनकी कभी उपेक्षा नहीं हुई।'

'आलाचेक के मुख से' किताब में नामवर सिंह के पांच आख्यान पटना में प्रगतिशील लेखक संघ के मंच से विभिन्न अवसरों पर दिए गए उन्हीं व्याख्यानों का संपादन है। नामवर जी खुद हिंदी के सर्वोत्तम वक्ता थे। उनके व्याख्यान में भाषा प्रवाह और विचारों की लय साथ-साथ चलती थी। वे अपने व्याख्यान में हमेशा अनावश्यक प्रसंग एवं तथ्य से बचते रहें और रोचकता हमेशा ध्यान में रखते रहें। इसमें आज के साहित्य, विचारधारा, सौंदर्य, राजनीति और आलोचना से संबंधित महत्त्वपूर्ण बातें कही गई है। उनका मानना है कि साहित्य की भाषा में जो 'सृजनशीलता' आती है, वह लोकभाषा से आती है। लोकभाषा सृजनशील होती है, सृजनात्मक होती है। उसी से शक्ति लेकर साहित्य अपने रूढ़ घिसे हुए प्रतीकों और रूपकों से मुक्त होता हुआ सृजनशीलता की ओर अग्रसर होता है।.. उत्पादक और सृजन एक ही सिक्के दो पहलू हैं। इसलिए जो सामाजिक मूल्यों, नैतिक मूल्यों और आर्थिक मूल्यों का निर्माता होता है, वही सौंदर्य के मूल्यों का, कला के मूल्यों का भी निर्माता है। जिस तरह बाबा नागार्जुन अपनी कविताओं के माध्यम से जनतांत्रिक संवेदना जगाने का काम करते थे ठीक उसी प्रकार नामवर जी वैचारिक लड़ाई लड़ते रहें, रूढ़िवादिता, अधंविश्वास, कलावाद और व्यक्तिवाद के खिलाफ चिंतन की प्रेरणा देते रहें। वे मार्क्सवाद को अध्ययन एवं चिंतन की पद्धति के रूप में, समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने वाले मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में, जीवन और समाज को मानवीय बनाने वाले सौंदर्य सिद्धांत के रूप में स्वीकार करते रहें। मार्क्सवाद में उनकी आस्था जरूरी थी मगर उसकी जड़ताओं पर वे प्रहार करते रहें। वे अपनी परंपरा अपने अंदर लेकर चलने

वाले प्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय आलोचक थे। वे अभूतपूर्व प्रतिष्ठा के धनी, अप्रतिम विद्याप्रेमी, संवेदनशील एवं बहुपठित आलोचक रहे हैं। 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से वे पाठकों से संवाद करते रहें। उनकी आलोचना पाठकों को साथ लेकर चलती है। आलोचना की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसकी रसग्राहिका शक्ति; जिसके बलबूते वे रचना की तह में प्रवेश करते रहें।

नामवर सिंह के अनुसार-राजनीतिक व्यक्तित्त्व के अभाव में सार्थक साहित्य की रचना असंभव है। इतिहास को रचना के अंदर ही समझना चाहिए। उन्होंने अपने आलोचनात्मक विचार को ऐतिहासिक संदर्भ में प्रस्तुत किया। स्वयं उन्हीं के शब्दों में-'इतिहास के अंदर केवल संबंध भावना नहीं, बल्कि साहित्य का एक निश्चित प्रतिमान है, इसलिए अंततः समीक्षा का प्रतिमान है। ऐतिहासिक बोध वस्तुतः आलोचनात्मक बोध है-ऐसा आलोचनात्मक बोध जिसे आत्म परीक्षा के लिए प्रत्येक साहित्य सतत् परखता चलता है। इसलिए इतिहास की अनेक अंतर्धाराओं में से हर युग अपने लिए एक प्रासंगिक धारा का अन्वेषण, तदुपरांत निर्माण करता है।' उन्होंने आलोचना के दोनों तटों की विजय पताका फहराई है। वे जड़ मार्क्सवाद, फूहड़ समाजशास्त्र का विरोध करते है तो दूसरी ओर साहित्य में व्याप्त संकीर्ण संस्कृतिवाद को चुनौती देते हैं। एक ओर अनुभूतिवाद की सीमा रेखांकित करते है तो दूसरी ओर विचारधारा, प्रासंगिकता के टूट पूँजिया मध्यवर्गीय लेखकों को फटकारते हैं। उनकी रचनाओं में कुशल रचनाकार, कुशल निबंधकार, व्यंग्यकार समाहित हैं। उनकी रचनाओं में भावुकता, मार्मिकता, सहजता, अनुभूति की व्यापकता दिखाई देती है। खास बात यह कि उनके पास एक रचनाकार की अनुभूति थी, इसी कारण वे एक सहृदय आलोचक हैं।

सार यह कि नामवर सिंह हिंदी के सर्वाधिक सुपठित और जिंदादिल आलोचक हैं। वे वास्तव में आलोचक थे। वे हिंदी आलोचना के शलाका पुरुष थे। उनकी आलोचना का दायरा बहुत ही व्यापक है। उन्होंने हिंदी आलोचना को एक नई पहचान दिलाई। वे गहन चिंतक, अध्ययनशील प्रवृत्ति के आलोचक, मननशील साहित्य मनीषी, उच्चकोटि की अनुसंधानपरक समाजवादी दृष्टि की समझ होने वाले पत्रकार, अनुवादक, लोक शिक्षक और आलोचक रहें। वे हमेशा अपनी बात अपनी भाषा में करते रहें।

4.4 सारांश

1. साहित्य के क्षेत्र में किसी ग्रंथ को पढ़कर उसके गुण दोषों का विवेचन करना और उसके संबंध में अपना मत प्रकट करना आलोचना है।

2. आलोचना एक स्वतंत्र विधा है। ना तो वह काव्यशास्त्र है और ना ही साहित्यिक इतिहास या अनुसंधान।

3. सैद्धांतिक आलोचना का व्यावहारिक रूप शास्त्रीय आलोचना है। इसमें शास्त्रीय सिद्धांतों के आधारपर कृति की आलोचना की जाती है।

4. साहित्यिक रचना एवं साहित्यकार को उसकी युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में रखकर की गई आलोचना को ऐतिहासिक आलोचना।

5. समान तत्त्वों के आधारपर दो या दो से अधिक साहित्यिक रचना का तुलनात्मक अध्ययन तुलनात्मक समीक्षा में किया जाता है।

6. मनोविज्ञान से अनुशासित आलोचना प्रणाली मनोविश्लेषणवादी आलोचना होती है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक फ्रायड, युंग, एडलर के विचारों का प्रभाव इस प्रणाली पर है।

7. साहित्यकार के दृष्टिकोण को महत्व देनेवाली व्याख्यात्मक आलोचना का अपना विशिष्ठ स्थान है।

8. सभी आलोचना की प्रणालियाँ कृति एवं कृतिकार को महत्व देते हुए अपना कार्य करती है। समय समय पर उनकी प्रविधि में परिवर्तन होता है।

9. आ. वाजपेयी रसानुभूति को 'संवेदना' का विकल्प मानते रहें। यह संवेदन सजग कलाकार की मानसिकता का अनिवार्य रूप है और अपनी इसी दृष्टि से वे 'रसानुभूति' को 'सौंदर्यनुभूति' का विकल्प मानते हुए रसास्वादन की नई भूमिका प्रस्तुत करते रहें। वे 'काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौंदर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र में स्वभावत: अनुरुप भावोच्छवास और सौंदर्य-संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौंदर्य संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में रस कहते हैं।'

10. आ. वाजपेयी पाश्चात्य और भारतीय साहित्यिक मान्यताओं का संतुलित समन्वय साधते हैं, कल्पना को काव्य नियामक तत्त्व मानते रहें, साहित्य में सौंदर्य सृष्टि का स्वीकार करते हैं और रस को आनंदात्मक प्रतिक्रिया मानते हैं।

11. आ. वाजपेयी कहना था कि 'साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि कल्पित समस्त व्यापार का होता है। केवल किसी पात्र विशेष का नहीं। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे हैं।'

12. छायावादी काल में आ. वाजपेयी जी में समीक्षा की नई दृष्टियाँ सामने आती है। उनकी सैद्धांतिक दृष्टि छायावादी काव्य की अनुभूतियों और संवेदनाओं के मर्म और मूल्यों का अंकन है। उनमें स्वच्छंदतावाद की कल्पना, समाजशास्त्र, रसशास्त्र की भावात्मकता, अभिव्यंजनावाद का सौंदर्य दर्शन, रूसो की प्रगतिशील दृष्टि, मनोविज्ञान की नवीन धमक की झलक दिखाई देती है।

13. आ. वाजपेयी का समाज सापेक्ष रसवाद लोक-संवेदना, लोक अभिरुचि, लोकधर्मी संस्कार का ही संस्कृत रूप है; जिसमें सम-सामयिकता एवं आधुनिकता, शास्त्रीयता-व्यावहारिकता, स्वच्छंदता एवं परंपरा का समन्वय दिखाई देता है।

14. नामवर सिंह वास्तव में मार्क्सवादी और प्रगतिशील आलोचक थे। वे हिंदी आलोचना के शलाका पुरुष थे। उन्होंने हिंदी आलोचना को एक नई पहचान दिलाई। वे गहन चिंतक, अध्ययनशील प्रवृत्ति के

आलोचक, मननशील साहित्य मनीषी, उच्चकोटि की अनुसंधानपरक समाजवादी दृष्टि की समझ होने वाले पत्रकार, अनुवादक, लोक शिक्षक और आलोचक रहें।

15. इतिहास के अंदर केवल संबंध भावना नहीं, बल्कि साहित्य का एक निश्चित प्रतिमान है, इसलिए अंततः समीक्षा का प्रतिमान है। ऐतिहासिक बोध वस्तुतः आलोचनात्मक बोध है-ऐसा आलोचनात्मक बोध जिसे आत्म परीक्षा के लिए प्रत्येक साहित्य सतत् परखता चलता है। इसलिए इतिहास की अनेक अंतर्धाराओं में से हर युग अपने लिए एक प्रासंगिक धारा का अन्वेषण, तदुपरांत निर्माण करता है।

16. 'नामवर सिंह आधुनिकता में पारंपरिक हैं और पारंपरिक में आधुनिक।'

17. क्रांतिकारी, मार्क्सवादी दर्शन के व्यक्तित्त्व से परिपूर्ण आलोचक नामवर सिंह ने आलोचना विधा को नवीन प्रतिमानों का आलोक प्रदान किया और उसे सृजनात्मक और रचनात्मक पृष्ठभूमि प्रदान की।

18. आलोचक का धर्म है उस विकल्प के अवकाश को जहाँ वह है, रेखांकित करें, जैसे भूगोल का आदमी किसी प्राचीन जमीन पर उस जगह को बताता है कि वह यहाँ है। सत्ता की सर्वग्राही संस्कृति के बरक्स आलोचक उस विकल्प के अवकाश की तलाश करता है। विकल्प का आवकाश उस स्वतंत्र लोक की खोज है जहाँ खड़े होकर उसे स्वयं आलोचना कर्म में प्रवृत्त होना है।

4.5 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

प्रश्न 1 : निम्नलिखित वाक्यों में दिए गए पर्यायों में से उचित पर्याय चुनकर वाक्य फिर से लिखिए।

1. व्यावहारिक आलोचना सिद्धांत .... ने प्रतिपादित किया है।

   (क) प्लेटो (ख) अरस्तु (ग) इलियट (घ) रिचर्डस्।

2. अभिरूची मुख्यतः .... पर आधारित होती है।

   (क) लेखक (ख) कवि (ग) पाठक (घ) आलोचक।

3. 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' सिद्धांत के प्रवर्तक .... है।

   (क) मार्क्स (ख) अरस्तू (ग) प्लेटो (घ) इलियट।

4. डॉ. रामविलास शर्मा .... आलोचक है।

   (क) मनोविश्लेषणवादी (ख) मार्क्सवादी (ग) स्वच्छन्दतावादी (घ) सौंदर्यशास्त्रीय।

5. 'दास कैपिटल' यह ग्रंथ .... के लिए वेद, कुरान और बायबल सिद्ध हुआ है।

   (क) मजदूरों (ख) दलितों (ग) अमीरों (घ) जमींदारों।

6. .... व्याख्यात्मक आलोचक के रूप में सुप्रसिद्ध है।

(क) इलाचंद्र जोशी (ख) शिवदानसिंह चौहान (ग) आ. रा. शुक्ल (घ) नामवरसिंह।

7. हिंदी की मनोविश्लेषणवादी समीक्षा पर .... के सिद्धांतों का प्रभाव है।

(क) सुकरात (ख) अरस्तु (ग) फ्रायड (घ) लोंगीनुस।

8. .... आलोचना प्रणाली में आलोचक न्यायाधीश की भाँति कार्य करता है।

(क) समाजशास्त्रीय (ख) मनोवैज्ञानिक (ग) निर्णयात्मक (घ) ऐतिहासिक।

9. .... यह स्वीकार करती है कि सभी साहित्यकार एक श्रेणी या प्रकृति के नहीं होते।

(क) निर्णयात्मक आलोचना (ग) व्याख्यात्मक आलोचना।

(ख) शास्त्रीय आलोचना (घ) मार्क्सवादी आलोचना।

10. .... आलोचना में युगीन परिस्थितियों की परिप्रेक्ष्य में कृति की व्याख्या की जाती है।

(क) निर्णयात्मक (ख) शास्त्रीय (ग) समाजशास्त्रीय (घ) ऐतिहासिक।

11. आलोचना शब्द की व्युत्पति .... धातु से हुई है।

(क) लोचन (ख) ल्यूच् (ग) लुच् (घ) आलोच।

12. आलोचना के लिए मराठी पर्यायी शब्द .... है।

(क) समीक्षण (ख) समीकरण (ग) समालोचन (घ) विवेचन।

13. शास्त्रीय आलोचना का दूसरा नाम .... आलोचना है।

(क) सैद्धांतिक (ख) विज्ञान (ग) शास्त्र (घ) निर्णय।

14. मनोविश्लेषणवादी आलोचना पर .... का प्रभाव है।

(क) फ्रायड (ख) प्लेटो (ग) अरस्तु (घ) इलियट।

15. .... आलोचना में आलोचक को मनोविज्ञान का ज्ञान चाहिए।

(क) समाजशास्त्रीय (ख) शास्त्रीय (ग) निर्णयात्मक (घ) मनोविश्लेषणात्मक।

16. हिंदी में शास्त्रीय आलोचना की आधारशिला .... ने रखी।

(क) नामवरसिंह (ख) नगेंद्र (ग) रामशरण शुक्ल (घ) आ. रामचंद्र शुक्ल।

17. व्याख्यात्मक आलोचना का श्रेष्ठ .... को दिया है।

(क) प्लेटो (ख) इलियट (ग) मोल्टन (घ) मार्कस्।

18. बिहारी और देव की आलोचना .... आलोचना पद्धति से होती है।

(क) शास्त्रीय (ख) निर्णयात्मक (ग) तुलनात्मक (घ) व्याख्यात्मक।

19. समाजशास्त्रीय आलोचना का दूसरा नाम .... आलोचना है।

(क) सामाजिक (ख) शास्त्रीय (ग) सौंदर्यशास्त्रीय (घ) प्रगतिवादी।

20. .... आलोचना सैद्धांतिक आलोचना का आधार बनी है।

(क) काव्यात्मक (ख) शास्त्रीय (ग) तुलनात्मक (घ) निर्णयात्मक।

21. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का जन्म सन .... ई. में हुआ।

अ) 1905 ब) 1907 क) 1908 ड)1906

22. 'आधुनिक साहित्य' ग्रंथ से .... आलोचक व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है।

अ) आ. नंददुलारे वाजपेयी ब) रामविलास शर्मा

क) आ. रामचंद्र शुक्ल ड) नामवर सिंह

23. ....ने रसानुभूति को 'संवेदना' का विकल्प मान है।

अ) आ. नंददुलारे वाजपेयी ब) रामविलास शर्मा

क) आ. रामचंद्र शुक्ल ड) नामवर सिंह

24. आ. नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार – साहित्य का प्रयोजन .... है।

अ) आत्मानुभूति ब) यश प्राप्ति क) अर्थ प्राप्ति ड) परानुभूति

25. 'समीक्षा साहित्य का कठोरता से नियंत्रण करने वाली अभिनेत्री है।' .... का कथन है।

अ) आ. नंददुलारे वाजपेयी ब) रामविलास शर्मा

क) आ. रामचंद्र शुक्ल ड) नामवर सिंह

26. 'नामवर सिंह की आलोचना जीवंत आलोचना है।' कथन .... का है।

अ) विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ब) लीलाधर मंडलोई

क) विश्वनाथ त्रिपाठी ड) काशीनाथ सिंह

27. 'नामवर सिंह आधुनिकता में पारंपरिक हैं और पारंपरिक में आधुनिक।' यह कथन .... का है।

अ) विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ब) लीलाधर मंडलोई

क) विश्वनाथ त्रिपाठी ड) काशीनाथ सिंह

28. 'अज्ञेय के बाद हिंदी का सबसे बड़ा 'स्टेट्समैन' कहा था।' .... ने कहा था।

अ) विश्वनाथ प्रसाद तिवारी   ब) लीलाधर मंडलोई

क) विश्वनाथ त्रिपाठी   ड) काशीनाथ सिंह

29. दूसरी परंपरा का मतलब दूसरी परंपरा नहीं बल्कि एक और परंपरा है। वह गणना के क्रम में .... नहीं थी।

अ) दूसरी   ब) तिसरी   क) चौथी   ड) पाचवीं

30. नामवर सिंह ने .... विधा को नवीन प्रतिमानों का आलोक प्रदान किया।

अ) निबंध   ब) कहानी   क) आलोचना   ड) कविता

31. हिंदी आलोचना की पहली पुस्तक भारतेंदु की पुस्तक .... को माना जाता है।

क) नाटक   ख) निबंध   ग) कहानी   घ) उपन्यास

32. हिंदी आलोचना की शुरुआत................ युग में हुई।

क) भारतेंदु युग   ख) अज्ञय   ग) प्रसाद   घ) प्रेमचंद

33. हिंदी साहित्य के सबसे प्रसिद्ध आलोचक........... है।

क) भरत   ख) अज्ञेय   ग) नामवर सिंह   घ) प्रेमचंद

4.6 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

1. सृजन : निर्माण, नवनिर्माण।
2. आलोचना : मूल्यांकन।
3. अन्वेषण : खोज, शोध, संशोधन, अनुसंधान।
4. द्रष्टव्य : दिखाने योग्य, देखने योग्य।
5. स्त्रोत : उद्‌गम्, मूल, प्रारंभ।
6. जटिल : कठिन, उलझी हुई।
7. प्रणाली : पद्‌धति, प्रकार।
8. प्रविधि : कार्यप्रणाली।
9. निहित : समाविष्ट, अन्तर्भुत।
10. दर्शन : Philosophy, तत्त्वज्ञान, चिंतन।

11. आत्मानुभूति - आत्म साक्षात्कार।

12. आत्माभिव्यंजना- अपने मन के अनुभवों को व्यक्त करना।

13. रहस्यवाद- ईश्वर और सृष्टि के परम तत्त्व पर आश्रित तथा सात्विक आत्मानुभूति से संबंद्ध सिद्धांत।

14. शास्त्रीयता- शास्त्रीय होने का भाव।

15. सौंदर्यानुभूति- सौंदर्य भावना।

16. अनुभूतिवाद-अनुभववाद।

17. आलोचना-गुण-दोष निरूपण या विवेचन करना।

18. प्रतिमान-परछाई, प्रतिमा, प्रतिमूर्ति, चित्र, नमूना, मानक, स्टैंडर्ड।

19. चिंतक-चिंतन करनेवाला, विचारक, ध्यान रखनेवाला।

20. मनिषी-ज्ञानी, विद्वान, विचारशील, बुद्धिमान।

4.7 स्वयं-अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1 :

1. रिचडर्स 2. पाठक 3. मार्क्स 4. मार्क्सवादी।

5. मजदूरों 6. आ. रा. शुक्ल 7. फ्रायड 8. निर्णयात्मक।

9. व्याख्यात्मक 10. ऐतिहासिक 11. ल्यूच 12. समीक्षण।

13. सैद्धांतिक 14. फ्रायड 15. मनोविश्लेषणात्मक

16. आ. रामचंद्र शुक्ल। 17. मोल्टन 18. तुलनात्मक 19. प्रगतिवादी

20. व्याख्यात्मक। 21. 1906 22. आ. नंददुलारे वाजपेयी

23. आ. नंददुलारे वाजपेयी 24. आत्मानुभूति 25. आ. नंददुलारे वाजपेयी।

26. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी27. लीलाधर मंडलोई 28. विश्वनाथ त्रिपाठी 29. दूसरी

30. आलोचना। 31. नाटक 32. भारतेंदु 33. नामवर सिंह

4.8 स्वाध्याय

प्रश्न 1 : दीर्घोत्तरी प्रश्न।

1. आलोचना का अर्थ, परिभाषा, स्वरूप एवं प्रकारों पर प्रकाश डालिए।

2. हिंदी की मनोवैज्ञानिक आलोचना का परिचय दीजिए।

3. हिंदी की ऐतिहासिक एवं प्रगतिवादी आलोचना का परिचय दीजिए।
4. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की समीक्षा दृष्टि पर प्रकाश डालिए।
5. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का साहित्यिक योगदान रेखांकित कीजिए।
6. हिंदी आलोचना जगत् में नामवर सिंह का योगदान रेखांकित कीजिए।
7. नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि का परिचय दीजिए।
8. डॉ. नगेंद्र की आलोचना दृष्टि का परिचय दीजिए।

प्रश्न 2 : लघुत्तरी प्रश्न।

1. आलोचना शब्द का अर्थ एवं उत्पत्ति स्पष्ट कीजिए।
2. आलोचना की परिभाषा देकर स्वरूप बताईए।
3. शास्त्रीय आलोचना का महत्त्व समझाइए।
4. व्याख्यात्मक आलोचना का स्वरूप विशद कीजिए।
5. निर्णयात्मक आलोचना का महत्त्व बताईए।

4.9 क्षेत्रीय कार्य

1. हिंदी की अन्य आलोचना प्रणालियों परिचय प्राप्त कीजिए
2. अन्य पद्य रचनाओं की व्यावहारिक आलोचना करने का प्रयास कीजिए
3. मराठी और हिंदी की कृतियों की तुलनात्मक आलोचना कीजिए
4. किसी एक कविता, कहानी, उपन्यास की समीक्षा कीजिए
5. हिंदी आलोचक और उनके आलोचना ग्रंथ का पठन कीजिए
6. किसी एक आलोचना लेख की आलोचना कीजिए
7. हिंदी के आलोचक और आलोचना ग्रंथ का संकलन कीजिए

4.10 अतिरिक्त अध्ययन के लिए।

1. हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ - डॉ. शिवकुमार शर्मा
2. हिंदी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि - डॉ. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना
3. नई रचना और रचनाकार - डॉ. दयानंद शर्मा
4. 'चिंतामणि भाग-1, 2' - आचार्य रामचंद्र शुक्ल

5. 'चंद्रगुप्त' नाटक - जयशंकर प्रसाद

6. हिंदी आलोचना का सैद्धांतिक आधार-कृष्णदत्त पालीवाल

7. काव्यशास्त्र भारतीय एवं पाश्चात्य-डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी

8. नामवर के विमर्श-सं. सुधीश पचौरी

9. आलोचक नामवर सिंह-सं. रणधीर सिन्हा

10. आलोचना के रचना पुरुष: नामवर सिंह - सं. भारत यायावर

11. नामवर की धरती-श्री प्रकाश शुक्ल

12. जे.एन. यू. में नामवर सिंह-सं. सुमन केसरी

13. नामवर सिंह: आलोचना की दूसरी परंपरा (2002)-सं. कमला प्रसाद

14. 'पहल' का विशेषांक, मई 1998 ई.-सं. ज्ञानरंजन

15. 'पाखी' का विशेषांक, अक्तूबर, 2010 -सं. प्रेम भारद्वाज

16. 'बहुवचन' का विशेषांक, जुलाई-सितंबर-2016

❑❑❑

सत्र 4 : इकाई 1

पाश्चात्य काव्यशास्त्र : प्लेटो, अरस्तू, लोंजाइनस्

अनुक्रम

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 विषय-विवेचन

- 1.3.1 पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की परंपरा एवं विकासक्रम
- 1.3.2 प्लेटो-परिचय
- 1.3.3 प्लेटो का अनुकरण सिद्धांत
- 1.3.4 प्लेटो का काव्य प्रेरणा सिद्धांत
- 1.3.5 अरस्तू-परिचय
- 1.3.6 अरस्तू का विरेचन सिद्धांत
- 1.3.7 अरस्तू का त्रासदी
- 1.3.8 लोंजाइनस् : उदात्त की अवधारणा

1.4 सारांश

1.5 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

1.6 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

1.7 स्वयं-अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

1.8 स्वाध्याय

1.9 क्षेत्रीय कार्य

1.10 अतिरिक्त अध्ययन के लिए।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप –

1. प्लेटो का परिचय, काव्य सिद्धांत और काव्य प्रेरणा से परिचित हो जाएगें।
2. अरस्तू के अनुकरण, विरेचन और त्रासदी संबंधी विचारों से अवगत होंगे।
3. लोंजाइनस् की उदात्त की अवधारणा समझ सकेंगे।
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय मान्यताओं से परिचित हो जायेंगे।

1.2 प्रस्तावना

भारतीय काव्यशास्त्र के समान पाश्चात्य समीक्षा या काव्यशास्त्र का इतिहास भी बहुत प्राचीन माना जाता है। पश्चिम में काव्य सृजन तथा काव्य विश्लेषण की सशक्त परंपरा विद्यमान रही है। कतिपय मनिषियों ने कला को अनुकृति माना है तो कतिपय मनिषियों ने काव्य को प्रकृति की पूनः सर्जन माना है। कतिपय मनीषियों ने कला के समाजोपयोगी नैतिक पक्ष और आनंददायी कलात्मक पक्ष को स्वीकार किया है।

काव्य और कलाकृति के सौंदर्य का विवेचन सौंदर्यशास्त्र की मूलभूत प्रक्रिया है। इसी के आधार पर सौंदर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र का निर्माण होता है। पाश्चात्य काव्य चिंतन का श्रीगणेशा यूनान में हुआ है। होमर को सर्वोत्कृष्ट कवि तथा महाकवि माना जाता है। उनकीं रचनाओं में यूनानी धर्म, संस्कृति दर्शन का विवेचन हुआ है। होमर के समान पांचवी शती में पिण्डार महान गीतकार हो गए। उनकी 'इपीनिका' प्रसिद्ध रचना है। उनके समकालीन लोंजाइन्स ने अपने भाषणों में काव्यसंबंधी विचार प्रकट किए।

कुछ विद्वानों ने सोफिस्ट को पहला अलंकार शास्त्री कहा है। अरिस्टोफनीज एक विनोदी व्यंग्य लेखक थे। उनका समय 445 ई. पू. से 385 ई. पू. तक का है। उन्होने अपने नाटकों में सुकरात की हँसी उडाई है। इनका कार्यक्षेत्र एथेन्स रहा, वहां का वह नागरिक था। उन्होंने 54 नाटक लिखें उनमें से 19 प्राप्त होते है। उनकी भाषा काव्यात्मक और प्रभावशाली है। उनकी आलोचना का आधार यूरीपिडीज के नायक रहे है। साहित्य रचना में कल्पना को महत्व देकर वैचारिक संकिर्णता का विरोध किया। उनका साहित्य चिंन्तको में महत्वपूर्ण स्थान है। काव्यशास्त्रीय चिंतन के बीज उनके साहित्य में उपलब्ध होते है। वे महात्मा, सुकरात, नाटककार यूरीपिडीज, चिन्तक प्लेटो के समकालीन थे।

सुकरात संत, महात्मा, दार्शनिक, चिन्तक व्यक्ति थे। उनके काव्यशास्त्रसंबंधी विचार नहीं मिलते मगर उनका विश्वास था शिक्षा सद्गुणों का विकास करती। मनुष्य को प्रेरणा अपनी आत्मा की आवाज से लेनी चाहिए। साहित्य मनोरंजन की अपेक्षा नैतिकता, सच्चाई पर आधारित हो। उनकी आदर्श राज्य की कल्पना सुप्रसिद्ध है। उनके विचार है ज्ञान सद्वृत्ति है, सत्य शिव है, सुंदर है, युवकों पर नैतिक संस्कार हो। उनके शिष्य प्लेटो है। आगे प्लेटो, अरस्तू का परिचय, उनके काव्य शास्त्रीय सिद्धांत पर विचार करके पाश्चात्त्य चिंतन धारा पर सोचेंगे–

1.3 विषय–विवेचन

पाश्चात्य काव्य चिंतन का प्रारंभ यूनान में हुआ। पाश्चात्य सभ्यता, साहित्य, कला, विज्ञान आदि के मूल स्त्रोत का संधान करनेवाले को ग्रीस या यूनान में पहुँचना पडता है। यूनान का सबसे पहला महाकवि होमर था, उनकी 'इलियड' और 'ओडेसी' महत्वपूर्ण रचनाएं है। आत्तिका की राजधानी एथेन्स यूनान की समस्त बौद्धिक, वैज्ञानिक कलात्मक उपलब्धियों का उद्गम स्थल है, जिसके कारण यूनान का नाम अमर हुआ। लाकोनिया की राजधानी स्पार्टा का महत्व उनके शौर्य–वीर्य एवं सैन्य शक्ति के कारण था। एथेन्स ने बौद्धिक पक्ष को प्रश्रय दिया तो स्पार्टा ने शारीरिक बल को।

पेरिक्लेस (500-429 ई.पू.) का तीस वर्षों का शासनकाल एथेन्स के इतिहास का 'स्वर्णकाल' माना जाता है। सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक क्षेत्रों में उसकी देन रही है। उसके शासन का अंत होते न होते यूनान का ऱ्हास आरंभ हो गया। पेरिक्लेस के शासन के अवसान के एक वर्ष पहले अर्थात 431 ई. पू. में स्पार्टा ने एथेन्स पर आक्रमण किया। इसमें एथेन्स पराजित हुआ, इस युद्ध को 'पेलोपोन्नेसिया का युद्ध' कहते है। यह युद्ध 27 बरसों तक चला। 404 ई. पू. एथेन्स की हार हुअी, एथेन्स हमेशा के लिए टूट गया। किन्तु राजनीतिक प्रभाव समाप्त होने पर भी उसकी बौद्धिक–सांस्कृतिक उपलब्धियों का प्रकर्ष ज्यो का त्यो बना रहा, बल्कि काल की गति के साथ बढ़ता गया और अंतत: वह संसार की कालजयी संस्कृतियों का अंग बन गया।

प्लेटो को समझने के लिए यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आवश्यक है। कहना अनपेक्षित है कि, किसी देश के साहित्य, संस्कृति, दर्शन, कला आदि को समझने के लिए वहाँ के इतिहास का थोडा ज्ञान अपरिहार्य है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन में प्राय: सौंदर्य शास्त्रीय दृष्टिकोण रहा है। उसने रचना और कला के देखने–परखने के अनेक मार्ग उद्घाटित किये है। प्लेटो, अरस्तू, लोंजाइनस् क्रोंचे, इलिएट, होरेस, रिचर्ड्स् के विचार उपादेय है। ये सभी पाश्चात्य काव्यशास्त्र के निर्माता ही है। उनकी चिंतन सरणियाँ विचार को उदार और बुद्धि को व्यापक बनाती है, यही सच है।

1.3.1 पाश्चात्य साहित्य की परंपरा एवं विकासक्रम

पाश्चात्य काव्यशास्त्र की एक सुदीर्घ परंपरा रही है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का मूल रूप से प्रारंभ ग्रीक में हुआ। युरोपीय साहित्य का प्राचीनतम रूप ग्रीक के लोकप्रिय कवि होमर के काव्य में मिलता है। होमर के उपरांत हेसिऑड कवि का नाम आता है। होमर काव्य का लक्ष्य चमत्कार द्वारा आनंद प्रदान करना मानता था। इसके विपरीत हेसिऑड काव्य का लक्ष्य दैवी संदेश का वहन करना और शिक्षा देना मानता था। होमर और हेसिऑड यूरोप के ये दोनों प्राचीनतम कवि ऐतिहासिक विवाद को जन्म दे गए जो आधुनिक युग में भी काव्य शास्त्रीय चर्चा का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय बना हुआ है। होमर ने अपने ग्रंथों में देवताओं की अनैतिकता और ईर्ष्यालु प्रवृत्ति का चित्रण किया था फलस्वरूप होमर के परवर्ती कवि शेनोफिनिस, पैथागोरस और हैराकलीटस आदि ने होमर के काव्य पर बहिष्कार किया।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास को सामान्यतः तीन भागों में विभाजित किया जाता है–

1) प्राचीन काल (500 ई.पू.से 400 ई.पू. तक)

2) मध्यकाल (500 ई. से 1500 ई. तक)

3) आधुनिक काल (1600 ई. से आज तक)

प्राचीन काल (500 ई.पू.से 400 ई.पू. तक)

सही मायने में पाश्चात्य काव्यशास्त्र चिंतन का विधिवत विकास की शुरुआत प्लेटो से मानी जाती है। प्लेटो के गुरू सुकरात एक महान दार्शनिक चिंतक, संत महात्मा और तार्किक व्यक्ति थे। सुकरात की चिंतना शिष्य प्लेटो के द्वारा समाज के सामने आयी। उनके आदर्श राज्य की कल्पना सुप्रसिद्ध है। प्लेटो गुरू सुकरात के प्राणदंड के उपरांत व्यावहारिक राजनीति छोड़कर राजनीतिक दर्शन की ओर मुड़े। प्लेटो के अनुसार काव्य निर्माण एक प्रकार से ईश्वरीय उन्माद है। ईश्वर कवि को प्रेरणा देता है। कवि का चित्रण अज्ञातजन्य तथा काल्पनिक होता है। प्लेटो के विचार से आदर्श, वास्तविक और अनुकृत ऐसे वस्तु के तीन रूप होते हैं।

अरस्तु प्लेटो के शिष्य थे। अरस्तु के अनुकरण के बारे में विचार प्लेटो से भिन्न है। उनके काव्यशास्त्र संबंधी 'रिटोरिक्स' और 'पोईटिका' दो ग्रंथ उपलब्ध है। अरस्तू ने महाकाव्य, त्रासदी, कामदी, रौद्र स्रोत और गीतिकाव्य आदि काव्य के पांच मुख्य रूप माने थे। अनुकृति सिद्धांत और विरेचन सिद्धांत की स्थापना करके उन्होंने काव्यशास्त्रीय विवेचन किया है।

लोंजाइनस ने अपने काव्य का प्रयोजन पाठक या श्रोता को अपूर्व समाधि में निमग्न कर देना माना। वे यूरोप के पहले स्वच्छंदतावादी समीक्षक थे। उनके उदात्त संबंधी विचार सर्वमान्य है। वस्तुबोध या विचार की भव्यता, भाव की उत्कृष्टता, अलंकार का अधिक प्रयोग, शब्द व्यवस्था की उत्कृष्टता आदि काव्य की उत्कृष्टता के गुण उन्होंने आवश्यक माने हैं। यह सत्य है कि लोंजाइनस के पश्चात तीसरी शताब्दी ईस्वी से तेरहवीं शताब्दी ईस्वी तक यूरोपीय साहित्य चिंतन किसी नवीन तथा महत्त्वपूर्ण उद्‌भावना का दावा नहीं करता।

आगे जाकर भाषण कला और अलंकार शास्त्र का विवेचन हुआ। रोमी आचार्यों में होरेस का स्थान महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने औचित्य सिद्धांत का विवेचन किया। सिसिरो ने भाषण कला और शैली पर अपने विचार प्रस्तुत किए। ज्ञान और प्रतिभा के बलबूते 'क्वीविंटीलियन' ने ग्रंथ लिखे। उन्होंने भाषण कला और कविता में नैतिकता पर अधिक बल दिया।

मध्यकाल (500 ई.से 1500 ई.तक)

ईसा की पांचवीं शताब्दी से लेकर लगभग पंद्रहवीं शताब्दी तक पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अंधकार का युग माना जाता है। यह काल बौद्धिक चिंतन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होने के कारण इतिहासकारों ने अंधकार का युग की संज्ञा दी है। इस काल में रोमन कैथलिक चर्च और पादरियों के प्रभुत्व में धार्मिक

साहित्य को मान्यता मिलने लगी। किंतु काव्य तथा समीक्षा आदि का गौण स्थान हुआ। काव्य की उपदेशात्मकता को अधिक महत्त्व आ गया। लातीन भाषा खत्म हो गयी। परिणाम स्वरूप स्वतंत्र चिंतन और सृजनात्मक कार्य भी खत्म हुए। अंधविश्वासों और धार्मिक नियमों में समाज जकड़ा गया।

इस युग के साहित्य चिंतकों में इटालियन साहित्यकार दांन्ते ने काव्य में लोकभाषा का आग्रह किया। युद्ध, राष्ट्र प्रेम, मानव प्रेम और नैतिक सौंदर्य काव्य के उत्तम विषय माने। चौदहवीं शताब्दी से पंद्रहवी शती का समय पुनरुत्थान काल का समय माना जाता है। इस काल में होरेस और प्लेटो के विचारों का अध्ययन हुआ। विवेस, जॉन कॉलेट और इरास्पम की रचनाओं में बुद्धीवादी दृष्टिकोण पाया जाता है।

आधुनिक काल (1600 ई. से आज तक)

आधुनिक युग का सूत्रपात फिलिप सिडनी से माना जाता है। वे उच्च कोटि के साहित्यकार थे। सिडनी ने 'एपॉलॉजी फॉर पोएट्री' ग्रंथ में काव्य हेय वस्तु नहीं है यह स्पष्ट किया। उन्होंने काव्य को तिरस्कृत करना अनुचित माना। काव्यशास्त्र में सिडनी का योगदान मौलिक है।

बेन जॉनसन अपने युग के सबसे अधिक प्रभावशाली आलोचक माने जाते हैं। उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि कल्पना न सिर्फ आनंद प्रदान करती है वह शिक्षा भी देता है। अंग्रेजी आलोचना का जनक जॉन ड्राइडन को कहा जाता है। नवशास्त्रवादी आलोचक, कवि, नाटककार और व्यंग्यकार के रूप में वे प्रसिद्ध थे। 'ऐन एसे ड्रामेटिक पोइजी' उनका आलोचनात्मक ग्रंथ लोकप्रिय रहा। जोजेफ एडिसन ने अपनी 'स्पेक्टटर' नामक पत्रिका में आलोचनात्मक विचारधारा को प्रकट किया है। एडिसन का आलोचना संबंधी दृष्टिकोण बहुत स्वच्छंद और सौंदर्य परक है। अलेक्जेंडर पोप के मतानुसार लेखन में उत्कृष्टता कला से आती है। डॉ. सेमुअलल जॉनसन ने आलोचना के संदर्भ में एक दर्जन निबंध रेम्बलर में लिखे हैं। इंग्लैंड के रोमांटिक युग का पहला कवि विलियम ब्लैक को कहा जाता है। उसकी दृष्टि में कविता अलौकिक प्रेरणाजन्य वस्तु है। वर्डसवर्थ भाव प्रवणता की सृष्टि करते थे। उन्होंने स्वच्छंदतावाद को पुनर्जीवित किया। कवि आलोचक कांलरिज ने काव्य एवं दर्शन में समन्वय स्थापित करते हुए काव्य सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। वे उच्चकोटि के कवि और गंभीर चिंतक थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के काव्यालोचक मैथ्यू अर्नाल्ड, तॉलस्ताय और रस्किन आदि ने मर्यादा, सामाजिकता और उपयोगिता की प्रतिष्ठा की गयी। इसके विरोध के रूप में फलबेअर और जोला आदि काव्यमिंमासकों ने कला के रूप उपयोगितावादी, नैतिकतावादी, अभिव्यंजनवादी और शास्त्रीय मूल्यों पर कड़ा प्रहार किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विभिन्न कलावादी समीक्षा संप्रदायों का विकास हुआ। इसमें वॉल्टर पेटर और डॉ ब्रांडले का योगदान सराहनीय रहा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में टी. एस. इलियट और आई. ए. रिचर्डस ने समीक्षा के लिए नई पृष्ठभूमि की। बीसवीं शताब्दी में समीक्षा की विभिन्न वादों और प्रवृत्तियों का विकास हुआ। इटली के प्रसिद्ध

दार्शनिक बेनेदत्तो क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद इस बहुचर्चित सिद्धांत की प्रतिष्ठा की। फ्रांसीसी विारक आलोचकों ने ऐतिहासिक वातावरण से कृति की सही आलोचना करने का प्रयास किया। आधुनिकतावाद, मार्क्सवादी समीक्षा सिद्धांत, मनोविश्लेषणवाद, अति यथार्थवाद, अस्तित्ववाद, उत्तर संरचनावाद, विखंडनवाद और उत्तर आधुनिकतावाद आदि वादों का विकास हुआ। इस शताब्दी में नारी विमर्श की शुरुआत हुई जिनमें स्त्री वादी समीक्षा पर बल दिया गया। साहित्यशास्त्र की सहयोग की शाखा के रूप में शैली विज्ञान और सौंदर्य शास्त्र का आगमन हुआ।

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में नारी विमर्श की शुरुआत हुई जिनमें स्त्री वादी समीक्षा पर बल दिया गया। साहित्यशास्त्र की सहयोगी शाखा के रूप में शैलीविज्ञान और सौंदर्य शास्त्र का आगमन हुआ।

उपर्युक्त सभी काव्य सिद्धांतों, वादों अधिकांश रूप में वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा प्रतिपादित होने के कारण सर्वव्यापी कहे जा सकते हैं।

1.3.2 प्लेटो का परिचय (427 ई.पू.–347 ई.पू.)

प्लेटो का जन्म 427 ई.पू. में हुआ। प्लेटो का उच्चारण अंग्रेजी के अनुसार है, इस शब्द का यूनानी उच्चारण 'प्लातोन' है जो अरबी में 'अफलातून' के रूप में प्रचलित है। प्लेटो का मातृपक्ष और पितृपक्ष एथेन्स के समृद्ध, अभिजात कुल से संबंधित है, उनका एथेन्स की राजनीति पर व्यापक प्रभाव था। एथेन्स पर स्पार्टा का आक्रमण प्लेटो के जन्म के चार वर्ष पहले हुआ था। यह युद्ध 27 वर्षों तक चला और 404 ई.पू. में एथेन्स की पराजय के साथ समाप्त हुआ। यह स्पष्ट है, प्लेटो का शैशव, किशोर, यौवन की बिभीषिका ही नहीं, बल्कि अपनी जन्मभूमि की ग्लानिजनक पराजय भी अपनी आंखों से देखी। वे अपनी रचना 'रिपब्लिक' में कहते है– ''गुलामगिरी मृत्यु से भी भयावह है।''

उनके पिता 'ॲरिस्टोन' और माता 'पेरिक्टियोन' तथा गुरू 'सुकरात' थे। माता के भाई सुकरात के मित्र थे। प्लेटो सुकरात के इतने निकट रहे कि उनके विचारों, तर्क पद्धति से प्रभावित हुए। सुकरात ने कोई ग्रंथ नहीं लिखा। उनकी दृष्टि से अध्यापन का सबसे अच्छा तरीका संवाद अर्थात प्रश्नोत्तर है। एथेन्स की सडकों पर चलते हुए सुकरात नवयुवकों को बटोर लेते, उन्हें देखकर नवयुवकों का झुंड इकट्ठा हो जाता। सुकरात बुद्धि और तर्क के अतिरिक्त किसी भी बाहय सत्ता का आदेश मानने को तैयार न थे। वे 'आत्मदीपो भव' के प्रचारक थे।

सुकरात का आदर्श था– परिणाम की चिंता छोडकर, परिवार और परिवेश की चिंता छोडकर, एकनिष्ठ भाव से ज्ञान और सत्य का अनुसंधान करना इसमें कभी कोई समझौता नहीं। उनके मतानुसार 'शिव वही है जो उपयोगी है।' मनोरंजन की अपेक्षा साहित्य में नैतिकता को महत्व दिया। प्रचलित लोकधर्म तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता था इसलिए उन्हें मान्य नहीं था। प्लेटो जैसे प्रतिभाशाली युवकों के हृदय में सुकरात ने संदेहवाद, प्रश्नवाद, बौद्धिक साहस, स्वातंत्र्य की भावना भर दी। इसलिए उनपर ईश्वर को न मानने का, युवकों को दूषित करने का आरोप लगाया? इस आरोप पर विचार करनेवाली अदालत ने सुकरात को अपराधी मानकर मृत्युदंड की सजा दी। सुकरात अपने हाथों से जहर पीते हुए प्रसन्नता से चिरनिद्रा में

डूब गये। मृत्यु के समय उनकी आयु सत्तर साल की थी। मृत्यु के पश्चात मृत्यु की दारूणता ने उनके प्रभाव को कई गुना बढ़ा दिया। सुकरात के साथियों ने विवेकहीन, निरंकुश लोकतंत्र को कभी माफ नहीं किया।

एथेन्स की पराजय और सुकरात के मृत्युदंड ने प्लेटो की लोकतंत्र की आस्था को हिला दिया। प्लेटो सुकरात के अपूर्व मेधावी, पूर्णतः अनुगत, समर्पित शिष्य थे। प्लेटो ने उनके विचार, पद्धति, शैली को ग्रहण किया। प्लेटो के संवादो में कोई भी हो, मगर उत्तरदाता सुकरात ही है। उन्होंने गुरूवाणी को लिपिबद्ध किया। उनके विचार गुरू के ही है।

प्लेटो पर नि:संदेह सुकरात का प्रभाव है। प्लेटो संस्कार और स्वभाव से कवि है, तथा शिक्षा और परिस्थिति से दार्शनिक। कभी वे काव्य और दर्शन के पुराने कलह की याद दिलाते तो कभी काव्य कों ईश्वरीय प्रेरणा मानकर प्रशंसा करते है। जीवन के आरंभ में उन पर काव्य का गंभीर, तथा अनुकूल प्रभाव था। वे मानते है, समाज पर काव्य का प्रभाव घातक होता है।

रचनाएँ –

प्लेटो ने स्वतंत्र रुपमें कुछ नहीं लिखा बल्कि अन्य प्रसंगों में काव्य या नाटक पर अपने विचार व्यक्त किए है। 'इओन' (Ion), 'क्रांतिलुझ' (Cratylus), 'गोर्लीआस' (Gorgias), 'फेद्रुस' (Phaedrus), 'फिलेबुस' (Philebus), 'विचारगोष्टी' (Symposium), 'गणतंत्र' (Republic) आदि में विचार संवादों में बिखरे हुए हैं। 'इओन', 'फेद्रुस' और 'रिपब्लिक' (गणतंत्र) अधिक उपादेय है।

प्लेटो के आदर्श राज्य, प्रत्यक्ष सिद्धांत, आत्मा की अमरत्व सिद्धि, सृष्टि-शास्त्र, ज्ञान-मीमांसा आदि दर्शन के विषय रहें है। आदर्श राज्य के बारे में वह मानता है- 'अच्छा शासन तभी हो सकता है जब शिक्षित-नागरिक हो, उनका तन सबल, अच्छा हो, मन सुसंस्कृत और निर्भीक हो।' शिक्षा में व्यायाम और संगीत दो विषय महत्वपूर्ण मानता है। जन-मन के विकास के पश्चात दूसरे विषय पढाये जाने चाहिए। वह चाहता है, एथेन्स इतना शक्तिसंपन्न हो जाए कि पराजय का अवसर दूबारा न आए, इसलिए शिक्षा पद्धति में परिवर्तन चाहता है। क्योंकि भावी नागरिकों को बनाते-बिगाडने का सबसे समर्थ माध्यम 'शिक्षा' ही है।'

प्लेटो परिष्कार और मन से कवि है तथा शिक्षा और परिस्थिति से दार्शनिक। जीवन के आरंभ में उन्हीं पर काव्य का गंभीर प्रभाव था, जैसे उम्र बढती गई वैसे दर्शन से प्रभावित हो गए।

सुकरात के प्राणदंड के उपरान्त प्लेटो एथेन्स के बाहर चले गए और मिस्त्र, सिसली, इटली और यूनान के अनेक स्थानों की यात्रा की। एथेन्स लौटकर उन्होंने ई. पू. 387 में 'अकादमी' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य दार्शनिक और वैज्ञानिक अनुसंधान का व्यवस्थित विकास करना था। अपने जीवन के शेष 40 वर्षों तक प्लेटो 'अकादमी'में ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन और शोध-कार्यों का संचालन करते है। यही अकादमी यूरोप की प्रथम युनिवर्सिटी मानी जाती है।

प्लेटो के कुल 36 ग्रंथ माने जाते है, जिनमें 23 संवाद और 13 आलेख या पत्र है। उनकी मृत्यु के बारे में दो विचार है, एक उनकी मृत्यु ई. पू. 347 में एक भोज के समय हुई, दूसरी मान्यता है कि लेख लिखते समय मृत्यु हो गई।

1.3.3 प्लेटो का अनुकरण सिद्धांत

पाश्चात्य काव्यशास्त्र की व्यवस्थित परंपरा आचार्य प्लेटो से शुरू होती है। ग्रीक साहित्यशास्त्र के प्लेटो अपूर्व मेधावी थे। प्लेटो सुकरात के शिष्य थे। प्लेटो पर सुकरात के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा था। सुकरात के कारण प्लेटो ने ललित रचनाओं को नष्ट कर दिया और भावनाओं को छोड़कर तर्क का मार्ग अपना लिया। प्लेटो की अकादमी यूरोप की प्रथम यूनिवर्सिटी मानी जाती है। इस यूनिवर्सिटी में चालिस वर्ष तक वे अध्ययन-अध्यापन और शोध कार्य करते रहे।

प्लेटो ने काव्य के संदर्भ में माइमेसिस अर्थात अनुकरण शब्द का प्रयोग परंपरा सिद्ध रूप में किया। प्लेटो ने अनुकरण शब्द का प्रयोग हू-ब-हू ज्यों का त्यों नकल करने के अर्थ में लिया था। यह सत्य है कि प्लेटो के काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों में कई शिथिलताएं है किंतु उनका अनुकरण सिद्धांत श्लाघनीय है। प्लेटो का मत था कलाकार वास्तविक जगत के पदार्थों का निर्माण न करके केवल छायाभास का निर्माण करता है। अर्थात कला अनुकृति है। प्लेटो के अनुसार अनुकर्ता अथवा छायानुकृतियों का निर्माता केवल बाह्य रूप का ज्ञान होता है। विषयों के सत्य रूप अथवा स्थिति का नहीं।

प्लेटो कला और अनुकरण का घनिष्ठ संबंध मानते थे किंतु अनुकरण को गंभीर कार्य नहीं स्वीकार करते उसे अज्ञान और असावधानी उसके प्राप्त उत्तेजना के कारण त्याज्य मानते हैं। प्लेटो की धारणा है कि कवि की कविता के द्वारा स्वयं ईश्वर हम से बातें करता है वह काव्य को अनुकृति मानते हैं। सभी सुंदर रचनाएं ईश्वरीय प्रेरित होती है। प्लेटो के अनुसार कवि जिन व्यक्तियों या वस्तुओं का चित्रण करता है वह पहले से ही भौतिक जगत में विद्यमान है जिनकी अनुकृति वह अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करता है। अनुकृति के दो भेद हो सकते है एक कुर्सी को देखकर कुर्सी बनाना और अनकृति के द्वारा दूसरी अनुकृति प्रस्तुत करना है इसमें दूसरे प्रकार की अनुकृति मिथ्या एवं भ्रामक अनुकृति है। अन्य कलाओं की तरह काव्य भी अनुकरण धर्मी कला है। प्लेटो ने काव्य अज्ञान से उत्पन्न सत्य से दूर माना है। पलंग यथार्थ है, ईश्वर निर्मित है। बढई और चित्रकार ने बनवाया पलंग असत्य है।

कवि या चित्रकार की वस्तुता कृति नहीं होती है। वह अनुकृति एवं प्रतिकृति सिर्फ प्रस्तुत करता है। रचनाकार अनुकृति के बल पर जो प्रस्तुत करता है वह किसी भी दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होती है।

प्लेटो के विचार से कलात्मक कृतियां समष्टि के लिए सर्वथा अनुपयोगी है। प्लेटो ने मूल सत्य का कर्ता ईश्वर को माना है। प्लेटो का यह तर्क है कि जैसे चर्मकार का चित्र बनाने वाला चित्रकार स्वयं चर्म की कला से अनभिज्ञ होता है; फिर भी उसका चित्र, चित्रकार के अज्ञान होते हुए भी वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करता है क्योंकि उसके निर्णय का आधार रंग रूप की समानता होती है। एक मोची के कार्य को देखकर जब दूसरा मोची अनुकृति द्वारा जूते की जोड़ी बनाता है तो उसे अमौलिक कह सकते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जाता है कि प्लेटो ऐसे काव्य का स्वागत करते है जिसमें सत्य और ज्ञान की पूर्ण प्रतिष्ठा हो। प्लेटो के दृष्टिकोण से आदर्श, वास्तविक और अनुकृत वस्तु के तीन रूप है।

1.3.4 प्लेटो का काव्य प्रेरणा सिद्धांत

प्लेटो दार्शनिक यूनानी होते हुए भी कवि हृदय संपन्न थे। प्राचीन काल के काव्यसंबंधी यह धारणा रही है कि वह एक दैवी प्रेरणा है। भारत में सरस्वती, शारदा तो पाश्चात्यों में मुसी की वंदना की जाती है। पाश्चात्त्यों ने कवि को निष्क्रिय माना तो भारत में दैवी कृपा से कवि सृजन करता है ऐसी मान्यता रही है। यहाँ कवि प्रेरणा का अर्थ कवि की प्राकृतिक शक्ति और उसके सजग प्रयत्न से रहा है।

प्लेटो ने लिखा है, 'कविता और दर्शन का झगडा पुराना है।' प्लेटो से पूर्व काव्य का प्रयोजन आनंद देना, शिक्षा देना रहा था। प्लेटो सत्य का उपासक, तर्क का हिमायती था। वह बौद्धिक आनंद स्वीकार करता है।

दैवी प्रेरणा :

प्लेटो दैवी प्रेरणा पर विश्वास रखता है। काव्य का निर्माण दैवी प्रेरणा का परिणाम मानता है। जिस प्रकार चुंबक लोह शृंखलाओं को आकर्षित ही नहीं करता, अपितु उन्हें अन्य कडियों को खींचने की शक्ति भी प्रदान करता है, उसी प्रकार काव्य देवियों की प्रेरणा से कवि से श्रोता तक सभी काव्य शृंखला में आबद्ध हो जाते हैं। कवि जब तक पूर्णत: प्रेरित होकर बोधशून्य नहीं होता तब तक वह मौलिक सृजन करने में असमर्थ रहता है। बोधशून्यता का अर्थ किसी मानसिक विकृति से नहीं अपितु सहज आत्मविस्मृति से ही है। वह मानता है, 'जब तक कोई भी कवि बोधरूपी मनशक्ति को धारण नहीं करता है तब तक काव्य के देव वाणी तुल्य उपहार का अधिकारी नहीं होता।

प्लेटो के मतानुसार सभी सुंदर रचनाएं ईश्वरीय प्रेरित होती है। कवि तो इस दिव्य-दृष्टि द्वारा अधिकृत रूपांतर मात्र होता है। जब उन्हें दैवी प्रेरणा नहीं मिलती तब उनका व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है, और अक्षय देवलोक के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करते हुए मानवी प्रवृत्तियों को विकृत करता है।

दैवी प्रेरणा से अभिभूत होकर कवि काव्यरचना और कलाकार कला की सृष्टि करता है। उच्च काव्य उच्च विचारों, अच्छे संस्कारों को बल देता है। यह काव्य समाज के लिए उपयोगी होता है। निम्न कोटी का काव्य हानिकारक है। मानव मन को धर्म और नीति के मार्ग से विचलित करनेवाली रचनाएँ भयावह होती है। अनैतिकता भ्रष्टाचार को बढावा देती है।

प्लेटो का विचार हैं 'कवि की कविता के माध्यम से स्वयम् ईश्वर हमसे बातें करता है। वे काव्य को अनुकृति मानते है। प्लेटो ऐसे काव्य का स्वागत करता है, जिसमें सत्य और ज्ञान की पूर्ण प्रतिष्ठा हो। लोककल्याण एवं लोकमंगल काव्य के प्रयोजन है। नैतिक उद्देश्य की साधना को श्रेष्ठ मानता है। वह उसे सत्य मानता है जो समाज और व्यक्ति के नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन को बल प्रदान करे। वे काव्य को इसी कसौटी पर कसते है। जो काव्य इस कसोटी पर सही उतरता है वह सत्य है और शेष काव्य असत्य।

इंओन में प्लेटो कहता है– 'काव्यदेवी सर्वप्रथम मनुष्यों को स्वयं प्रेरित करती है..... कारण कि सभी अच्छे कवि, चाहे वे महाकाव्य के स्थापिता हो अथवा प्रगीत के अपनी कविता की रचना कला के द्वारा नहीं करते बल्कि इसीलिए करते है कि वे अंत:प्रेरित और आविष्ठ होते है।'' वे आगे कहते है– ''मैं कहता हूँ कि ईश्वर कवियों के चित्त को उनसे अलग कर लेता है अपने अभिकर्ता के रूप में उनका उपयोग करता है।''

इसका तात्पर्य यह है–

(अ) कवि उन्मत्त व्यक्ति है। वह काव्यदेवी द्वारा अंत:प्रेरित तथा आविष्ट होकर रचना करता है।

(ब) कवि की रचना कला के नियमों का नहीं बल्कि ईश्वरीय प्रेरणा का अनुवर्तन करती है।

(क) अंत:प्रेरणा की अवस्था में कवि ज्ञानशून्य और आत्मविस्मृत रहता है।

(ड) काव्यदेवी किसी कवि से जिस विधा की रचना कराना चाहती है, कराती है, उसमें कवि का कोई वश नहीं चलता।

(इ) कवि केवल माध्यम है, वास्तविक रचियेता स्वयं ईश्वर है।

प्लेटो की धारणा है– कवि की काव्यचेतना एक बांसुरी है, जिसमें स्वर फुंकने का काम ईश्वर करता है अथवा एक वीणा है जिसके तार ईश्वर के स्पर्श से झंकृत हो उठते है। उसमें विद्यमान काव्य सृजन की शक्ति जब तक रचना में प्रवृत्त नहीं होती जब तक ईश्वरीय प्रेरणा नहीं होती। ईश्वर कवि विशेष को काव्यविशेष की ही प्रेरणा देता है, इसलिए कोई महाकाव्य लिखता, कोई प्रगीत कोई नाटक।

स्पष्ट है काव्यदेवी के अनुग्रह से ही कोई उत्कृष्ट काव्य का सृजन होता है। यह दिव्य प्रेरणा एक प्रकार का उन्माद है। प्लेटो कला सृष्टि के लिए ईश्वरीय प्रेरणा दैवी कृपा को अनिवार्य मानते है।

काव्य और सत्य –

प्लेटो ने मूल सत्य का कर्ता ईश्वर को माना है। उसके अनुसार सत्य की अनुकृति यह संसार है और इस संसार का अनुकरण ही काव्य है। इस प्रकार प्लेटो के अनुसार काव्य सत्य से दूर भी है और अनुकरण के सिद्धांत के अनुसार समीप भी है। वह मानता है काव्य का सत्य वास्तविक नहीं होता। होमर के नायक रोते, छाती पीटते है, वास्तविक जीवन में इसे अच्छा नहीं माना गया, परंतु काव्य में इसे सानंद पढ़ा जाता है, इसलिए काव्य का सत्य वास्तविक सत्य नहीं।

कविता को अज्ञान से उत्पन्न, सत्य से दूर माना है। यथार्थ पलंग वह है, जिसका निर्माता ईश्वर है। बढ़ई और चित्रकार द्वारा बनाया गया पलंग असत्य है, सत्य की छाया है। उसी प्रकार त्रासदी लेखक न तो अपने अनुकार्य की प्रकृति से परिचित होता है और न उसका स्वरूप ही अंकित कर पाता है।

उनके अनुसार कवि आत्मा के सत्य का उद्भावन करने के लिए नहीं लिखता अपितु अपने को प्रसिद्ध बनाने के लिए लिखता है। ट्रैजेडी का कवि विवेक को नष्ट कराता है, वासनाओं को जागृत करता

है, इसी कारण काव्यरूप को वास्तविक सत्य नहीं माना। वह मानता है- (1) मूल सत्य एक है, अखंड है, ईश्वर उसका कर्ता है। (2) यह वस्तु जगत उस सत्य-सत्य का अंश नहीं, अनुकरण है। (3) कलाकार इस अनुकरण का भी अनुकर्ता है। अत: सत्य से तिगुणा दूर है। (4) सभी कलाकार की तरह त्रासदीकार सत्य से दूर रहा है।

सत्य का अनुकरण –

प्लेटो के मतानुसार, कवि सब सत्य का ज्ञाता होता है, जो इन व्यक्तियों के संपर्क में आकर चले गए और उनकी कृतियों से सम्मोहित हो गए। उनकी कृतियों का अवलोकन करते समय उन्होंने यह भूला दिया कि वे सत्य से तिगुणा दूर है वे सत्य का आभास मात्र है। कवि शब्दों वाक्यांशो से ही विषय को रूप रंग देता है। पाठक अज्ञानी होते है जो कवि के शब्दों के आधारपर निर्णय लेते है। यहां स्पष्ट है अनुकर्ता केवल बाह्य रूप का ज्ञाता होता है, विषयों के सत्यरूप अथवा स्थिति का नहीं। इसीलिए वह काव्य को सत्य भासित होनेवाले विषयों का अनुकरण तथा कवि क्रीडा मानते थे।

प्लेटो सत् काव्य को नीतिशास्त्रीय शब्दावली के आधार पर तौलते है। उनके मतानुसार सत्काव्य वह है जो मानव स्वभाव का सच्चा चित्रण इस प्रकार प्रस्तुत करे की उससे मानव, स्वभाव में जो कुछ भी महान है उसका संवर्धन हो। प्लेटो ने काव्य के नियमन की आवश्यकता पर बल दिया है। वे काव्य में 'शिव' के प्रबल समर्थक है। यहां स्पष्ट है काव्य के प्रति उनका दृष्टिकोण नैतिक और सामाजिक है। उन्होंने आत्मा में संयम, न्यायप्रियता, कर्तव्यनिष्ठा, सद्भावना के संस्कार डालना तथा अन्याय, असंयम, दूराचार, अपराध की प्रवृत्तियों को दूर करना आदि उद्देश्य माने है।

यहाँ स्पष्ट है, पाश्चात्य आलोचना में प्लेटो का स्थान विशिष्ट एवं महत्तवपूर्ण है। आदर्श गणराज्य की स्थापना यही उद्देश्य माना। काव्य-कला के स्वरूप, प्रयोजन, प्रभाव से संबंद्ध विचारों का उद्भावक प्लेटो ही है। वे मानते है, 'महान साहित्य में मनुष्य के नैतिक पक्ष को समृद्ध तथा संतुष्ट करने की शक्ति होनी चाहिए।' जो साहित्य सत्य, शिव है वही सुंदर है, यही उनकी धारणा है।

प्लेटो ईश्वरीय सत्ता प्रेरणा को कला सृष्टि का अनिवार्य साधन मानते है। काव्यदेवी के अनुग्रह और प्रसाद से ही कोई कवि उत्कृष्ठ काव्य की रचना करता है, यह दिव्य प्रेरणा एक प्रकार से उन्माद ही है। प्लेटो की काव्यशास्त्रीय दृष्टि समाजपरक लाभकारी एवं नैतिक रही है। प्लेटो की तार्किकता प्रखर, अभिव्यंजना प्रांजल, तथा शैली आकर्षक है। उनके व्यक्तित्व के उपादान कवि के है और कार्य उन्हे दार्शनिक का करना है। ऐसा व्यक्तिं 2500 वर्षों तक चर्चा का विषय बना रहा है, वही उसकी महानता है।

सारांश : उपरोक्त सभी बातों पर संक्षिप्त रूप में विचार करेंगे।

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास तीन भागों में विभाजित है- 1) प्राचीन काल, 2) मध्य काल, 3) आधुनिक काल

2. कवि दैवी प्रेरणा और आवेश में आकर काव्य का सृजन करता है। उसकी वाणी ईश्वरीय होती है। ईश्वरीय प्रेरणा कला सृष्टि का अनिवार्य साधन मानते है।

3. पाश्चात्य आलोचना के इतिहास में प्लेटो का स्थान विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण है। उनका उद्‌देश्य था गणराज्य की स्थापना करना। काव्य, कला के स्वरूप, प्रयोजन, प्रभाव से संबद्ध अनेक विचारणाओं के उद्‌भाषक प्लेटो ही है।

4. कवि का वर्णन सत्य न होकर काल्पनिक, अतिरंजित, भावुक और अज्ञानजन्य है जो समाज को गलत दिशा में ले जाता है।

5. प्लेटो ऐसे काव्य का स्वागत करता है जिसमें सत्य और ज्ञान की पूर्ण प्रतिष्ठा हो।

6. प्लेटो के दृष्टिकोण से वस्तु के रूप है- (1) आदर्श (2) वास्तविक (3) अनुकृत।

7. प्लेटो कविता और कला में वस्तु के साथ-साथ उसका रूप भी महत्वपूर्ण मानता है। काव्य में वह लय और छन्द को विशेष महत्व देता है।

(प्लेटो संबंधी अधिक जानकारी के लिए देखिए- (1) देवेंद्रनाथ शर्मा-पाश्चात्य काव्यशास्त्र- पृष्ठ 1 से 19. (2) भगीरथ मिश्र-पाश्चात्य काव्यशास्त्र-पृष्ठ 1 से 10)

1.3.5 अरस्तू का परिचय (ऑरिस्टॉटल)

अरस्तू का परिचय :

यूरोपीय चिंतन और पाश्चात्य व्यवस्थित विचार धारा के आदि प्रवर्तक, यथार्थवादी दार्शनिक तथा व्यापक ज्ञान के विश्व कोश अरस्तू का जन्म ई. पू. 384 में उत्तरी यूनान के मकदूनिया के स्तगिरा नामक नगर में हुआ। इनके पिता निकोमेकस सिकंदर के पितामह अमितास के दरबार में चिकित्सक थे। उनका लालन-पालन सुसंस्कृत, संपन्न, अभिजात वातावरण में हुआ। उनकी मेधा विस्मयजनक थी, इसलिए प्लेटो की अकादमी में दाखिल हो गए। स्वयंम प्लेटो ने कहा था- ''मेरे अकादमी के दो भाग है एक है शरीर, दूसरा मस्तिष्क। अरस्तू मस्तिष्क है और अन्य छात्र शरीर है।''

प्लेटो और सुकरात के विचारों का उन पर प्रभाव रहा है। प्लेटो की मृत्यु के पश्चात अकादमी के आचार्य की गद्‌दी मिलेगी ऐसा विश्वास था। मगर अरस्तू विदेशी होने के कारण पद नहीं मिला, परिणामत: एथेन्स छोडकर ऐसस में नई अकादमी की स्थापना की। मकदूनिया के राजा फिलिप ने अपने पुत्र सिंकदर की शिक्षा की जिम्मेदारी अरस्तू पर सौपीं। सिकंदर अपने गुरू का आदर करता था। राजा फिलिप की मृत्यु के पश्चात सिकंदर राजा बना, विजय अभियानों में लड्‌डा रहा। अंत में एथन्स में बौद्‌धिक केंद्र शुरू किया। वहाँ विभिन्न विषयों पर व्याख्यान देतें तो सामान्य नागरिकों के लिए भाषण देते रहे।

अरस्तू ने दर्शन, काव्य, राजनीति, भाषण, भौतिक, जीव, वनस्पति, मौसम शाखा आदि पर लेखनी चलायी। उन्होंने लगभग पच्चास ग्रंथ लिखें हैं। 'रिटोरिक्स' और 'पोईटिका' काव्यशास्त्र संबंधी रचनाएं है।

पोईटिका पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रकाश स्तंभ है। काव्य, नाटक पर इसमें चिंतन रहा है। अरस्तू के काव्य और कलासंबंधी विचार यूरोपीय काव्य चिंतन के लिए मिल के पत्थर बनकर मार्गदर्शन करते रहे है।

अरस्तू की मृत्यु 63 साल की उम्र में याने ई. स. पूर्व 321 में हुई। मृत्यु के पूर्व युगप्रवर्तक वसीयननामा लिखा जिसके द्‌वारा उन्होने अपने सभी दोस्तों को दासता से मुक्त किया। इसे 'दासता की प्रथम मुक्ति घोषणा' होने का श्रेय दिया जाता है।

अरस्तू के व्यक्तित्व संबंधी कुछ विचार–

1. **स्कॉट जेम्स :** ''अरस्तू ने काव्य को दार्शनिक, राजनीतिक तथा नीति के अत्याचारों से मुक्त किया।

2. **एअरक्राम्बी :** अरस्तू का काव्यशास्त्र साहित्य का प्रथम पूर्ण दार्शनिक विवेचन ही नहीं है, अपितु कालांतर के सभी विवेचनों का आधार भी है।

3. **इलियट :** अरस्तू केवल महत्वपूर्ण व्यक्ति ही नहीं अपितु विश्वजनीन बुद्‌धिमत्ता से सम्पन्न था।

4. **बुचर :** ''अरस्तू ने अपने युग में प्रचलित कला अनुकरण है इस सूत्र का स्वीकार किया किन्तु उसकी नवीन व्याख्या की।''

अरस्तू के मन पर सुकरात और प्लेटो की विचारधारा का प्रभाव था। अत: आगे चलकर सुकरात, प्लेटो, अरस्तू पाश्चात्य चिंतन परंपरा में तीन पीढ़ियों के प्रधान और महान विचारक के रूप में प्रसिद्‌ध हो गए। पाश्चात्य चिंतन दर्शन धारा के प्रवर्तक अरस्तू, व्यापक ज्ञान के विश्वकोश माने गए। उनके सिद्‌धांत इसका प्रमाण है। अनुकरण सिद्‌धांत, विरेचन सिद्‌धांत और त्रासदी अपने आप में महत्त्वपूर्ण सिद्‌धांत है। जिस पर हम स्वतंत्र रूप में हम विचार करेंगे–

1.3.6 अरस्तू का विरेचन सिद्‌धांत

अरस्तू यूनान के प्रसिद्‌ध दार्शनिक, प्लेटो के प्रतिभासंपन्न शिष्य, विवेकशील, सूक्ष्मद्रष्टा, अध्यापक तथा काव्यशास्त्री थे। जो एक के बाद एक कई युग तक अपनी विद्‌वत्ता तथा प्रतिभाद्‌वारा यूरोप के मनीषियों, चिन्तकों, कवियों को प्रभावित करते रहे। अरस्तू ने सिद्‌धांतों का प्रतिपादन किया और प्लेटो के विभिन्न आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयास भी किया। अरस्तू का काव्य–कलासंबंधी मत सौंदर्य शास्त्र पर आधारित है। प्लेटों के विचारों का विरोध करते हुए 'भावों के विरेचन' की बात कहीं। उन्होंने Katharsis से अर्थ ग्रहण किया। उसका विचार था, त्रासदी प्रेक्षक के भावों को पहले उद्दीप्त करती है, पर साथ ही यह भी कहा कि वह उनका 'विरेचन' करती है।

विरेचन का उल्लेख–

अरस्तू ने न तो विरेचन–सिद्‌धांत की कोई परिभाषा अपने किसी ग्रंथ में दी है न कही उसकी व्याख्या की है। केवल दो स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग किया है–

1. प्रथम प्रयोग अपने ग्रंथ 'पोइटिक्स' में त्रासदी की परिभाषा का स्वरूप निश्चित करते हुए कहा है- त्रासदी किसी गंभीर, स्वत: पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसमें करूणा तथा त्रासद्वारा इन मनोविकारों का उचित 'विरेचन' किया जाता है। यह भी स्पष्ट किया है- त्रासदी का मूलभाव त्रास और करूणा है, इन भावों को उद्बुद्ध कर शारीरिक परिष्कार के समान विरेचन की पद्धति से मानव मन का परिष्कार करना त्रासदी का मुख्य उद्देश्य है।

2. दूसरा प्रयोग 'राजनीतिशास्त्र' ग्रंथ में किया है। 'संगीत का अध्ययन शिक्षा, धार्मिक आवेग, आनंद और विरेचन के लिए होना चाहिए। यहां विरेचन का तात्पर्य शुद्धि से है। विरेचन राग मानव समाज को निर्दोष आनंद प्रदान करता है। इससे आत्मा विशद प्रसन्न हो जाती है। विरेचन का अर्थ शुद्धि, परिष्करण, मानसिक स्वास्थ्य है। वह यद्यपि नैतिकता का समर्थन करते है।

विरेचन का अर्थ –

अरस्तू द्वारा प्रयुक्त मूल शब्द Katharsis है, इसका अनुवाद रेचन, परिष्करण, विरेचन किया गया है। मूलत: यह शब्द चिकित्सा शास्त्र का है जिसका अर्थ है रेचक, औषध द्वारा अशुद्ध तथा अस्वास्थ्य कर पदार्थ का बहिष्कार कर शरीर व्यवस्था को शुद्ध और स्वस्थ करना। अरस्तू स्वयं वैद्य थे। अत: उन्होंने इसका प्रयोग काव्यशास्त्र में लक्ष्यार्थ के रुप में किया। अरस्तू का मत है- 'त्रासदी करूणा तथा त्रास के कृत्रिम उद्रेकद्वारा मानव के वास्तविक जीवन की करूणा और त्रास भावनाओं का निष्कासन करती है। यह निष्कासन ही वास्तव में विरेचन है। मन शुद्ध करने का साधन विरेचन है।'

विरेचन मल-निष्कासन के द्वारा शरीर-शोधन तथा त्रिविध दोषों में साम्यावस्था के निष्पादन की अन्यतम प्रक्रिया या विधि है। इससे शरीर संतुलित होता है, जिसके परिणाम स्वरूप व्याधियाँ हट जाती है। शरीर स्वस्थ होता है। शारीरिक मल निष्कासन के समान मानसिक संतुलन के लिए मानसिक-मल निष्कासन शोधन जरूरी है। क्योंकि ईर्ष्या, लोभ, द्वेष, क्रोध आदि मानसिक मल मानवी मन को अस्वस्थ, असंतुलित बनाते है। इसकी मात्रा संतुलित रखना अनिवार्य है।

आयुर्वेद में विरेचन का शब्दप्रयोग शारीरिक मल के रोधन के लिए ही रूढ़ है, किन्तु अर्थ-विस्तार के द्वारा उसका प्रयोग भाव-रोधन के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। विशेषत: अरस्तू द्वारा 'कथार्सिस' का प्रयोग इसी संदर्भ में किया है। अनुकरण के समान पश्चिम देशों में कथार्सिस' के अर्थ में विवाद रहा है। इसकी धार्मिक, नैतिक, मानसिक, कला आदि कई स्तरोंपर व्याख्याएं हुई है। सदियों से यह धारणा रही कि भावों के विरेचन के द्वारा दु:खातंक नैतिक प्रभाव उत्पन्न करता है। इसके संदर्भ में मतमतांतर है। विरेचन की चर्चा में महत्वपूर्ण आधार मानसिक या भावात्मक है साथ ही कलात्मक भी। अत: कलात्मक और भावात्मक का संदर्भ देखना होगा- अर्थ को ढूँढना होगा। अरस्तू ने इसका प्रयोग दु:खांतक के प्रभाव के प्रसंग में किया है, वह कहता है ''दुखांतक ऐसे कार्य व्यापार का अनुकरण है जो करूणा और भय को उद्बुद्ध कर इन भावों का उचित विरेचन करे।'' प्राचीन शब्दों में नवीन अर्थ भरकर नवीन संदर्भों में प्रयोग किया है- इसका प्रमाण विरेचन है।

अरस्तू के परवर्ती व्याख्याकारों ने लक्षणों के आधार पर विरेचन के तीन प्रकार के अर्थ दिए है।

1. **धर्मपरक अर्थ :** यूनान में नाटकों का आरंभ धार्मिक उत्सवों से ही हुआ। प्रो. मरे कहते है– 'उत्सव में देवता से प्रार्थना की जाती है, विगत वर्ष के पापों, कुकर्मों से उपासकों को मुक्त करे तथा आगामी वर्ष भी इससे रक्षा करे। उत्सव शुद्धि का प्रतीक था।' अरस्तू मानता है धार्मिक बाह्य संस्कारों द्वारा आंतरिक विकारों की शान्ति और शमन यही विरेचन सिद्धांत की प्रेरणा है।

2. **मानसिक/नीतिपरक अर्थ :** जर्मन विद्वान बारवेज का मत है, मानव मन में अनेक मनोविकार वास्तव्य के रूप में रहते है। इनमें करूणा, त्रास आदि मनोवेग मूलत: दु:खद होते है। जब वह रंगमंच पर दिखाया जाता है तब प्रेक्षक त्रासदी को देखकर मानसिक शांति का सुखद अनुभव करता है। अत: जिससे मनोवेगों का दंश समाप्त हो जाए।

3. **कलापरक अर्थ :** प्रो. बूचर का मत है, विरेचन शब्द चिकित्साशास्त्र तथा मनोाविज्ञान से संबंधित नहीं बल्कि कला सिद्धांत का भी अभिव्यंजक है। त्रासदी का कर्तव्य कर्म है करूणा त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है किन्तु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है, इनको कला के माध्यम में ढालकर परिष्कृत तथा स्वच्छ करना है। कला का अर्थ पहले मानसिक संतुलन और बाद में कलात्मक परिष्कार।

अरस्तू युगीन परिस्थिति, धार्मिक विचारों से प्रभावित थे। धार्मिक संगीत श्रोता के भावों को जागृत कर उन्हें शांत करता है। अत: विरेचन का अर्थ भावों का शमन न मानकर उसका परिष्करण और प्रशिक्षण भी है। विरेचन के मानसिक अर्थ का संबंध आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्र से भी है। अरस्तू का मत था 'विरेचन के द्वारा प्रेक्षक के मन की ग्रंथियाँ खुल जाती है' यहां भावों का संतुलन महत्वपूर्ण है।

विरेचन और आनंद –

सामान्यत: दु:ख से सुख की प्राप्ति करना विरोधाभास है। करूणा, त्रास कटू है, ये दोनों दु:खद अनुभूति के भेद है। त्रास में आसन्न, अनिष्ट, कटू अनुभूति तो करूणा में पीडा है। अरस्तू का मत है मानसिक विरेचन द्वारा यह कटूता नष्ट हो सकती है। मनस्थिति सुखद हो सकती है। प्रो. बूचर ने दु:ख से सुख के प्रतीयमान विरोध की शान्ति के लिए दो कारण दिए है।

1. स्व की शूद्रता से मुक्ति।

2. कलात्मक प्रक्रिया।

उनका कथन है प्रत्यक्ष जीवन में त्रास, करूणा, दु:खद अनुभूतियाँ है परंतु त्रासदी में वह वैयक्तिक दंश से मुक्त होकर साधारणीकरण रुप में उपस्थित हो जाती है। प्रो. बूचर का कहना है– विरेचन आनंद की भूमिका है, आनंद नहीं।

विरेचन और करूण रस –

अरस्तू का त्रासद प्रभाव और भारतीय काव्यशास्त्र का करूण रसवाला सिद्धांत कुछ हद तक समान है। दोनों का ही आधार दु:खद मनोवेग है। त्रासदी में करूणा और त्रास तो करूण रस में करूणा है। अरस्तू के मतानुसार कवि करूणा और त्रास के उद्रेक द्वारा मानव मनोविकारों का उचित विरेचन करने में समर्थ होता है। हम इसी दुखान्त काव्यों को पढ़कर आनंद प्राप्त करते है। हमारे भाव, विचार उदात्त बनते है। विरेचन सिद्धांत तथा करूण रस के आस्वाद का सिद्धांत अतिशय उत्तेजना द्वारा मनोवेगो के शमन तथा मन:शांति तक तो समान्नातर है पर विरेचन सिद्धांत की सीमा तो यही तक है, जब की भारतीय करूण रस उद्वेग का शयन मात्र न होकर भोग भी है।

विरेचन सिद्धांत पर आक्षेप –

1. विरेचन प्रक्रिया के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं। वास्तविक अनुभव में विरेचन नहीं है। करूणामय से मनोवेग जागृत होता है, मगर मनशांति नहीं। इसका खंडन करते हुए डॉ. नगेंद्र कहते है– 'सफल त्रासदी का चमत्कार मूलत: रागात्मक है, यह विरेचन प्रक्रिया भावों को उद्बुद्ध करती है, आनंद की भूमिका प्रस्तुत करती है। यदि ऐसा न हो तो कौन समय, धन खर्च करके त्रासदी देखेगा।

2. त्रासदी में प्रदर्शित भाव अवास्तविक होते है, भाव उत्तेजित नहीं होते। यह आक्षेप गलत है। नाटक सदा कला का आस्वाद ही है। हैमलेट, राजा हरिश्चंद्र नाटक के दु:खान्त प्रसंग देखकर प्रेक्षक रोते है। यही रागात्मक प्रभाव का परिणाम है। मनोवैज्ञानिक सिद्धांत विरेचन सिद्धांत का पुष्ठ आधार है।

अरस्तू के मतानुसार ''वास्तव में करूणा और त्रास दु:खद है, लेकिन मानसिक विरेचन द्वारा यह कटूता अथवा दु:ख नष्ट हो जाता है। उत्तेजना समाप्त होकर सुखद मनशांति प्राप्त होती है।

संक्षेप में अरस्तू का 'विरेचन सिद्धांत' एक महत्वपूर्ण देन है। काव्य की महत्ता बढाने का गौरव बढाने के लिए विरेचन का प्रतिपादन किया। पाश्चात्य काव्यशास्त्र की स्थायी यही उपलब्धि है। यह सच है सच्ची दु:खद घटना हमें अंतर्मुखी बनाती है। वह हमें दु:ख से, जीवन से भाग जाने का संकेत नहीं देती बल्कि डटकर मुकाबला करने का संदेश देती है। संघर्षपूर्ण प्रसंगों को देखकर मानव की महानता, विजयता पर भी प्रेक्षक विश्वास करता है। सच्ची त्रासदी श्रेष्ठ जीवन मूल्यों से पाठकों को परिचित कराती है। यही महत्ता है।

विरेचन से केवल भावात्मक विश्रांति ही नहीं होती, बल्कि भावात्मक परिष्कार भी हो जाता है। दु:खांतक देखने के पश्चात भी दु:खकारक भावों से मानव सदा के लिए मुक्ति नहीं चाहता, नहीं होती। विरेचन से स्थायी भाव परिष्कार नहीं होता मगर तात्कालिक अवश्य होता है यही विरेचन की सार्थकता है।

अत: विरेचन सिद्धांत अरस्तू तथा पाश्चात्य काव्यचिंतन की स्थायी उपलब्धि कही जाती है।

1.3.7 अरस्तू का त्रासदी सिद्धांत

पश्चिम में सर्वप्रथम त्रासदी का विवेचन यूनान में हुआ। प्लेटो ने त्रासदी और कामदी के रूप में काव्य का वर्गीकरण किया। आदर्श त्रासदी को वह उच्चतम तथा शालीनतम जीवन की अनुकृति मानता है। उसके पश्चात अरस्तू ने गंभीर विवेचन किया। उन्होंने अनुकरण को काव्य का मूल व्यापार माना है, तो त्रासदी को सर्वश्रेष्ठ रूप बताया है।

त्रासदी की परिभाषा –

त्रासदी किसी गंभीर, स्वत:पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति या प्रतिनिधान है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यात रूप में न होकर कार्य व्यापार रूप में होती है और जिसमें करूणा तथा भय के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।

अरस्तू के द्वारा निर्मित और आलोचना के इतिहास में बहुचर्चित त्रासदी की परिभाषा इसप्रकार-

''दुखांतक/त्रासदी ऐसे कार्यव्यापार का अनुकरण है जो गंभीर, पूर्ण तथा कुछ विस्तृत हो, जिसकी भाषा, रचना के विभिन्न भागों में पृथक-पृथ्क् वर्तमान प्रत्येक प्रकार के कलात्मक अलंकरणों से विभूषित हो, जो कार्य व्यापार के रूप में हों, आख्यान के रूप में नहीं, जो करूणा और भय को उद्‌बुद्‌ध कर इन भावों का उचित विरेचन करे।''

स्पष्टता के लिए इसका विश्लेषण –

1. त्रासदी कार्यव्यापार का अनुकरण है।
2. कार्यव्यापार गंभीर, पूर्ण विस्तृत होता है।
3. कार्यव्यापार अभिनेय होता है, वर्ण्य नहीं।
4. भाषा लय, सामंजस्य, गीत आदि में समान्वित होती है।
5. कार्यव्यापार करूणा और भय को उद्‌बुदध कर इन भावों का विरेचन करता है।

अरस्तू त्रासदी को दु:खान्त होना नहीं मानते। त्रासदी को किसी कार्य की अनुकृति माना है। त्रासदी जीवन की अनुकृति हैं, क्योंकि जीवन कार्य व्यापार का दूसरा नाम है। उन्होनें त्रासदी का कार्य अपने आप में पूर्ण हो ऐसा माना है, उसमें आदि मध्य, अंत स्पष्ट हो, उन्होंने कलात्मक भाषा और शैली सौदर्य को आवश्यक माना है।

त्रासदी के तत्व का अंग –

1. **कथानक/कथावस्तु (Plot) :**

कथानक से अरस्तू का तात्पर्य घटनाओं के कलात्मक विन्यास से है। त्रासदी की यही आत्मा है। इस में घटनाएँ समग्र रूप में उपस्थित होनी चाहिए। पात्र के विकास में सहाय्यक न होनेवाले कथानक को अरस्तू

महत्व नहीं देता। अरस्तू ने विषय के आधार पर दन्तकथामूलक, कल्पनामूलक और इतिहासमूलक कथानक आदि भेद किए है।

कथावस्तु में संघर्ष होना आवश्यक है। उसी के साथ घटना संगठन भी हो। प्रासंगिक कथा का अधिकारिक कथा से संबंध होना चाहिए। कथावस्तु के नियम, आकार की चर्चा करते हुए संकलनत्रय का भी आग्रह रखा है।

हडसन ने कथावस्तु के छ: अंग माने है- (1) प्रारंभ वा प्रस्तावना (2) प्रारंभिक घटनाएँ (3) विकासोन्मुखी क्रिया व्यापार (4) चरमसीमा (5) निगति (6) उपसंहार।

कथावस्तु महत्वपूर्ण तत्व है, क्योंकि अन्य सभी तत्व इस पर आधारित होते है। 'पोएटिक्स'में इसका विस्तृत विवेचन है।

2. **चरित्र चित्रण :**

इसका आधार पात्रों का चारित्र्य है। अरस्तू के शब्दों में- 'चारित्र्य वह है, जिसके बल पर हम अभिकर्ताओं में कतिपय गुणों का आरोप करते है', या उसे कहते है जो किसी व्यक्ति की रूचि-विरूचि का प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजन को व्यक्त करे। चरित्र अच्छा हो, वह जीवन के अनुरूप हो, चरित्र में सुसंगति हो। पात्र के चरित्र में सकारण परिवर्तन होना चाहिए।

त्रासदी का नायक ही सब पात्रों एवं घटनाओं में एकता स्थापित करता है, अत: वह आभिजात्य वर्ग का होना चाहिए। अरस्तू ने चरित्र के लिए चार आवश्यक बातें कही है-

(1) चरित्र आभिजात्य हो, जो नैतिक प्रयोजन के उद्‌घाटन करने में समर्थ हो। (2) चरित्र में औचित्य हो। (3) चरित्र को जीवन के प्रति सच्चा रहना चाहिए। (4) उसमें रूप की एकता हो।

3. **विचारतत्त्व :**

अरस्तू ने वाणी से उत्पन्न होनेवाले प्रभाव का विवेचन किया है। इसमें पात्रों के चिंतन, संवाद, तर्क वितर्क का समावेश होता है। त्रासदी की भाषा सहज, स्वच्छ, संगीतात्मक, गरिमामय हो। भाषा पात्रों के भावों विचारों के अनुरूप होनी चाहिए। इसके अंतर्गत बुद्‌धि और भाव तत्व का समन्वय किया गया है।

4. **पदरचना :**

इसका संबंध अभिव्यंजना के प्रकार से है। इसमें आदेश, कथन, प्रार्थना. प्रश्न, उत्तर आदि का समावेश होता है। शब्दों द्‌वारा अर्थ की अभिव्यक्ति-पदरचना या पदावली है। इसमें अलंकृत भाषा होती है। अरस्तू का कथन है- 'मेरा अभिप्राय ऐसी भाषा से है जिसमें, लय, सामंजस्य और गीत का समावेश होता है। भाषा उदात्त, समृद्‌ध, आडंबर से मुक्त, प्रसादगुण संपन्न हो, शूद्र न हो।

5. **दृश्यविधान :**

अरस्तू के अनुसार दृश्यविधान अनुकूल हो, दृश्य का संबंध रंगमंच से होता है। रंगमंच की साज-सज्जा, पात्रों की वेशभूषा आदि का दृश्यविधान कहा जाता है। इसका संबंध नाटककार की अपेक्षा मंच के निर्माता कारिगरों के साथ अधिक होता है।

6. **गीत :**

अरस्तू ने इसे अभिन्न अंग माना है, क्योंकि उसके द्वारा त्रासदी का विषय और वातावरण अधिक गंभीर, प्रभावशाली, भव्य हो जाता है। त्रासदी में कोरस गीतों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। पात्रों की मनोदशा के विश्लेषण में गीत बडे उपयुक्त साबित होते है। अभिनेता की दृष्टि से गीत बहुत लाभकारी होते है।

संक्षेप में अरस्तू ने त्रासदी को कामदी से श्रेष्ठ माना है, उसे महाकाव्य से भी श्रेष्ठ। त्रासदी के अंतर्गत आनेवाली त्रासद स्थितियों का महत्त्व स्पष्ट किया है। अरस्तू जीवन के मूल्यों की स्वीकृति के साथ-साथ साहित्यिक मूल्यों की खोज भी करते है। उनके काव्यशास्त्र में साहित्यिक और जीवनगत मूल्यों के दर्शन होते है। दोनों में सहअस्तित्व रहा है।

अरस्तू-मूल्यांकन :

1. अरस्तू की सब से बडी देन है काव्यशास्त्र की स्वायत्तता की स्थापना, उसे गंभीर, विचार के योग्य विषय सिद्ध करना।

2. दार्शनिकता और वैज्ञानिकता अरस्तू की विशेषताएँ है। अरस्तू अपनी बात निरपेक्ष भाव से रखते है।

3. अरस्तू ने कहा है 'कौन कहता है की कवि अनुकर्ता है? वह तो कर्ता है, ईश्वर की तरह काव्य जगत् का निर्माता है।'

4. अनुकरण को अरस्तू ने उस स्थिति से उबारा जिसमें प्लेटो ने उसे डाल रखा था।

5. अरस्तू के काव्यशास्त्र की जीवंतता का यह प्रमाण है कि उसके सूत्रों को पकडकर इस शताब्दी में दो आलोचक संप्रदाय विकसित हुए।

6. अरस्तू की दृष्टि में सबसे प्रमुख है- 'काव्य के सर्वांगपूर्ण विवेचन की प्रतिज्ञा कर केवल दु:खांतक का विवेचन करना।

सेंट्सबरी के शब्दों में, 'जो आलोचक की भूमिका पूरी करना चाहता है, उसके लिए, बिना गंभीर क्षति उठाए, अरस्तू का अध्ययन न करना असंभव है।'

अत: आलोचना के सिकंदर अरस्तू है। उनका विरेचन सिद्धांत प्रौढ, स्पष्ट, शास्त्रीय पद्धति पर आधारित होने के कारण पाश्चात्य काव्यशास्त्र में उसका स्थान महत्वपूर्ण है।

(जादा जानकारी के लिए : (1) कैलास अवस्थी : काव्यशास्त्र युग और प्रवृतियाँ- पृष्ठ 316-319, (2) देवेंद्रनाथ शर्मा : पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृष्ठ 20 से 68).

1.3.8 लोंजाइनस् : उदात की अवधारणा

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के क्षेत्र में प्लेटो, अरस्तू के पश्चात लोंजाइनस या लोंगिनुस प्रसिद्ध और समर्थ समीक्षाशास्त्री माना जाता है। उनका समय ईसा की प्रथम या तृतीय शताब्दी माना है। उनके व्यक्तित्व पर संदेह है मगर परंपरा से इस नाम के साथ 'उदात्त' काव्यसिद्धांत जुडा है।

लोंजाइनस् की 'पेरिइप्सुस' महत्वपूर्ण रचना है, इसका अर्थ 'औदात्य', 'ऊँचाई' है। इसका अंग्रेजी में अनुवाद "On the sublime" है। वे प्लेटो से प्रभावित, प्रथम स्वच्छंदतावादी या सौंदर्यवादी समीक्षक माने जाते है। युरोप में 18 वी शती तक के साहित्यकारों पर इनके काव्य का गहरा प्रभाव था। शताब्दियों तक विस्मृति के गर्भ में पडी रही यह रचना 1554 में पहली बार प्रकाशित हुई, उसी पर लेखक का नाम था- लोंजाइनस। यह मूलत: भाषणशास्त्र का ग्रंथ है।

लोंजाइनस् का व्याकरण, निबंध, आलोचना, रचना, शास्त्र का पर्याप्त अध्ययन था। उन्होंने कला के नियम, शब्दों का सही प्रयोग, छंद चयन, अलंकारों का प्रयोग आदि पर बल दिया।

पेरिइप्सुस का प्रतिपाद्य :

लोंजाइनस की कृति ''पेरिइप्सुस' का केवल 2/3 भाग उपलब्ध है, यह साठ पृष्ठों की 44 अध्यायों की कृति है। इसका अनुशीलन करने से पता चलता है कि उसका प्रतिपाद्य काव्यगत उदात्त भावना नहीं है जैसा की उसके अंग्रेजी शीर्षक 'on the sublime' से भ्रम होता है। डॉ. नगेंद्र ने इसके बारे में कहा है- 'इसमें उदात्त कला की प्रेरणा भावनाओं और धारणाओं का विश्लेषण नहीं, बल्कि उदात्त शैली के आधार पर तत्वों का विवेचन प्रधान है। उसमें उदात्त के आध्यात्मिक पक्ष को महत्व दिया। काव्य का प्रधान तत्व भावोत्कर्ष मानते है।

लोजाइनस का सिद्धांत :

'कला उदात्त है' यह कहकर उदात्तता को ही काव्य की आत्मा माना। उन्होंने लिखा है- ''साहित्य पाठकों को आवेगपूर्ण अनुभूति की नवीन ऊँचाई तक तीन गुणों के कारण ले जाता है, वे ही उसके जीवन है। साहित्य की यही उदात्तता है। यह वह गुण है जो अन्य क्षुद्र त्रुटियों के बावजूद साहित्य को वास्तविक रूप से प्रभावपूर्ण बनाता है।

उदात्तता की कसोटी :

लोंजाइनस् हृदय को स्पर्श करना काव्य का सर्वश्रेष्ठ गुण मानते है। काव्य का अंतरंग और बहिरंग उदात्त हो, सच्चा औदात्य उसमें हो, चेतना उदात्त एवं विकासोन्मुखी हो! इसके लिए (1) वस्तुबोध या विचार की भावना (2) भाव की उत्कृष्ठता (3) अलंकारों का उचित प्रयोग (4) शब्दशिल्प की उदारता (5) शब्द व्यवस्था की उत्कृष्ठता आदि गुण आवश्यक है।

लोंजाइनस् मानते है- जिनका मस्तिष्क उदात्त भावों से परिपूर्ण है, उनकी वाणी से उदात्त शब्द की निर्मिति होती है। पाठकों को आनंद देनेवाला, ऊँची जगह बिठानेवाले साहित्य को वे श्रेष्ठ साहित्य मानता है।

उदात्त का स्वरूप :

लोजांइनस ने उदात्त की परिभाषा नहीं दी। उदात्तता साहित्य का वह महान गुण है, जो त्रुटियों के बावजूद भी महान बनाता है। उदात्त के विवेचन में अंतरंग और बहिरंग के साथ विरोधी तत्वों की भी चर्चा की है जो इसप्रकार-

1. **अंतरंग तत्व :** ***(अ) उदात्त विचार या विषय की गरिमा :*** लोंजाइनस के मतानुसार कवि को उनके उदात्त विचार महान बनाते है। जीवनभर क्षुद्र विचारों पर जीनेवाला कोई कवि महान कृति का सृजन नहीं करेगा। महान शब्द उन्हीं के मुख से निकलते है जिनके विचार गंभीर एवं महान है।

उन्होंने विषय को साधन माना है। वे श्रेष्ठ रचना के लिए विषय का विस्तारपूर्ण होना आवश्यक समझते है। उनका मत है, ज्वालामुखी के समान असाधारण शक्ति और वेग विषय में होना चाहिए। श्रोता-पाठक पर प्रभाव छोडनेवाला विषय होना चाहिए। श्रेष्ठ विषय चयन के लिए महान कवियों के ग्रंथों का अनुशीलन आवश्यक माना है।

(आ) आवेग : वे उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत भव्य आवेग को उदात्त का दूसरा तत्व मानते है। भव्य आवेग का अर्थ ऐसा आवेग हो जिसके परिणामस्वरूप हमारी आत्मा अपने आप ऊपर उठकर उच्चाकाश में विचरण करने लगती है। हर्ष, उल्हास से भर जाती है। आवेग के भव्य और निम्न दो भेद है। प्रथम में आत्मा का उत्कर्ष दूसरे में अपकर्ष। उदात के लिए आवेश को महत्त्वपूर्ण माना है।

2. **बहिरंग तत्व :** लोंजाइनस् प्रतिभा को प्राकृतिक मानते है। उन्होंने प्रतिभा के साथ कविता को अभ्यास साध्य माना है। अभिव्यक्ति ऐसी व्यवस्था है जो नियमानुसार कार्य करती है। वे नियम को महत्व देते है। उन्होने कलागत उदात्त के निम्न तत्त्व माने हैं-

(अ) समुचित अलंकार योजना : उन्होंने मनोवैज्ञानिक प्रभावों को व्यक्त करने के लिए अलंकारों को उपयोगी माना है। केवल चमत्कार प्रदर्शन के लिए अलंकार उपयुक्त नहीं माने। पाठकों को आनंद देने के लिए, अर्थ को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए, भावावेग उत्पन्न करने के लिए अलंकार का प्रयोग होता है।

अलंकार का प्रयोग स्थान, विषय, उद्देश्य, परिस्थिति के अनुरूप होना चाहिए। अलंकार को आत्मा तथा साधनमात्र माना है।

उन्होंने विस्तारणा, शपथोक्ति, रूपक, अतिशयोक्ति, पुनरावृत्ति, व्यतिक्रम, विपर्यय, पर्यायोक्ति, प्रश्नालंकार, शपथोक्ती आदि का विवेचन किया है।

(ब) उत्कृष्ट भाषा : इसके अंतर्गत शब्दचयन, भाषा की सहजता, रूपक योजना को लिया है। उदात्त विचारों के लिए गरियामयी भाषा आवश्यक है। भाषा की गरिमा का आधार शब्द सौंदर्य, प्रभावशाली शब्दों का प्रयोग है। उनके शब्दों में 'अनुकूल ध्वनि के शब्दों का चयन काव्य में मोहकता की सृष्टी करता है। शब्द योजना संगीतात्मक प्रभाव के अनुरूप हो।'

(क) गरिमामय रचना-विधान : रचना विधान गरिमामय एवं अर्जित होना चाहिए। इसके अंतर्गत शब्दों, विचारों, कार्यों, सुंदरता, राग आदि का गुंफन होता है। इसका प्राणतत्व सामंजस्य है, जो उदात्त के लिए अनिवार्य है। शैली के सभी तत्त्व एकत्रित होने से कृति गरिमामय बनती है।

(ड) कल्पना तत्व : यहां सिर्फ बिबों का वर्णन माना है। बिम्ब का अर्थ 'कल्पना चित्र' है। कल्पना वह शक्ति है जो कवि के मानसिक रूप में विषय का साक्षात्कार कर कवि की भाषा में चित्रात्मकता द्वारा पाठक के सन्मुख विषय प्रस्तुत करती है।

(इ) विरोधी तत्त्व : विषय को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने उन तत्त्वों को स्पष्ट किया जो उदात्त के विरोधी है। हीन शब्दों का प्रयोग, असंबद्ध वाक्य् विस्तार, भावाडंबर, शब्दाडंबर को विरोधी तत्व माना है। भावाडंबर का अर्थ है, उन स्थानों पर खोखला, अनावश्यक, भावावेग है। चमत्कार प्रयोग को भी विरोधी तत्व मानते है। अभिव्यक्ति की क्षुद्रता, संक्षिप्तता, अनावश्यक संगीत, निकृष्ट शैली भी विरोधी तत्व है। वह क्षुद्र अर्थवाले शब्द को कलंक मानता है। अर्थात जिसका प्रयोग विवेक से नहीं होता, जो अधिकतम है उसे वह त्याज्य मानता है।

लोंजाइनस की देन :

आधुनिक आलोचक के द्वारा कांट, ब्रॅडले के विचारों का अध्ययन किया जाता है तब लोंजाइनस् के विचारों का महत्व बढ़ता ही है। उदात्त का विश्लेषण, विवेचन व्यापक रुप में किया है। काव्य की भाषा, सामाजिक उपयोगिता, शाश्वत काव्य संबंधी विचार आज भी महत्त्वपूर्ण है। उनके विचार मौलिक, सार्वभौम, चिरंतन है।

निष्कर्ष रुप में कहा जाता है उदात्तसंबंधी विचार साहित्य में सर्वमान्य हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में जितना उदात्त तत्त्व नहीं है उससे अधिक 'पेरिइप्सुस' में है। उनकी यह रचना युगों-युगों तक भारतीय काव्यशास्त्र को पथदर्शक रही है, यही मौलिक देन है।

1.4 सारांश

1. प्लेटो का जन्म एथेन्स में ई. पू. 427 को हुआ। प्लेटो के गुरू सुकरात, पिता अरिस्टोन थे। 'गणतंत्र' या 'रिपब्लिक' महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उन्होंने काव्य सृजन के लिए दैवी प्रेरणा महत्वपूर्ण मानी है। कविता के माध्यम से परमात्मा हमसे बातें करता है, ऐसी धारणा थी। काव्य असत्य है, काव्य का उद्भव अज्ञान से होता है, काव्य जीवन और समाज के लिए हानिप्रद है ऐसे आरोप भी किए। अनुकृति सिद्धांत में पलंग कर उदाहरण दिया है। कला का आधार अनुकरण माना है।

2. अरस्तू का जन्म स्टेगिरस में ई. पू. 384 में हुआ। पिता निकोमेकस चिकित्सक थे। 'रिटोरिक' और 'पोइटिका' ये काव्यशास्त्रीय ग्रंथ लिखें। अनुकृति, अनुकरण, विरेचन और त्रासदी आदि महत्वपूर्ण सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। यूनानी शब्द 'मिमेसिस' का हिंदी अनुवाद 'अनुकरण' है। विरेचन का अर्थ मन का परिष्कर शुद्धि, रेचन है। यह सिद्धांत भारतीय आयुर्वेद शास्त्र से संबंधित है।

3. एकनिष्ठ भाव और ज्ञान साधना के बल पर अनुसंधान करना चाहिए, जिसमें परिणाम पर सोचना नहीं, यही सुकरात का आदर्श था। उनके विचारों का प्रभाव प्लेटो पर रहा है। गुरू सुकरात की मृत्यु से प्लेटो दु:खी हो गए। प्लेटो सुकरात के प्रिय शिष्य रहे है। उनकी धारणा है समाज पर काव्य का प्रभाव हानिकारक है। काव्य की प्रेरणा ईश्वर को मानता है। नागरिकों को बनने-बिगाडने का कार्य शिक्षा करती है इसी कारण एथेन्स का पराभव हुआ। समाज के लिए हितकारी नैतिक साहित्य का प्रचार किया। प्लेटो सत्य का उपासक, तर्क का हिमायती, बौद्धिक आनंद का भोक्ता है।

4. अरस्तू ने लगभग पच्चास ग्रंथ लिखें, उनका 'पोईटिक्स' पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रकाश स्तंभ है। उनके काव्य और कला संबंधी विचार युरोप के लिए पथदर्शक रहे है। अरस्तू कला को प्रकृति की अनुकृति मानता है। हु-ब-हू नकल को वे अनुकरण नहीं मानते। भावों के विरेचन को महत्त्वपूर्ण माना है। मानसिक स्वस्थता से दु:ख का बोज कम होता है। विरेचन के तीन प्रकार किए है। त्रासदी अरस्तू का महत्वपूर्ण सिद्धांत रहा है। त्रासदी को किसी कार्य की अनुकृति माना है। उन्होंने त्रासदी के छ: तत्व स्वीकार किए है। अरस्तू के काव्य संबंधी विचार आज भी पथदर्शक होने के कारण उन्हें 'सिंकदर' कहा जाता है।

5. पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्लेटो, अरस्तू के पश्चात्य लोंजाइनस् का नाम आता है। उनका नाम 'उदात्त' सिद्धांत से जुडा है। on the Sublime 'औदात्त' का संबंध 'उदात्त' से है। पेरिइप्सुस उनका ग्रंथ मूलत: भाषणशास्त्र से संबंधित है। उदात्त में आध्यात्मिक पक्ष को महत्व दिया है। उन्होंने कला को उदात्त माना है। साहित्य का उदात्त बडा गुण है जो त्रुटियों के बावजूद भी उसे महान बनाता है। उत्कृष्ट भाषा, महान विचार, श्रेष्ठ विषय, कल्पना, अलंकार के बल पर साहित्य उदात्त, श्रेष्ठ बनता है।

6. पाश्चात्य काव्यशास्त्र में समर्थ समीक्षाशास्त्री लोंजाइनस् है। 'पेरिइप्सुस' महत्वपूर्ण रचना तथा उदात्त तत्व महत्त्वपूर्ण देन है। on the Sublime का अर्थ ऊँचाई तक ले जाना है। उदात्तता के कारण

साहित्य प्रभावपूर्ण बनता है। उन्होंने ज्ञान का साहित्य और शक्ति का साहित्य यह दो भेद किए। उदात्त का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अंतरंग तत्व, बहिरंग तत्व और विरोधी तत्व का विस्तृत विवेचन किया है।

1.5 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

प्रश्न 1 : (अ) निम्नलिखित वाक्यों में दिए गए पर्यायों में से उचित पर्याय चुनकर वाक्य फिर से लिखिए।

1. प्लेटो का जन्म .... में हुआ।

   (क) स्पार्टा (ख) एथेन्स (ग) इंग्लंड (घ) अमरीका

2. सुकरात का शिष्य .... था।

   (क) प्लेटो (ख) रीचर्डस् (ग) अरस्तू (घ) लोंजाइनस

3. प्लेटो ने काव्य की .... प्रेरणा मानी है।

   (क) धन (ख) दैवी (ग) आत्माभिव्यक्ती (घ) सन्मान

4. विरेचन सिद्धांत का प्रतिपादन .... ने किया।

   (क) प्लेटो (ख) अरस्तू (ग) लोगिनुस (घ) हडसन

5. त्रासदी के तत्त्व .... है।

   (क) पांच (ख) छः (ग) तीन (घ) दो

6. लोंजाइनस की प्रमुख रचना .... है।

   (क) पोइटिक्स (ख) पेरिइप्सुस् (ग) रिपब्लिक (घ) इओन

7. लोंजाइस ने कला को .... माना है।

   (क) कला (ख) उदात्त (ग) महान (घ) जीवन

8. अरस्तू ने कवि को ईश्वर की तरह जगह का .... माना है।

   (क) कर्ता (ख) अनुकर्ता (ग) निर्माता (घ) चालक

9. .... त्रासदी और कामदी के रुप में काव्य का वर्गीकरण किया।

   (क) प्लेटो (ख) अरस्तू (ग) लोंजाइनस (घ) इलियट

10. विरेचन का संबंध .... रस के साथ है।

    (क) शांत (ख) क्रोध (ग) भक्ति (घ) करूण

11. अनुकरण .... शब्द ‘मिमेंसिस’ का पर्याय है।

    (क) अंग्रेजी (ख) हिंदी (ग) युनानी (घ) पंजाबी

12. प्लेटो ने कला को .... से दूर सिद्ध करने का प्रवास किया।

(क) जीवन (ख) सत्य (ग) रस (घ) भाव

13. पोएटिक्स .... की प्रसिद्ध रचना है।

(क) प्लेटो (ख) इलिएट (ग) अरस्तू (घ) रिचर्डस्

14. प्लेटो के गुरू का नाम .... ।

(क) सुकरात (ख) अरस्तू (ग) प्लाजोन (घ) रिचर्डस्

15. पेरिइप्सुस के रचियेता .... है।

(क) कॉलरिज (ख) अरस्तू (ग) वर्डसवर्थ (घ) लोंजाइनस्

16. काव्य में उदात्त की अवधारणा .... देन है।

(क) कालरिज (ख) लोंजाइनस् (ग) प्लेटो (घ) अरस्तू

17. .... ने काव्य को प्रकृति की अनुकृति कहा।

(क) अरस्तू (ख) प्लेटो (ग) रिचर्डस् (घ) इलियट

18. पेरिइप्सुस मूलतः .... की किताब है।

(क) भाषण शास्त्र (ख) दर्शनशास्त्र (ग) न्यायशास्त्र (घ) काव्यशास्त्र

19. रिपब्लिक .... की रचना है।

(क) अरस्तू (ख) प्लेटो (ग) इलियट (घ) वर्डसवर्थ

20. अरस्तू ने .... के छः तत्व बताए है।

(क) विरेचन (ख) त्रासदी (ग) काव्य (घ) नाटक

21. अनुकृति सिद्धांत के लिए प्लेटो ने .... का उदाहरण दिया है।

(क) पलंग (ख) सूर्य (ग) कुर्सी (घ) बढई

22. अरस्तू का जन्म .... में हुआ।

(क) ई. पू. 348 (ख) ई. पू. 340 (ग) ई. पू. 384 (घ) ई. पू. 380

23. लोंजाइनस ने .... सिद्धांत स्थापित किया।

(क) अनुकरण (ख) विरेचन (ग) उदात्त (घ) रस

24. 'Sublime' का अर्थ .... है।

(क) प्रतीक (ख) उच्चाई (ग) प्रमाण (घ) सौंदर्य

25. दैवी प्रेरणा सिद्धांत .... का है।

(क) अरस्तू (ख) प्लेटो (ग) सुकरात (घ) लोंजाइनस्

26. अंग्रेजी आलोचना का जनक .... कहा जाता है।

(अ) ड्राइडन (ख) स्वीट (ग) इलियट (घ) रिचर्डस

1.6 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

1. पितृपक्ष : पिता का गांव
2. परमात्मा : ईश्वर।
3. त्याज्य : छोडना।
4. विरेचन : शुद्धि।
5. अनुकरण : हु-ब-हू नक्कल करना।

1.7 स्वयं-अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1 :

अ)	1. एथेन्स	2. प्लेटो	3. दैवी	4. अरस्तू।
	5. छः	6. पेरिइप्सुस	7. उदात्त	8. निर्माता।
	9. प्लेटो	10. करूणा	11. युनानी	12. सत्य।
	13. अरस्तू	14. सुकरात	15. लोंजाइनस्	16. लोंजाइनस्।
	17. अरस्तू	18. भाषणशास्त्र	19. प्लेटो	20. त्रासदी।
	21. पलंग	22. ई. पू. 384	23. उदात्त	24. उच्चाई।
	25. प्लेटो।	26. ड्राइडन		

1.8 स्वाध्याय

प्रश्न 1 : दीर्घोत्तरी प्रश्न।

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा एवं विकास क्रम पर प्रकाश डालिए।
2. प्लेटो का काव्य प्रेरणा सिद्धांत स्पष्ट कीजिए।
3. प्लेटो के अनुकरण सिद्धांत का विवेचन कीजिए।
4. अरस्तू के त्रासदी का स्वरूप स्पष्ट करते हुए तत्वों की चर्चा कीजिए।
5. उदात्तता की कसोटियाँ स्पष्ट कीजिए।

6. विरेचन सिद्धांत का महत्व बताईए।
7. उदात्त तत्व की समीक्षा कीजिए।
8. काव्य और सत्य संबंधी प्लेटो के विचार स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2 : लघुत्तरी प्रश्न।

1. दैवी प्रेरणा के बारे में प्लेटो के विचार बताईए।
2. अनुकरण के बदलते अर्थ बताईए।
3. विरेचन का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. त्रासदी की परिभाषा दीजिए।
5. पेरिइप्सुस का प्रतिपाद्य बताईए।

1.9 क्षेत्रीय कार्य

1. साहित्य का मानवी मन पर परिणाम- रिपोर्ट बनाईए।
2. यूनान की काव्यशास्त्र के लिए देन-अध्ययन कीजिए।
3. भारतीय काव्यशास्त्र का स्वरूप-साक्षात्कार लीजिए।
4. विरेचन-शरीर शुद्धि के संबंध में आयुर्वेद में देखिए- अध्ययन कीजिए।

1.10 अतिरिक्त अध्ययन के लिए

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र अधुनातन संदर्भ - सत्यदेव मिश्रा
2. भारतीय काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य साहित्य चिंतन - डॉ. सभापति मिश्र
3. पाश्चात्य काव्यशास्त्र - डॉ. अशोक के. शाह
4. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त - गणपतिचन्द्र गुप्त
5. काव्यशास्त्र भारतीय एवं पाश्चात्य - डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी, डॉ. अमित अवस्थी

❑❑❑

सत्र 4 : इकाई 2

टी. एस्. इलियट, वर्डसवर्थ, आइ-ए-रिचडर्स, कॉलरिज

अनुक्रम

2.1 उद्देश्य

2.2 प्रस्तावना

2.3 विषय-विवेचन

2.3.1 टी. एस्. इलियट-परंपरा की परिकल्पना

2.3.2 वैयक्तिक प्रज्ञा, निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

2.3.3 वस्तुनिष्ठ समीकरण

2.3.4 विलियम् वर्डसवर्थ : काव्य भाषा सिद्धांत

2.3.5 आइ-ए-रिचडर्स-व्यावहारिक आलोचना

2.3.6 कॉलरिज : कल्पना सिद्धांत और फैंटसी

2.4 सारांश

2.5 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

2.6 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

2.7 स्वयं-अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

2.8 स्वाध्याय

2.9 क्षेत्रीय कार्य

2.10 अतिरिक्त अध्ययन के लिए।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप -

1. टी. एस्. इलियट के काव्य सिद्धांत से परिचित हो जाएंगें।
2. वर्डसवर्थ के काव्यभाषा संबंधी विचारों से अवगत होंगे।
3. आइ-ए-रिचडर्स की व्यावहारिक आलोचना समझ सकेगें।
4. कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत और फैंटसी से परिचित हो जाएंगे।

5. पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय मान्यताओं से परिचित होंगे।

6. काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों से परिचित होंगे।

7. रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत का महत्त्व समझ जाएँगे।

8. रिचर्ड्स के संप्रेषण सिद्धांत का महत्त्व समझ जाएँगे।

9. जीवन में मूल्य सिद्धांत का उपयोग करना सीख जाएँगे।

10. जीवन में सप्रेषण का महत्त्व अवगत होगा।

2.2 प्रस्तावना

पाश्चात्य काव्यशास्त्र का श्रीगणेशा यूनान में हुआ। काव्य स्वरूप, प्रेरणा, काव्य सृजन-भेद आदि पर विभिन्न काव्यशास्त्रीय विद्वानों ने अपनी मान्यताएँ स्थापित की है। कई मान्यताएँ पथदर्शक रही है। राजनीतिक उथल-पुथल के साथ साहित्यिक, धार्मिक, सांस्कृतिक चिंतन परंपरा को बल दिया है। काव्य और शास्त्र, काव्य और संस्कृति, वस्तुनिष्ठता, आलोचना पर भी बहुआयामी विस्तृत चर्चा हुई है। प्लेटो, अरस्तू, लोंजाइनस् और इन्हीं के पहले सॉक्रेटिस जैसे काव्यशास्त्रीय विद्वानों ने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। काव्य और मनोविज्ञान, काव्य और कल्पना संबंधी नए विचार व्यक्त किए।

भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है, दोनों की अपनी-अपनी मान्यताएँ रही है। समाज व्यवस्था, साहित्य स्तर, लोगों की वैचारिकता, आदि से काव्यशास्त्र प्रभावित रहा है। फिर भी काव्यशास्त्रीय चिंतन होता ही रहा- यही महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

साहित्य और नैतिक मूल्य, सामाजिकता आदि के संदर्भ में पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के विचार आधुनिक युग में भी पथदर्शक रहे है। इस दृष्टि से टी.एस्.इलियट, वर्डसवर्थ, रिचर्डस्, कॉलरिज की मान्यताएँ अध्ययन के विषय है। उनकी चिंतन सरणियाँ बुद्धि को व्यापक बनाती है।

साहित्य चिंतन के साथ आधुनिक समीक्षा क्षेत्र में आइ. ए. रिचर्ड्स (1893-1979) का महत्त्व अनन्यसाधारण है। उनका जन्म सन् 1893 में इंग्लैंड में हुआ। वे अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान के छात्र रहे हैं। वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्रोफेसर थे। आगे वहीं से उन्होंने डी. लिट्. की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने करीबन एक दर्जन ग्रंथों का लेखन किया, मगर उनमें सबसे अहम ग्रंथ है- 'प्रिंसिपल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (साहित्य समीक्षा के सिद्धांत)। रिचर्ड्स मनोविज्ञान से साहित्य के क्षेत्र में आए और उन्होंने कविता और कला की सार्थकता पर विचार प्रस्तुत किए। उन्होंने समीक्षा जगत् में नया दृष्टिकोण अपनाते हुए मौलिक सिद्धांत की स्थापना की। रिचर्ड्स पहले मनोविज्ञान और अर्थ विज्ञान के क्षेत्र में कार्यरत थे। स्वच्छंदतावाद के समर्थक कॉलरिज की कविता एक विशिष्ट रचना के रूप में स्थापित हुई है। उसी को आधार बनाते हुए उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में काव्य सिद्धांतों की स्थापना की है; जिसका विवेचन निम्नांकित रूप में प्रस्तुत है-

2.3 विषय–विवेचन

टी. एस. इलियट, वर्डसवर्थ, आइ. ए. रिचर्डस और कॉलरिज के विचार उपादेय है। उनके सिद्धांतों पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

2.3.1 टी. एस्. इलियट–परंपरा की परिकल्पना

परिचय : थॉमस स्टीर्न्स इलियट का जन्म 26 सितंबर 1888 में मिसौरी (अमरीका) के सेन्ट लुई में हुआ। इलियट के पितामह रेव. ग्रीनलीफ इलियट वॉशिंग्टन विश्वविद्यालय के संस्थापक तथा 1872 में चांसलर बने। उनके पिताजी हेनरी बेथर इलियट एक व्यापारी थे। इलियट को अपनी शिक्षा एवं अध्ययन के लिए पुरी सुविधा और स्वतंत्रता थी। इनकी माँ कवयित्री थी।

उनकी प्रारंम्भिक शिक्षा सेन्ट लुई में और उच्च शिक्षा हार्वर्ड में हुई। इलियट ने छात्र जीवन में संस्कृत और पालि का अध्ययन किया। 1909 में हार्वर्ड से बी.ए. की उपाधि प्राप्त की। हार्वर्ड विश्वविद्यालय से 1910 में एम.ए. किया। कुछ दिन पेरिस और ऑक्सफोर्ड में अध्ययन करने के बाद 1915 में लंदन पहुँचे और वही बस गये। लंडन के निकट एक स्कूल में अध्यापन का कार्य किया। 1925 में प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थान 'फेअर एंड फेबर' के निदेशक बने, जहाँ से 'दि क्राइटेरियन' पत्रिका का संपादन किया।

इलियट कवि, नाटककार, आलोचक, संपादक भी रहे है। 1917 से 1920 तक प्रकाशित कविता पुस्तकों ने 20 वीं शती की कविता आंदोलन को गति दे दी। 1922 में 'द वेस्टलैंड' नामक प्रसिद्ध कविता क्राइटेरियन में प्रकाशित हो गई। 1920 में प्रकाशित 'दि सैकेड वुड'' भी महत्वपूर्ण है। 1932 में प्रकाशित 'सेलेक्टेड एसेज' प्रकाशन से तटस्थता का सिद्धांत सामने आ गया। 1933 में 'यूज ऑफ पोइट्री एण्ड यूज ऑफ क्रिटिसिज्म' प्रकाशित हुआ। बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध अंग्रेजी साहित्य में 'इलियट युग' के रुप में प्रसिद्ध रहा।

इलियट ने आलोचना पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा है। उनके आलोचनात्मक विचार लेखों, समीक्षाओं तथा भाषणों में बिखरे हुए है, जिनकी संख्या 500 तक है। उनके साहित्यिक जीवन का आरंभ आलोचना से हुआ, यह कहना कठीन है। वस्तुत: उनमें काव्य और आलोचना का ऐसा समिश्रण और संबंध है जिसे एक दूसरे से पृथक नहीं किया जाता। काव्य निर्माण में जो काव्य चिंतन किया उसी से आलोचना उत्पन्न हो गई।

इलियट ने आलोचना के न सिद्धांत बनाए है न नियम। वे स्वतंत्रचेता आलोचक है उसके अपने नियम, मान्यताएँ है। उनकी आलोचना का उद्देश्य अपनी कविताओं के बोध, आस्वाद, परिशंसन की भूमि तैयार करना। रूचि–परिष्कर को आलोचना का प्रयोजन मानते है। उनकी सृजनशीलता और आलोचना कर्तृत्त्व के साथ–साथ कीर्ति की दृष्टि से भी सहाय्यक, पूरक है। उनके कवि रूप ने आलोचक रूप को सहाय्यता की है। दोनों रूप परस्परपूरक रहे है।

इलियट का लेखन 1915 ई. के. पश्चात् आरंभ हुआ। इस समय का अंग्रेजी काव्य ऱ्हासोन्मुख था और आलोचना दिशाहीन थी। इलियट कहते है, 'सच्ची आलोचना तथा सूक्ष्म परिशंसा का लक्ष्य कवि नहीं बल्कि काव्य है।' इस कथन से आलोचना को नयी दिशा दे दी। उनकी साहित्यिक मान्यताओं को समझने के लिए संस्कृति और परंपरा के संबंध को जानना अनिवार्य है। उनका मानना है संस्कृति का संबंध समाज जीवन पद्धति से, धर्म से है। वे कहते है संस्कृति का निर्माण योजनाबद्ध रूप में नहीं होता। इसी धारणा से उन्होंने परंपरा की धारणा को स्पष्ट किया।

इलियट यूरोप को एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखते है, जिसके दो साधक तत्त्व है। (1) ग्रीक और रोम (2) ईसाई धर्म। वे दोनों युरोप की परंपरा के अंग है। वे संस्कृति और परंपरा को अभिन्न मानते है। उनका विचार है परंपरा जीवित संस्कृति का वह अंश है जो अतीत से वर्तमान का निर्माण करे, भविष्य को दिशा दे। अत: परंपरा का सूत्र इलियट के लेखन का आधार तत्व है।

इलियट ने 1927 को इग्लैंड की नागरिकता स्वीकार की। 1948 को नोबेल पुरस्कार मिला। उनका आलोचना का उद्देश्य कविता का बोध, आस्वाद की भूमिका तैयार करना है। उनकी गणना बीसवीं शती का सबसे प्रभावशाली और समर्थ समीक्षक के रूपमें की जाती है। इनकी मृत्यु 4 जनवरी 1965 में लंदन में हुई।

परंपरा का सिद्धांत–

इलियट कवि, नाटककार, आलोचक रहे है। उन्होंने कविता को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं माना। व्यक्तित्व के स्थान पर परंपरा को महत्व दिया। परंपरा का अर्थ रूढि पालन से नहीं था। वे रूढ़ि विरोधी थे। उन्होंने परंपरा का संबंध संस्कृति से जोड दिया है। कवि, लेखक को सांस्कृतिक परंपरा का पूर्ण बोध होना चाहिए। परंपरा के द्वारा विश्व में सांस्कृतिक समन्वय और एकता स्थापित करने का कार्य कवि करता है। इसलिए इलियट परंपरा में विश्वास रखते है।

इलियट ने परंपरा की परिभाषा इस प्रकार की है। ''परंपरा पूर्णत: अथवा प्रधानत: भी कितपय मतांध विश्वासों का परिरक्षण नहीं है। ये विश्वास तो परंपरा के निर्माण क्रम में रूपग्रहण करते हैं। परंपरा से तात्पर्य उन सभी स्वाभाविक कार्यों, रीति–रिवाजों, धार्मिक कृत्यों से है जो एक स्थान पर रहनेवाले एक समुदाय के व्यक्तियों के रक्त संबंध को व्यक्त करते है।'' यहां स्पष्ट है परंपरा का संबंध, संस्कृति, जीवन, कला, दर्शन, साहित्य से है जिससे वर्तमान भविष्य और अतीत का परस्पर संबंध है। परंपरा का यह सूत्र इलियट के साहित्य में दिखाई देता है।

परंपरा के प्रति आसक्ति का अर्थ अंधानुकरण नहीं है। इलियट की दृष्टि में परंपरा की व्यापक अर्थवत्ता है। उसकी प्राप्ति के लिए कठोर परिश्रम आवश्यक है। इसके लिए इतिहास बोध होना अनिवार्य है। उसकी धारणा है 'परंपरा कोई मृत या अनुपयोगी वस्तु नहीं है।' परंपरा का विस्तार देश–विदेश तक होता है। जैसे भारत में व्यास, वाल्मीकि से लेकर आज तक भारतीय परंपरा वर्तमान है।

ऐतिहासिक बोध का तात्पर्य अतीत का वर्तमान में देखना। क्योंकि इतिहास वर्तमान के परिप्रक्ष्य में ही साहित्य के लिए प्रासंगिक होता है। परंपरा ज्ञान का अर्थ रूढिपालन नहीं क्योंकि उसके ज्ञान से उसके प्रति विद्रोह भी उत्पन्न हो सकता है। परंपरा के आलोक में साहित्यकार को यह ज्ञात होता है कि उसे क्या करना है? उसकी कृति का परंपरा के बीच मूल्य क्या है? इसप्रकार टी. एस्. इलियट का मौलिक दृष्टिकोण अतीत को वर्तमान में देखता है।

परंपरा का संबंद्ध संस्कृति से है। सामाजिक संस्कृति परंपरा को जन्म देती है। संस्कृति समाज जीवन की पद्धति, आचार-व्यवहार की प्रणाली होती है। संस्कृति, धर्म का संबंध है, उनमें परस्पर नियंत्रण होता है। साहित्य एक कला है, जिसमें परंपरा, संस्कृति का चित्रण होता है। कवि, लेखक को सांस्कृतिक, परंपरा का पूर्ण बोध होना चाहिए। परंपरा के द्वारा विश्व में एकता, सांस्कृतिक समता समन्वय स्थापित करने का कार्य कवि, लेखक, साहित्यकार करता है। इसी कारण इलियट परंपरा में आस्था, विश्वास रखता है। भूतकाल के साथ वर्तमान काल का संबंध जोडना परंपरा का प्रमाण है। अत: भूतकाल को समझकर, देखकर वर्तमान को ग्रहण करना, और भविष्य सजाना, गढाना यह कार्य कवि की वैयक्तिक प्रतिभा पर निर्भर है, जिसके लिए उन्हें सदा अभ्यास, प्रयत्न करना पडता है, जिसकी नींव परंपरा ही है।

परंपरा विरासत के रूप में उपलब्ध नहीं होती, उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किए जाते है। कोई भी कलाकार कितना भी महान हो परंपरा से सम्बद्ध होने पर ही महत्वपूर्ण बनता है। तुलसीदास के सामने राम काव्य की लम्बी परंपरा थी उससे उन्होंने बहुत कुछ ग्रहण किया। किसी कवि को समझने और उसकी कृति का मूल्यांकन करने के लिए हमें उसकी तुलना उस परंपरा के अन्य कवियों से करनी चाहिए।

साहित्य में भी कवि को परंपरा का ध्यान रखना पडता है। यदि परंपरा को भूलाकर केवल वह अपनी ही संवेदनाओ में उलझ जाता है, अपने दु:ख-दर्द की कथा ही लिखता है, वर्तमान की बात ही करता है, तो वह अपने उद्देश्य से भटक जाता है। परंपरा के ज्ञान से साहित्यकार को दो लाभ होते है- (1) उसे यह जानकारी हो जाती है कि उसे क्या करना चाहिए? (2) उसे यह भी पता चल जाता है कि उसकी कृति का मूल्य क्या है?

किसी कवि या कलाकार की पूर्ण सार्थकता केवल अपने आप में नहीं होती। उसकी सार्थकता अन्य कवियों और कलाकारों की सापेक्षता में होती है। जब कोई कृति की सृष्टि होती है तब उसके पूर्ववर्ती कृतियों के साथ आलोचना होनी चाहिए। तात्पर्य है जिस तरह वर्तमान से अतीत परिवर्तित होता है, उसी तरह अतीत से वर्तमान निर्देशित होता है।

कवि को अतीत का अर्थात परंपरा का ज्ञान होना चाहिए। कवि को अतीत की चेतना को विकसित करना चाहिए। परंपरा का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व रहा है। भूतकाल के साथ वर्तमान को सिर्फ जोडना नहीं बल्कि वर्तमान के विकास बोध को जानना चाहते है। अतीत को ग्रहण कर वर्तमान का निर्माण करना कवि की प्रतिमा पर निर्भर है, जिसके लिए उसे सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

अत: स्पष्ट है कि इलियट परंपरा को रूढ़ि पालन के रुप में स्वीकार नहीं करते। अतीत के प्रति विद्रोह भी संभव है। अनेक युगों और कला कृतियों के संकलित और मिश्रित प्रभाव से परंपरा का रूप-निर्माण होता है और कवि का कर्तव्य है कि वह उसके प्रभाव को आत्मसात करे, आवश्यकता पडने पर उसे परिवर्तित और परिवर्धित करता चले। इसके लिए यदि उसे व्यक्तित्व समर्पित करना पडे तो संकोच न करे। इलियट का परंपरावाद न तो रूढ़ि पालन है और न मौलिकता का विरोधी है।

परंपरावादी होने का अर्थ है, कला और काव्य की प्रमुख धाराओं से परिचित होना। परंपरावादी कलाकार इस तथ्य से अवगत है कि भले ही कला पूर्ववर्ती कला से अधिक सुधड न होती हो, उसके उपादान बदलते रहते है। परंपरावादी सिद्धांत कवि से ज्ञान-क्षितिज विस्तृत करने की अपेक्षा रखता है और अपने व्यक्तित्व को परंपरा के आगे समर्पित करने के लिए कहता है।

इलियट के इस सिद्धांत पर आक्षेप लिए है। इलियट का व्यक्तित्व से तात्पर्य मनोविज्ञान वाले अर्थ से है तो उपर्युक्त मत भ्रांतियों का एक पुंज ही सिद्ध होता है, क्योंकि मनोविज्ञान के अनुसार कोई भी व्यक्ति व्यक्तित्व से पलायन नहीं कर सकता। इसलिए कविता व्यक्तित्त्व से पलायन है। यह कथन असंगत है क्योंकि कोई भी व्यक्ति व्यक्तित्व का अतिक्रमण कर ही नहीं सकता। इसी प्रकार व्यक्तित्त्व को निष्क्रिय मानना, जिसकी उपस्थिति में अनुभवों आदि का संयोग होता है, यह कथन ठिक नहीं।

यहां स्पष्ट है, इलियट ने कविता में बढ़ती हुई व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का विरोध किया है। मगर यह प्रयास वैज्ञानिक एवं संगत विवेचन के स्तर पर होना चाहिए। लगता है इलियट ने परंपरा का प्रतिपादन करते हुए रूढ़ि को नकारा मगर सामाजिक सांस्कृतिक परंपरा का स्वीकार किया है।

2.3.2 वैयक्तिक प्रज्ञा, निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

टी. एस्. इलियट का यह दूसरा विचार रहा है। वे एजरा पाऊंड के विचारों से वे प्रभावित थे। वे मानते है, कवि वैज्ञानिक की तरह निर्वेयक्तिक, वस्तुनिष्ठ होता है। उसका कार्य आत्मनिरपेक्ष, सर्वमान्य होता है। इलियट साहित्य तथा दर्शनशास्त्र के अध्येता, अच्छे कवि, समीक्षक रहे है। इन क्षेत्रों में उन्होंने अद्भूत क्रांति की है।

इलियट कहते है- 'वैयक्तिक प्रज्ञा (Individual talent), परंपरा से असंबद्ध, निरपेक्ष या विछिन्न वस्तु नहीं है। परंपरा से जुडा रहकर भी या यों कहें कि जुडा रहकर ही कवि अपनी वैयक्तिक क्षमता को अधिक सफलता तथा रमणियता से उजागर कर सकता है। तुलसीदास का 'रामकाव्य', प्रसाद की 'कामायनी' इसके उदाहरण है। वैयक्तिक प्रज्ञा के प्रस्फुटन में परंपरा बाधक नहीं सहाय्यक है।

निर्वेयक्तिकता का अर्थ है व्यष्टिगत भावों का समष्टिगत भाव हो जाना है। अर्थात् कवि अपनी अनुभूति को स्वयं की अनुभूति के रुप में अभिव्यक्त न कर सामान्य भावों की अनुभूति के रूप में व्यक्त करता है। यही निर्वैवक्तिकता है। व्यक्तिगत भाव का समापन यानी साधारणीकरण।

इलियट परंपरा को आवश्यक मानते हुए भी वे वैयक्तिकता के विरोधी है। उनका विचार है कि परंपरा के ज्ञान से आत्मनिष्ठता नियंत्रित होती है। वे व्यक्तिमत्त्व के सिद्धांत को नहीं मानते। उनका मत है कवि अपने व्यक्तित्त्व का अध्ययन नहीं करता, वह किसी भी वस्तु की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है। उसका कर्तव्य है ईमानदारी के साथ वह अपने निजत्त्व से पलायन करके जिसका निरूपण कर रहा है, उससे एकनिष्ठ हो। वास्तव में कवि कविता नहीं लिखता, कविता स्वयं कवि के माध्यम से प्रकट होती है। उन्होंने निर्वैयक्तिकता के दो रूप माने–

1. प्रथम वह जो कुशल शिल्पी मात्र के लिए सहज या प्राकृतिक होती है।
2. वह जो प्रौढ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध की जाती है।

उनका विचार है, कवि के यद्यपि निजी भाव होते है, पर वे इस प्रकार अभिव्यक्त होते है कि सर्वसाधारण के भाव बन जाते है। यही कवि का व्यक्तित्व से पलायन–र्निर्वैयक्तिकता है।

धार्मिक साहित्य के सम्बद्ध में उनका मत है कि उसमें काव्यत्व हो सकता है, पर उसे काव्य के लिए पढ़ा नहीं जाता। जो कृति धर्म को काव्य के माध्यम से प्रकट करती है, वह उत्कृष्ट नहीं होती– वह एक प्रचार काव्य बनता है। परंतु यदि किसी काव्य में बिना प्रयास धार्मिक प्रबुद्धता परिव्याप्त हो तो वह उत्कृष्ठ काव्य हो सकता है। यदि किसी काव्य में नैतिक, धार्मिक, सामाजिक प्रबुद्धता स्वत: स्फुरित हो तो वह सर्वोत्तम काव्य है। जो साहित्य हमें जीने की कला सिखाये, वही महान साहित्य है। ऐसा साहित्य परंपरा से जुड़ा होने के साथ निर्वैयक्तिकता का प्रतीक होता है। उत्कृष्ठ साहित्य संबंधी उनका यह चिंतन महत्त्वपूर्ण रहा है।

परंपरा सिद्धांत के द्वारा उन्होंने कला को निर्वैयक्तिक घोषित किया। उनका कथन है– ''कवि व्यक्तिगत अभिव्यक्ति नहीं करता वरना वह विशिष्ठ माध्यम मात्र है। कविता कवि नहीं लिखता बल्कि कविता कवि के माध्यम से कागज पर आती है। कविता उत्पन्न हो जाती है। निर्वैयक्तिकता के दो रूप हैं– (1) एक वह है जो 'कुशल शिल्पी मात्र' के लिए प्राकृतिक होती है। (2) दूसरी वह है जो प्रौढ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध की जाती है। दूसरे प्रकार की निवैयक्तिकता उस प्रौढ कवि की होती है, जो अपने उत्कृष्ठ और व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है।

अत: इलियट की निर्वैयक्तिकता का अर्थ है, 'कवि के व्यक्तिगत भावों की विशिष्टता का सामान्यीकरण। कवि अपनी तीव्र संवेदना और ग्रहण क्षमता से अन्य लोगों की अनुभूति को आयात कर लेता है, वह अनुभूतियां निजी होती है। जब चिंतन द्वारा आयत अनुभूतियों को साहित्य में व्यक्त करता है तब वे अनुभव सबके बन जाते है। भारतीय काव्य साहित्य का साधरणीकरण सिद्धांत इस पर आधारित है।

इलियट कवि और कलाकृति दोनों को परस्पर प्रभावित मानता है। कवि और पात्र एक दूसरे से प्रभावित रहते है। इसका फल यह है कि संपूर्ण काव्य–कृति कवि के व्यक्तित्त्व से निर्मित उठती है। कवि काव्य जगत में व्याप्त रहता है। वे कवि को संसार का निर्माता मानते है।

इलियट ने 'कविता के तीन स्वर' भाषण में काव्य के तीन स्वर माने हैं। (1) प्रथम स्वर वह है जिसमें कवि अन्य किसी से नहीं वरना स्वयम् से बात करता है। (2) द्वितीय स्वर वह है जिसमें वह अन्यों से बात करता है। (3) तृतीय स्वर कवि स्वयं वक्ता न होकर पात्रों के माध्यम से बोलता है।

प्रथम प्रकार में कविता स्वयम् अवतारित होती है, जैसी नव कविता, द्वितीय स्वर में सामाजिक उद्देश्य के लिए कविता लिखी जाती है, मनोरंजन तथा उपदेश के लिए लिखा गया साहित्य इस कोटि में आता है, तृतीय प्रकार में नाटक आते है। कविता के लिए ये तीनों स्वर आवश्यक है, इसके बिना काव्य नहीं बनता।

वास्तविकता यह है कि इलियट कवि के व्यक्तित्व के लोप के समर्थक नहीं है, वे उसके व्यक्तित्व को विकसित, व्यापक रूप में देखने के समर्थक है। अर्थात काव्य पर कवि का व्यक्तित्व हावी रहता है। वे मानते है, यदि किसी काव्य में बिना प्रयास धार्मिक प्रबुद्धता परिव्याप्त हो, तो वह उत्कृष्ठ काव्य हो सकता है, यदि किसी काव्य में नैतिक, धार्मिक और सामाजिक प्रमुखता स्वतः स्फुरित हो तो वह सर्वोत्तम काव्य है, जो हमें जीने की कला सिखाये।

परंपरा की तरह काव्य की निर्वेयक्तिकता का सिद्धांत भी इलियट के लेखन में सर्वत्र है। रोमांटिक भावधारा की अतिवैयक्तिकता के विरोध में उन्होंने यह सिद्धांत प्रस्तुत किया। निर्वेयक्तिकता का अंग वस्तुनिष्ठता है। वे काव्य और आलोचना में निर्वैयक्तिकता एवं वस्तुनिष्ठता के समर्थक है। वे इसे साहित्य के लिए लाभकारी मानते है। परिणामतः 1928 में उन्होंने अपने आपको साहित्य में आभिजात्यवादी राजनीति में राजभक्त और धर्म में ऐंग्लो-कैथालिक घोषित किया।

यहां स्पष्ट है कवि का व्यक्तित्व, उसका रचना संसार, उसकी अनुभूति में सार्वजनिकता, वस्तुनिष्ठता आदि के संबंध ये यह सिद्धांत महत्त्वपूर्ण रहा है। आधुनिक काव्य में अपना महत्त्व रखता है।

2.3.3 वस्तुनिष्ठ समीकरण

टी. एस्. इलियट एक विख्यात समीक्षक माने जाते है। उन्होने 'हैमलेट' को कलात्मक असफलता का सबसे बडा उदाहरण कहा है, और इसी प्रसंग में 'वस्तुमूलक प्रतिरूपता' का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। इसके अनुसार कविता एक वाचिक संरचना है जिसमें वे भाव समाहित है जिनका संप्रेषण कवि को अभिप्रेत है। कवि के भाव संवेदना, विचार अमूर्त होते है।

साहित्य रचना, धर्म, दर्शन या नीति का स्थानापन्न न होकर अपने में स्वयं एक इकाई है। इलियट मानता है 'कला में भाव-संप्रेषण का एक ही मार्ग है और वह है कि उसके लिए वस्तुनिष्ठ समीकरण को प्रस्तुत किया जाय। दूसरे शब्दों में ऐसी वस्तु, संघटना, स्थिति, घटना, शृंखला प्रस्तुत की जाय जो उस नाटकीय भाव का सूत्र हो, ताकि ज्यों ही भाव उद्बुद्ध हो जाए।

नाटककार या कवि जो कुछ कहना चाहता है, उसे वह वस्तुओं की किसी संघटना, किसी स्थिति, किसी घटना शृंखला के द्वारा ही कहता है। वह अपनी संवेदनाओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए

मूर्त विधान से काम लेता है। फलतः अमूर्त अभिव्यक्ति मूर्त हो जाती है। इन मूर्त चिन्हों अथवा प्रतिकों से ठीक वही भावनाएँ जागृत होती है, जो कवि के मन में जागृत हुई थी। काव्य की सफलता इसी में है कि भावनाओं और उनके मूर्तविधान में पूर्ण सामंजस्य और एकरूपता हो। हम इलियट के इस वस्तुनिष्ठ समीकरण को 'विभावन व्यापार' कह सकते है। यह विभाव विधान ऐसा होना चाहिए कि सामाजिकों में नाटककार के मानसभाव जागृत करने में सहायक हो सके।

इलियट काव्य कला का महत्व सामाजिक उपयोगिता में मानते हैं। वे कहते हैं- ''पूर्ण अभिजात कृति उसे मानते है, जिसमें किसी जाति की समग्र प्रतिभा, यदि सर्वथा व्यक्त नहीं तो अन्तर्हित अवश्य हो और वह ऐसी भाषा में ही प्रकट हो कि उसकी समस्त प्रतिभा पूंजीभूत हो सके। जिस जाति की वह कृति होगी उसके प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक परिस्थिति के व्यक्ति के हृदय को स्पर्श करने की उसमें क्षमता हो'' यह कथन सामाजिक उपयोगिता के महत्त्व को स्पष्ट करता है।

यहाँ स्पष्ट है इलियट काव्य के निर्माण में वैयक्तिकता के विरोधी है। वे कवि को वैज्ञानिक के समान निर्वैयक्तिक और वस्तुनिष्ठ मानते है।

संक्षेप में कहा जा सकता है अंग्रेजी साहित्य में अपने विचारों की गहरी छाप छोडनेवाले इलियट का स्थान महत्वपूर्ण है। परंपरा का संबंध संस्कृति से जोडनेवाले, अतीत के साथ वर्तमान को जोडनेवाला, कवि की स्वानुभूति को समष्टि रूप देनेवाला, निर्वैयक्तिकता की बात करनेवाला, वस्तुनिष्ठता के साथ सामाजिक उपयोगिता को महत्व देनेवाला- इलियट है। उनके विचार बहुआयामी, पथदर्शन है। एक नाटककार, समीक्षक, द्रष्टाचिंतक इलियट है। इसलिए उनके विचार क्रांतिकारक, नई सोच के प्रतीक है।

मूल्यांकन :

1. इलियट आधुनिक युग के न केवल सर्वश्रेष्ठ कवि है बल्कि आलोचनात्मक चित्तवृत्ति के समर्थ व्याख्याता है। उनकी रचनाएँ आज भी पथदर्शक, प्रयोजन से प्रेरित है। उससे दुःख, निराशा से मुक्ति प्राप्त होती है।

2. इलियट ने आलोचना पर न तो कोई स्वतंत्र ग्रंथ लिखा, न कोई विषय बनाया न सिद्धांत प्रस्तुत किया, न संप्रदाय चलाया। उन पर अनेक आलोचकों का प्रभाव है जैसे काव्य भाषा विचारों के पीछे वर्डसवर्थ की प्रेरणा है।

3. इलियट कलाकार और उसके सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक परिवेश में अनिवार्य संबंध मानते है। यह आर्नल्ड के प्रभाव का परिणाम है।

4. इतिहास-बोध और परंपरा की धारणाओं के अंतर्गत अतीत के समग्र साहित्य को वर्तमान के लिए और दूसरे देशों के साहित्यों को किसी एक देश के लिए सार्थक तथा उपदेय मानना इलियट की महत्वपूर्ण देन है।

5. उनका अवैयक्तिकता का सिद्धांत उपलब्धि है। स्वच्छंदतावादियों की अति अवैयक्तिकता के विरोध में उन्होंने अवैयक्तिक सिद्धांत प्रस्तुत किया। काव्य और आलोचना में वस्तुनिष्ठता के वे समर्थकाहै।

6. इलियट काव्यानुभूति को विशिष्ठ अनुभूति मानते है। रिचर्डस् की तरह सामान्य नहीं।

7. इलियट ने आलोचना के दो उद्देश्य माने (1) कलाकृति का वितरन। (2) बोध/आस्वाद.

8. भाषा प्रयोग की दृष्टि से वे समर्थ है। गद्य या पद्य की भाषा स्पष्ट, प्रांजल, सटिक है।

9. उनकी आलोचना में असंगति, और विरोध दिखायी देता है।

10. इलियट की परंपरा से संतुलन की वस्तु है। उनकी साहित्य संबंधी अवधारणा विकासशील है।

प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री मोकेयावेली के शब्दों मे ''वे रचनात्मक है पर सिद्धांत निर्माता नहीं, उसके विचारों की आवृत्ति ही हो सकती है, संक्षेपण नहीं हो सकता।'' यह कथन यहां यथार्थ लगता है।

2.3.4 विलियम् वर्डसवर्थ : काव्य भाषा सिद्धांत

परिचय :

विलियम वर्ड्सवर्थ मूलत: कवि थे। समालोचना की न तो उनमें रूचि थी, न प्रवृत्ति और न क्षमता। प्राकृतिक परिवेश में पलने के कारण उनका सौंदर्यबोध विकसित हुआ, जो कवित्त्व के लिए अनुकूल था। समालोचक के जो अपेक्षित गुण है वे उसमें नहीं थे, फिर भी परिस्थिति की बाहयता से उन्हें समालोचक बनना पडा।

विलियम का जन्म 7 अप्रैल 1770 ई. में 'काकर माउथ' में हुआ। पिता का नाम जॉन वर्ड्सवर्थ था। वे अपने पिता के द्‌वितीय पुत्र थे। इनके माता-पिता का विलियम के बचपन में ही देहावसान हो गया था, फिर भी उनकी अध्ययन में गहरी रूचि थी। 1787 में अध्ययन हेतु कैम्ब्रिज के सेंट जान्स कॉलेज में गए, जिसके वातावरण और गतिविधि का चित्रण इनकी रचनाओं में हुआ है। वे उस काल में प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति बडे संवेदनशील और विचारमग्न रहते थे। ग्राम्यप्रकृति का उन्हें आकर्षण था।

सन 1790 में फ्रांस, इटली, आल्पस पर्वत की पैदल यात्रा की। आल्पस का प्राकृतिक सौंदर्य और फ्रान्स की क्रांति से वे प्रभावित हुए। 1795 में कॉलरिज से मुलाकात हुई। 'लिरिकल बैल्ड्स' कविता संग्रह का 1798 में प्रकाशन हुआ, जिसमें काव्यविषयक नई मान्यताएँ स्थापित की, काव्य जगत में हलचल मची। 1800 में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमें लंबी प्रस्तावना लिखी। उसे स्वच्छंदतावादी आंदोलन का घोषणा पत्र कहा जाता है। इस रचना का चौथा संस्करण 1815 में प्रकाशित हुआ।

उनका 1802 को विवाह हुआ। 1805 में प्रसिद्ध आत्मकथात्मक कविता 'प्रिल्यूड' की रचना की। 1843 में राजकवि का सन्मान मिला। विचारशील व्यक्ति, प्रकृति प्रेम के कवि वर्ड्सवर्थ मानव प्रेम के कवि बने। उनकी मृत्यु 1850 में हुई।

काव्य भाषा सिद्धांत/विचार –

विलियम के काव्य संबंधी विचार उनकी रचना 'प्रिफेस टु लिरिकल बैलेड्स' में प्राप्त होते है। उनके विचार अपने समय के परिप्रेक्ष में नये और मौलिक है, जो पूर्ववर्ती परंपरागत विचारों से अलग है।

उनका विचार था सभी अच्छी कविता, जोरदार भावनाओं की सहज और स्वत:स्फूर्त उद्गार होती है, परंतु ऐसी कविता के स्थापिता कवि ने बहुत समय तक गहराई से विचार किया होता है, क्योंकि विचार हमारी अतीत की अनुभूतियों पर आधारित होते है। कविता के लिए उसका विषय भी महत्वपूर्ण होता है। उनकी यह मान्यता थी, बुराई का विरोध सफलता के साथ शक्तिशाली व्यक्तियों और तत्वों के द्वारा होता रहता है। यह सत्य कवि को प्रेरणा देता रहता है।

कविता की भाषा जनसामान्य की होनी चाहिए उसमें तांत्रिकता दिखावटपन, अस्वाभाविकता न हो। यह भाषा गद्य की भाषा से भिन्न नहीं हो सकती; छंद में भेद हो सकता है। यह भाषा लोकव्यवहार में प्रचलित होनी चाहिए। कविता की भाषा जनसामान्य की भाषा से चुनी जानी चाहिए।

वर्डसवर्थ ने कवि और कविता के संबंध में प्रश्न उठाए और स्वयंम् उसके उत्तर भी दिए है। 'कवि' शब्द का क्या अर्थ है? कवि क्या है? वह किसको संबोधित कर लिखता है? किस प्रकार की भाषा की अपेक्षा की जाती है। इसका उत्तर भी उन्होंने दिया है- वह कहता है- कवि मानव है और मानव से वार्तालाप करता है। वह अन्य मानव से अधिक संवेदनशील होता है। उसकी आत्मा विशाल होती है, प्रकृति का ज्ञान होता है। वह अप्रस्तुत वस्तु को प्रस्तुत करने की क्षमता रखता है- यही विशेषता है।

वर्डसवर्थ कविता को अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक दार्शनिक मानता है। कविता मानव और प्रकृति का बिंब है। कवि तुरंत आनंद प्रदान करता है। वह संसार को प्रेम की भावना से देखता है। उसकी कविता मानव की सहज गरिमा के प्रति सम्मान भाव है। आनंद के सहज सिद्धांत से ही कवि ज्ञान और अनुभव प्राप्त करता है। उसी में वह चलता है, घुमता है। कविता द्वारा कवि दूसरों को भी आनंद प्रदान कराता है यही उसकी गरिमा एवं महानता है। कविता ज्ञान का प्राणतत्व है। कवि की दृष्टि में मानव और प्रकृति एक दूसरे के लिए है। ज्ञान का आरंभ और अंत कविता है। अत: वर्डसवर्थ का यह कथन भावुक होने पर भी व्यावहारिक लगता है।

उनका विचार है कविता में उन घटनाओं और परिस्थितियों का वर्णन होना चाहिए जो सामान्य जीवन में घटित होती है साथ ही उसकी भाषा जनसाधारण की भाषा हो। इसी भाषा के चयन से वस्तुएं और घटनाऐं अधिक प्रभावशाली बनती है। वे बनावटी और आडम्बरपूर्ण भाषा के व्यवहार के विरोधी थे।

शैली के संबंध में उनका कथन है- 'काव्य भाषा में अलंकारों का प्रयोग हो सकता है पर यांत्रिक ढंग पर भरमार न हो। गद्य-पद्य की भाषा में अंतर न हो। उसमें गँवारपन, फूहडपन को दूर कर उसे सुरुचि संपन्न बनाया जाता है।

वर्ड्सवर्थ की सम्पूर्ण काव्य साधना का केंद्र-बिंदू प्रकृति थी। उनकी प्रकृति सजीव, एवं प्रेरक रही है। काव्य भाषा के संदर्भ में उनकी मान्यता थी- कि वह ग्रामीणों की दैनिक बोलचाल की भाषा होनी चाहिए, क्योंकि उसमें जो सरलता, सच्चाई और भावों के संम्प्रेषण की शक्ति है, वह कृत्रिम भाषा में नहीं है।

वर्ड्सवर्थ 'लिरिकल बैलड्स' में कहते है– 'मैंने ग्रामीणों की भाषा इसलिए अपनायी क्योंकि वह हर घडी प्रकृति की सर्वोत्तम वस्तुओं के संपर्क में रहती है। वह सरल है, भाव सरल है। उसमें सच्चाई, स्वाभाविकता, ईमानदारी है।'

प्राचीन कवियों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वे कहते है– यदि कवि के हृदय में भाव का प्रबल उन्मेष है; विषय का उचित चयन है तो उसकी भाषा भव्य, सजीव, चित्रप्रधान होगी। उनका कहना है कि कृत्रिम भाषा अपकृष्ठ कवियों की देन है। कृत्रिम काव्य भाषा जटिल, आडंबरपूर्ण होती है। उससे भावोद्दीपन क्षमता नहीं होती। ऐसी भाषा को त्याज्य भाषा मानते है। इसलिए आग्रह करते है प्राचीन कवियों द्वारा अपनायी भाषा का प्रयोग करे।

वर्ड्सवर्थ छंदोबद्ध रचना के समर्थक हो गए और छंदोबद्ध रचना के बीच कोई अंतर नहीं मानते। ग्रामीणों की सरल, अकृत्रिम गद्य में भी अभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता स्वीकारते है। ग्रामीण भाषा का समर्थन करते हुए तर्क दिया कि कवि उन दोषों को दूर करके ही ग्रामीण भाषा काम में लाएगा।

यहाँ स्पष्ट है प्रचलित शैली और रूढ़ भाषा को नकारा, सामान्य भाषा को अपनाया, सरल भाषा का आग्रह किया, गद्य–पद्य में अंतर नहीं माना, जनसाधारण की भाषा का प्रयोग कृत्रिम भाषा का विरोध, आदि उनकी विशेषनाएँ रही है।

वर्ड्सवर्थ की भाषा संबंधी मान्यताओं का खंडन न केवल नव–अभिजात्यवादियों ने किया, बल्कि उनके मित्र, सहयोगी कॉलरिज ने भी किए, जो 'लिरिकल बैलड्स' के सहलेखक थे।

वर्ड्सवर्थ के 'मनुष्यों की वास्तविक भाषा के चलन पर कॉलरिज ने आपत्ति उठाई है। तीव्र अनुभूति की दशा इस वाक्यांश की भी आलोचना की। गद्य–पद्य की भाषा की अभिन्नता पर कॉलरिज ने गंभीरता से विचार किया।

यहाँ स्पष्ट है वर्ड्सवर्थ न आलोचक थे न आलोचना लिखी। उनकी रचना 'लिरिकल बैलड्स' काफी महत्त्वपूर्ण रही है। काव्य भाषा संबंधी उनके विचार आदर्शवत है। एजटा पाऊंड, जॉन ड्राइडेन, जॉन डॉन आदि बोलचाल की भाषा के समर्थक रहे है। उनका कथन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की प्रतिक्रिया थी। बोलचाल की भाषा की बात को एक प्रयोग के रूप में उठाया था। उन्हें जो सुधार अपेक्षित थे उनमें सहाय्यता मिली। काव्य के स्वरूप, विषय, प्रयोजन, भाषा संबंधी नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उनमें जो संकेत है या एक महाकवि की जो व्यक्तिगत अंतर्दृष्टियाँ है, उनके कारण उनका महत्व आज भी अक्षुण्ण है।

2.3.5 आइ–ए–रिचडर्स–व्यावहारिक आलोचना

परिचय :

बीसवीं सदी के आलोचकों में यश और प्रभाव दोनों ही दृष्टियों से आइ.ए.रिचर्डस् का गौरवपूर्ण स्थान है। ईवर आर्मस्ट्राँग रिचडर्स का जन्म 1893 में इंग्लंड के चेशायर में हुआ। इनकी शिक्षा क्लिफ्टन और केंम्ब्रिज में हुई थी। इन्हें कैम्ब्रिज और पेकिंग (चीन) के विश्वविद्यालयों में नियुक्ति मिली थी। कुछ समय कार्य करने के उपरांत वे 1944 से 1963 तक हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्रोफेसर रहे है। उन पर

केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अध्यापन का प्रभाव पडा। इनके अध्यापन में मनोविज्ञान एवं अर्थविज्ञान का विशेष योगदान था।

रचनाएँ :

'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग (1923), 'दि प्रिसिपिल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म (1924), प्रॅक्टिकल क्रिटिसिज्म (1929), 'साईस एंड पोइट्री (1926), 'दि फिलॉसॉफी ऑफ रेटॉरिक (1936), 'हाऊ टू रीड ए पेज' (1942) आदि कई ग्रंथ लिखें। 'दि प्रिसिपिल्स ऑफ् लिटरेरी क्रिटिसिज्म और प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

1939 में वे अमरिका में बस गए। इनका व्यक्तित्त्व मूलत: एक महान शिक्षक का था। वे सुप्रसिद्ध समालोचक, कवि एवं भाषाविद् थे। इनकी मृत्यु 1979 में हुई।

रिचर्डस् ने आधुनिक जीवन में कविता की सन्दर्भता पर प्रकाश डाला और संपूर्ण एवं स्वस्थ मानव-जीवन में काव्य का महत्व तथा मूल्य पर भी विचार किया है। इनका व्यक्तित्त्व शिक्षक का था, वे भाषाविद, समालोचक, कवि थे। उसका विचार था जिस कविता में जितनी अधिक संप्रेषणीयता होगी, वह उतनी ही उत्कृष्ट होगी।

रिचर्डस् के विचार से काव्य या कला अपने में सीमित या एकान्तिक नहीं होती। वे अन्य मानव-व्यापारों से संबंद्ध होती है, उनसे पृथक या भिन्न नहीं। मनुष्य की जितनी भी क्रिया और कार्य है उनमें कला सर्जना सबसे अधिक मूल्यवान है। किसी भी मानव-कार्य का मूल्य इस बात पर निर्धारित किया जाता है कि वह कहाँ तक संवेगों के संतुलन और सुव्यवस्था उत्पन्न करने में सक्षम है। यही रिचर्डस् का मूल्य सिद्धांत है।

विज्ञान और साहित्य का भेद बताते हुए उन्होंने कहा है कि प्रत्येक कथन में वस्तुओं का निर्देश किया जाता है। जब निर्दिष्ट वस्तुएं सच्ची और वास्तविक होती है और उनके बीच संबंध भी सच्चा होता है, तब वह कथन वैज्ञानिक होता है। विज्ञान का संबंध बाहय जगत से तो साहित्य का संबंध अंत:करण या मानसिक अवस्थाओं से है। साहित्य का मूल्य इस बात से नहीं कि वह कितना बौद्धिक ज्ञान प्रदान करता है वरन इस बात में है कि वह भावों, संवेगों को जागृत करने में कितना सक्षम है।

रिचर्डस् का विचार है काव्य की भाषा रागात्मक होती है, नकात्मक नहीं। कवि वैज्ञानिक की तरह तथ्यों की खोज नहीं करता। वह विशिष्ट चित्तवृत्तियों और रागात्मक अवस्थाओं का चित्रण करता है। काव्य की भाषा प्रतिकों का समूह होती है जो श्रोता के मन में भाव उत्पन्न कर सके। वह लयात्मक होती है। छंद कठिन नियमबद्ध न होकर लयबद्ध होते है, उससे भाव, संवेग जागृत होते है। इस प्रकार उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्य और कला की प्रकृति और कार्य का विश्लेषण कर अपने समय में उठी शंकाओं का समाधान किया तथा काव्य और कला के शाश्वत मूल्य, सामाजिक महत्व और उसकी अखण्डता को

रेखांकित किया। उनका मूल्य सिद्धांत और संप्रेषणीयता का सिद्धांत किसी भी कलाकृति के वस्तुपक्ष और कलापक्ष के विवेचन के लिए पथदर्शक है।

समीक्षा के क्षेत्र में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में कविता की सार्थकता और महत्ता पर इनके मौलिक विचार है। उनका मत था कि आज के युग में जब प्राचीन परंपराएं और जीवनमूल्य विघटित हो रहे हैं तब कविता का मूल्य, उसकी मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर करता है। स्वस्थ मानवी जीवन में काव्य के महत्त्व पर विचार प्रस्तुत किया। काव्य और कला मानवी मन में उत्पन्न संवेगों में संगति, एवं संतुलन स्थापित करती है।

रिचर्डस् ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्य और कला के संदर्भ में उठे सवालों का समाधान करके उसका मूल्य एवं सामाजिक महत्व स्पष्ट किया। उनका कथन है 'जब प्राचीन परंपराएँ, आस्थाएं विनष्ट हो रही है, मूल्यों में विघटन हो रहा है, सभ्य समाज कविता के सहारे ही अपनी मानसिक व्यवस्था बनाए रख सकता है, क्योंकि काव्य से ही व्यक्ति और समाज में मानसिक संतुलन बढता है।

व्यावहारिक आलोचना – प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म –

आलोचना, समालोचन, समीक्षा आदि समानार्थी शब्द माने है, परंतु सूक्ष्म दृष्टि से उसमें भेद रहा है। आलोचना शब्द की व्युत्पत्ति लुच् धातु से हुई इसका अर्थ है देखना। आलोचना याने मूल्यांकन करना, निर्णय देना, कृति-रचना को अच्छी तरह से समझने के लिए कृति को वास्तविक रूपमें देखना। रिचर्डस् की धारणा है कि किसी रचना के अर्थ में कई धारणाएँ होती है। (1) मुख्यार्थ (2) भावना (3) वचन भंगी (4) उद्देश्य। मुख्यार्थ वही है जो वक्तव्य में शब्दों द्वारा कहा जाता है। आलोचक रचना पर मनन करे, विचार करे यही आशय है, शब्दावली का सावधान प्रयोग, तार्किक तीव्रता, वाक्यरचना पर अधिकार आदि सहाय्यक होते है।

आलोचना क्रियाशील होती है, वह मूल्यांकन करती है, मानदंड निर्धारित करती है। रिचर्डस ने आलोचना को कला न मानकर उसे 'शास्त्र' या 'प्रयोगात्मक विज्ञान' कहा है और उसके दो आधार स्तंभ बताए है। (1) मूल्य का लेखा अर्थात कृति कितनी मूल्यवान है? (2) संप्रेषण का लेखा अर्थात संक्रमण कितना सफल और प्रभावशाली है? आलोचना में तटस्थ, तथ्यपरक तथा तार्किक संबंधों को उन्होंने आवश्यक बताया है।

यह कहा जाता है प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म की चर्चा के बिना रिचर्डस् की आलोचना पद्धति की चर्चा अधूरी रहेगी। 1929 में 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' का प्रकाशन हुआ। इसमें आलोचना सिद्धांतों का विनियोग है, यह मौलिक रचना है। इसमें प्रतिपादित विचार, निष्कर्ष संतुलित है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में कार्य करते समय वे छात्रों को मुद्रित कविताएँ देते थे, उनसे कविता पर टिप्पणियाँ मांगते वहीं छात्रों की टिप्पणियाँ इसी ग्रंथ की आधार सामग्री रही है।

'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' में काव्य मूल्य, भाषा संप्रेषण संबंधी विचार है। सांस्कृतिक, वैचारिक, शैक्षणिक उद्देशों की सिद्धी के लिए इस रचना का निर्माण हुआ। इसकी रचना पद्धति रोचक है। वे केंब्रिज विश्वविद्यालय में छात्रों-पाठकों को कविताएँ देते और उनसे वे अनुरोध करते कि वे पूरी स्वतंत्रता के साथ उन कविताओं पर अपनी टिप्पणियाँ लिख कर दे। कवि के नाम गुप्त रखते थे। सात दिन के पश्चात कविता समीक्षा के साथ वापस लेते, उनका भी नाम गुप्त रखा जाता, कितनी बार कविता पढ़ी उसका उल्लेख किया जाता। लगभग 60% समीक्षकों ने कविता वापस कर दी।

कुल 13 कविताएँ वितरित की थी। सैंकडों टिप्पणियाँ प्राप्त हो गई, जिसका रिचर्डस् ने विश्लेषण किया। इसके चार भाग है- पहले भाग में भूमिका, उद्द्देश्य, टिप्पणियाँ, निष्कर्ष है। दूसरे भाग में 13 कविता पर प्राप्त टिप्पणियाँ की विस्तृत व्याख्या, तिसरे भाग में सामान्य, अर्थ, सूक्ष्म, अर्थ, रस, अलंकार का वर्णन चौथे भाग में संपूर्ण विश्लेषण का सार है।

रिचर्डस् के अनुसार इस ग्रंथ का प्रमुख प्रयोजन है- 'काव्य तथा उन साधनों' का निरूपण जो काव्य के बोध, परिवासन तथा मूल्यांकन के लिए अपेक्षित है।'' आलोचनात्मक विषयों, सिद्धांतों के उपकरण की सूक्ष्म, विवेकपूर्ण संप्रेषण की निष्पत्ति के ही साधन है। संप्रेषण का निरूपण ही आलोचना का मापदंड माना है।

रिचर्डस् ने काव्य के समीचीन, अध्ययन और मूल्यांकन अर्थात आलोचना में दस बाधाएँ मानी है- जैसे सामान्य अर्थबोध की कठिनाई, परिशंसन, बिंबविधान, स्मृति की अप्रासंगिकता, संप्रेषण की घिसी-पिटी अनुक्रियाएँ, अतिभावुकता, अवरोध, सिद्धांतमूलक आसंजन, प्राविधिक पूर्वकल्पनाएँ, पूर्वग्रह आदि इनमें विभाजक रेखा खिंचना कठिन है।

रिचर्डस् का विचार है- 'काव्य स्वयं एक संप्रेषण का प्रकार है। वह किस वस्तु का कैसे संप्रेषण करता है और संप्रेषित वस्तु का क्या मूल्य है? यही देखना आलोचना का विषय है। वे मूल्य और संप्रेषण में संप्रेषण को महत्व देते है क्योंकि मूल्य भी संप्रेषण पर निर्भर करता है। वे कहते है, सभी आलोचनात्मक प्रयासों का एक और एकमात्र लक्ष्य संप्रेषण में सुधार लाना है, अर्थात संप्रेषण ही आलोचना का चरम लक्ष्य है।

आलोचना संबंधी कठिनाईयाँ - (1) काव्य का सामान्य अर्थबोध (2) बिंबविधान (3) स्मृतिविषयक अप्रासंगिकताओं का प्रभाव (4) अतिभावुकता (5) अवरोध (6) आलोचनात्मक पूर्वग्रह।

अंग्रेजी साहित्य में पहली बार व्यापक और व्यवस्थित सौंदर्यशास्त्र/काव्यशास्त्र के निर्माण का श्रेय रिचर्डस् को है। उन्होंने मनोविज्ञान को आलोचना पद्धती का आधार बनाया। साथ ही मानवविज्ञान, अर्थविज्ञान का भी उपयोग किया। उन्होंने काव्य की मीमांसा कलाकार की दृष्टि से की है।

रिचर्डस् ने आलोचना के दो पक्ष माने- (1) आलोचनात्मक (2) प्राविधिक। आलोचनात्मक पक्ष में मूल्य का वर्णन होता है और प्राविधिक में साधनों का। रिचर्ड्स की आलोचना पद्धति अरस्तू और कालरिज के सिद्धांतों पर आधारित है।

'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' पर दो आक्षेप है- (1) ये सभी प्रगीत पर आश्रित है। इससे निकाले निष्कर्ष व्यापक नहीं है। दूसरी आक्षेप अपरिपक्व पाठको, छात्रों की प्रतिक्रिया क्या प्रभावी होगी? ऐसी कच्ची नींव पर खडा आलोचना का भवन कितना पक्का होगा? इन त्रुटियों के बावजूद अंग्रेजी भाषा जगत में रिचर्डस् का मान एवं प्रभाव रहा है।

मूल्यांकन :

1. अंग्रेजी साहित्य में पहली बार व्यापक और व्यवस्थित काव्यशास्त्र के निर्माण का श्रेय रिचर्डस् को ही है।

2. रिचर्ड्स की धारणा है कि आज के वैज्ञानिक युग में वहीं आलोचना मान्यता प्राप्त कर सकती है जो वैज्ञानिक हो अर्थात वैज्ञानिक उपादानों से निर्मित है।

3. उन्होंने काव्य की समीक्षा कलाकार की दृष्टि से की है।

4. उनके मतानुसार मूल्य और संप्रेषण ये दो ही आलोचना के आधार स्तंभ है। इसी कारण उनकी आलोचना को मनोवैज्ञानिक या अर्थवैज्ञानिक कही जाती है।

5. रिचर्डस् का कहना है कि आलोचना के दो पक्ष हैं- (अ) आलोचनात्मक (ब) प्राविधिक।

रिचर्डस् काव्य के प्रयोजनों में आनंद को महत्व नहीं देते। उनके अनुसार काव्य का एकमात्र प्रयोजन आवेगों की संतुष्टि के द्वारा संतुलित विश्रांति की उपलब्धि है।

'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' की योजना मौलिक है। किन्तु इसमें दो त्रुटियां है- (1) सारा विवेचन प्रगीत पर आश्रित है। इससे महाकाव्य का विश्लेषण संभव नहीं। (2) निष्कर्ष अपरिपक्व पाठकों की प्रतिक्रियाओं पर आधारित है। साथ ही पाठकों की अपरिमित भूलें भी हुई है। अत: कच्ची नींव पर खडा आलोचना का भवन कितना पक्का एवं मजबूत बनेगा- यही सवाल है।

रिचर्डस् के आलोचना सिद्धांत मूलत: अरस्तू और कॉलरिज के सिद्धांतो पर आधारित है। मनोविज्ञान का जामा पहनाकर रिचर्डस् ने उन्हें नए रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। लोंजाइनस, आर्नल्ड का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

विषयांतर, विरोधाभास, चक्करदार तर्क, कथ्य के स्पष्टीकरण के लिए उदाहरणों का अभाव या स्वल्पता, अनावश्यक शुष्कता, पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्तियॉ रिचर्डस् के लेखन की विशेषताएँ है।

इन त्रुटियों के बावजूद भी अंग्रेजी जगत में उन्हें मान-सन्मान है, प्रभाव है। बीसवीं शती में इलियट को छोडकर उनका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है। उनकी आलोचना पद्धति के सूत्र को पकडकर इंग्लंड में विलियम

एम्बसन जैसे आलोचक आगे बढे और अमरिका में 'न्यू क्रिटिसिज्म' नामक आलोचना संप्रदाय का विकास हुआ, यही महानता है।

रिचर्डस् ने कविता को सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण माना है। रिचर्डस् ने काव्य विषयक सिद्धांतों में काव्य की रक्षा को सर्वाधिक माना। रिचर्ड्स का कहना था कि जब प्राचीन परंपराएँ बिखरती जा रही है और मूल्यों का विघटन होत जा रहा है तब सभ्य समाज, कला एवं कविता के जरिए मानसिक संतुलन बनाए रख सकता है। रिचर्ड्स के अनुसार साहित्यालोचना का सिद्धांत दो आधार पर टिका होना चाहिए-एक मूल्य का लेखा-जोखा और दूसरा संप्रेषणीयता का आकलन। स्पष्ट है कि कला या कविता में मूल्य और संप्रेषणीयता का होना अनिवार्य है। इन्हीं गुणों के आधार पर रिचर्ड्स ने मूल्य और संप्रेषणीयता के सिद्धांत की स्थापना की।

1. संप्रेषण सिद्धांत :

मनुष्य समाजिक प्राणी होने की वजह से वह बचपन से ही अपनी अनुभूति को साझा करता आ रहा है। काव्य लेखन की एकमात्र शर्त यह कि वह अपनी कविता के माध्यम से जिस बात को कहना चाहता है वह कह पाया या नहीं? एक वर्ग संप्रेषण अनावश्यक मानता है तो दूसरा वर्ग आवश्यक। पहले वर्ग के अनुसार कवि अपनी अनुभूति कविता के अंदर सुरक्षित रखता है और उसका प्रचार भी खुद ही करता है। लेकिन रिचर्ड्स को यह बात स्वीकार्य नहीं है। उनके अनुसार संप्रेषणीयता कला का अंतरंग तत्त्व है। प्रेषणीयता को स्पष्ट करते हुए रिचर्ड्स लिखते हैं-'प्रेषणीयता में जो कुछ होता है, वह यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क प्राय: एक जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं।' किसी अन्य व्यक्ति की अनुभूति को, अनुभूति करना ही प्रेषणीयता है। कवि या कलाकार की अनुभूति का भावक द्वारा अनुभव किया जाना ही संप्रेषण है। जब किसी परिवेश या माहौल विशेष के कारण व्यक्ति का मस्तिष्क प्रभावित होता है और दूसरा उस व्यक्ति की क्रिया से ऐसी अनुभूति प्राप्त करता है कि जो पहले व्यक्ति की अनुभूति के समान होती है, तो उसे प्रेषणीयता कहते हैं।

दरअसल कला की सफलता संप्रेषणीयता की सफलता पर निर्भर है। वे तो यह भी मानते हैं कि 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उसने सामाजिक मन का विकास किया है, जो वह करता है (चेतन रूप से या अचेतन रूप से) सब दूसरों को निवेदित करता है।' रिचर्ड्स के अनुसार मनुष्य का हर कार्य किसी-न-किसी रूप में संप्रेषण ही है। कवि या कलाकार सतर्कता से अपने भावों का संप्रेषण नहीं करता, उसके लिए कोई विशेष प्रयास नहीं करता, जब कि कविता या कलाकृति में संप्रेषण आपने आप आ ही जाता है। कवि जैसे-जैसे अपनी कविता को संशोधित करता रहता है; वैसे-वैसे वह उसे अधिकाधिक संप्रेषणीय बनाता है।

संप्रेषण क्रिया को अधिक विश्लेषित करते हुए रिचर्ड्स यह भी कहते हैं, 'कवि चेतन स्तर पर किसी भी प्रकार के भावों को संप्रेषित करने का प्रयास नहीं करता, मगर उसके अचेतन मन में यह बात आवश्य बनी रहती है।' वैसे देखा जाए तो एक कवि या कलाकार ही नहीं एक सामान्य आदमी भी अपने आपको समाज के साथ जोड़े रखना चाहता है। एक कवि की प्रामाणिक इच्छा होती है कि वह अपने मन में उठने-

गिरने वाले भावो में समग्र संसार जानें और उसकी यही कामना ही काव्य निर्मिती का मूल है। इसके लिए जरूरी नहीं की यह भाव चेतन स्तर पर भी विद्‌यमान हो। दरअसल बात यह है कवि हो या कलाकार प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अपनी भावना और मन की बातों को पाठकों को अवगत करना चाहता है। वह केवल अवगत कराना नहीं चाहता बल्कि यही भावना तथा मन की बातें पाठकों में भी उद्‌वेलित भी करना चाहता है। यदि कवि या कलाकार पाठक के मन में समान मानसिक अवस्था पैदा करने में कामयाब हो गया तो उसकी कला अपने आप सिद्‌ध हो जाती है। कविता की लक्ष्य प्राप्ति का माध्यम संप्रेषणीयता है। संप्रेषण की प्रक्रिया तब होती है जब कवि मन अपने परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया स्वरूप काव्य लिखता है उससे पाठक का मन प्रभावित हो जाता है। इन दोनों में एक बात सामानता दिखाई देती है कि जो अनुभूति कवि मन में हुई थी, वही अनुभूति पाठक के मन में पैदा होती है। इसमें जरूरी है कि वक्ता के पास विशेष प्रकार की संप्रेषण क्षमता हो और श्रोता के पास भी वैसी ही ग्रहण क्षमता हो। इन दोनों में से एक की कमी से संप्रेषण असफल हो जाता है। कवि या कलाकार द्‌वारा समस्त माध्यम जुटाने के बावजूद कई बार पाठक की ग्रहायिक शक्ति का होना अनिवार्य बन जाता है। अगर पाठक किसी विशिष्ट मानसिक स्थितियों के कारण कवि की बात को सुन नहीं पाता तो भी संप्रेषण असफल हो जाता है। यहाँ सवाल यह उठता है कि कवि के व्यक्तित्त्व के वे कौन-से गुण या तत्त्व होते हैं; जिनके कारण वह अपनी कविता संप्रेषणीय बन सकता है। इसी बात पर रिचर्ड्‌स ने चिंतन किया। कवि की अनुभूति अत्यंत विस्तृत और मौलिक होनी चाहिए। कवि की अनुभूति जितनी विस्तृत एवं मौलिक होगी उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही सजीव एवं सक्षम होगी। इसमें यह आवश्यक है कि कवि और पाठक के मनोवेगों में समानता हो। इसमें समानता का अभाव हो तो कवि को कल्पना के सहारे साम्य उत्पन्न करना होगा, ताकि कवि और पाठक के बीच किसी भी प्रकार का मानसिक अंतर न हो। यह बात गौरतबल है कि अनुभूति किसी भी जीवंत प्रसंगों से उत्पन्न होती है तो उससे संप्रेषण की प्रक्रिया सफल हो जाती है। लेकिन ये जीवंत प्रसंग व्यवस्थित, सुसंबंध एवं संगठित होने चाहिए। अव्यवस्थित रूप से अभिव्यक्त मानवीय आवेगों का प्रभाव पाठक पर नहीं पड़ता। इसलिए कवि या कलाकार के पास दूरदृष्टि होनी चाहिए, जिसके द्‌वारा वह आवेगों को एक रस या एक व्यवस्था या एक क्रम में बांधकर अभिव्यक्त कर सके। कवि और पाठक के बीच संप्रेषणीयता में बाधक तत्त्वों पर भी विचार किया जाना चाहिए। इस संदर्भ में रिचर्ड्‌स सबसे पहले असंगत स्मृतियों की बात करते हैं। उनका कहना था कि 'जब कभी किसी कृति को पढ़ते समय या उसकी व्याख्या करते समय व्याख्याता अपने अंतवर्गीय उत्थान-पतन से प्रभावित हो जाए, किसी विचार शृंखला का उस पर दृढ़ आग्रह छा जाए, किसी मिलती-जुलती हुई पहले पढ़ी हुई कृति की स्मृति साहसा जागृत हो जाए तो अर्थ भंग हो जाना स्वाभाविक है।' संप्रेषणीयता का और एक विरोधी तत्त्व है भावातिरेक। भावों का अतिरेक होने पर कविता या कलाकृति दुर्बोध हो जाती है। इसके अलावा धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्‌धांतों के प्रति अंधभक्ति होने से पाठक पूर्वग्रहों से मुक्त नहीं हो पाता। इससे संप्रेषणीयता असफल रह जाती है।

2. मूल्य सिद्धांत :

रिचर्ड्स के काव्यालोचन संबंधी सिद्धांतों से मौलिक और गंभीर चिंतन की प्रतिती मिल जाती है। उन्होंने डॉ. ब्रैडले के 'कला, कला के लिए' सिद्धांत का खंडन करते हुए मूल्य सिद्धांत की स्थापना की। कविता का मूल्य उसकी प्रभावान्विति पर निर्भर करता है। यह क्षमता जिस कविता में अधिक होगी वह कविता उतनी की संप्रेषणीय होगी। काव्य का मूल्य अंकित करते समय रिचर्ड्स सबसे पहले सौंदर्य की बात करते हैं। रिचर्ड्स सौंदर्य को काव्य का निरपेक्ष मूल्य मानते हैं। मानव जीवन में आवेगों की अवस्थित सर्वविदित है। इन आवेगों में संतुलन तथा असंतुलन बराबर बना रहता है। मानव मन में कई आवेग पैदा होते हैं। इनमें व्यवस्था और संतुलन अत्यंत जरूरी है। विरोधी मनोवेगों को सुव्यवस्थित करने तथा उनमें संतुलन पैदा करने का श्रेय सौंदर्य को जाता है। यही वजह है कि रिचर्ड्स ने सौंदर्य को महत्त्वपूर्ण माना है। रिचर्ड्स दो किस्म के मानवीय मनोवेग स्वीकार करते हैं। एक-प्रवृत्तिमूलक मनोवेग और निवृत्तिमूलक मनोवेग। मनुष्य का मन इन्हीं दो परस्पर विरोधी प्रवृत्ति के मनोवेगों से आकुल रहता है। कला इन विरोधी मनोवेगों के बीच संतुलन स्थापित करती है; उसे व्यवस्थित रूप देती है। स्वयं रिचर्ड्स के शब्दों में –'कला का मूल्य भी उसी बात में है कि हमारे आवेगों में संगति और संतुलन स्थापित करें, हमारी अनुभूतियों के क्षेत्र को व्यापक बनाए। साहित्य मनुष्य को परस्पर सहयोग के लिए प्रेरित करता है। ...साहित्य का प्रयोजन एक ऐसी मनःस्थिति उत्पन्न कर देना है जिसमें आवेगों का संतुलन होने के साथ-साथ बाह्य क्रिया के लिए तत्परता उत्पन्न हो जाए।'

रिचर्ड्स सौंदर्यशास्त्र के प्रसंग में मूल्य संबंधी विचारों की अपेक्षा करते हैं। यह एक अलग बात है कि उसका केवल मूल्य की दृष्टि से विचार करना एक गंभीर त्रुटि है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कला संबंधी कुछ अनुभव मौलिक होते हैं और मूल्यवान भी। आधुनिक सौंदर्यशास्त्र का मनाना है कि जिसे हम सौंदर्यानुभूति कहते हैं, वह एक मानसिक क्रिया है। वस्तुतः सभी किस्म के अनुभव कला-मूल्यों के साथ जुड़े रहते हैं। सौंदर्य के गुण कई कारणों से उत्पन्न होते हैं। सौंदर्यानुभूति विशिष्ट होती है। यही विशिष्ट अनुभूति अन्य अनुभावों से अलग होती है। यह मानकर कहा जा सकता है कि सौंदर्य का अनुभव मूल्य के साथ जुड़ा होता है।

रिचर्ड्स का कहना है कि कलाएँ हमारे संचित मानव मूल्यों का भंडारण होती हैं। ये कलाएँ असाधारण व्यक्ति के जीवन के क्षणों से उद्भुत होती है और चिरस्थायी बन जाती है। कलाकृति निर्मिती में संप्रेषणीयता की दृष्टि से मूल्य सिद्धांत के बीच कला को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। अनुभव के मूल्य के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण निर्णयों का लेखा कलाएँ प्रस्तुत करती है कि कौन-से अनुभव अन्य अनुभवों से अधिक मूल्यवान है। कुछ लोग का मानना है कि कला का संबंध नैतिकता से नहीं है जबकि यह देखने का काम धर्मगुरु या पुलिस का हैं। लेकिन जब कोई आलोचक किसी कृति की समीक्षा करेगा तो किन्हीं मूल्यों के आधार पर करेगा? आलोचक यह देखता है कि कलाकृति का समाज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है या बुरा? यदि समाज पर कलाकृति का अच्छा प्रभाव पड़ता है तो उसमें निश्चय ही अच्छे मूल्य हैं। कविता या कला का मूल्य पाठक या श्रोता के मन को प्रभावित करने की क्षमता पर अंकित किया जाता है। आखिर कला या कविता

का कार्य मानव मन को संतुलित करना है। स्नायु-संबंधी व्यवस्था या उसकी आंशिक क्रियाशीलता उस व्यक्ति का मन ही है। जो कविता या कलाकृति स्नायुमंडल में प्रभाव उत्पन्न करती है वही कविता की प्रेरणा या आनंद है और मानव कल्याण भी। कला का मूल्यों से ऐसा संबंध जो कभी नहीं टूटता क्योंकि मूल्य ही मानव जीवन के प्रेरक अनुभव है।

रिचर्ड्स के अनुसार मानव जीवन के संघर्षों या परिस्थिति के चलते मन के भीतरी आवेगों या वृत्तियों में उतार-चढ़ाव पैदा होते हैं। इसी कारण मनुष्य के मन में तनाव या विषमता की स्थिति पैदा होती है। काव्य या कलाएँ इन्हीं आवेगों के बीच संगति बिठाती है या संतुलन स्थापित करती है। ये काव्य या कलाएँ आवेगों को व्यवस्थित कर स्नायुमंडल को राहत नहीं देती जब कि सुख भी देती है। सौंदर्य इसलिए मूल्यवान है क्योंकि वह विरोधी मनोवेगों अर्थात् विषमता को संतुलित करता है। आवेगों की दो स्थितियाँ हैं-काम्य और अकाम्य। मानव मस्तिष्क में दोनों का रूप संतुलित होता है। इसमें काम्य वेग वे है जो संतुलन, स्थिरता और व्यवस्था को बनाए रखते हैं। वे आवेग ज्यादातर महत्त्वपूर्ण होते हैं; जो दूसरों को क्षति पहुँचाने के बजाय खुद का विकास करते हैं। मन की अच्छी स्थिति वही है जिसमें मानसिक क्रियाओं की सुसंगति रहती है और संघर्ष कम हो जाता है। अधिकतर कविता या कला में निहित अनुभव व्यवस्थित विकास में योगदान देते हैं। वे अनुभव आवेगों के बीच संतुलन स्थापित करते हैं। कविता या कला कृति मानव की अनुभूतियों और संवेदनाओं को व्यापक बना देती है। कला या कविता मानव-मानव के बीच संवेदनात्मक एकता स्थापित करती है। रिचर्ड्स ऐसी ही एकता या संतुलन या समन्वय को कला का गुण मानते हैं। यही उनका मूल्य है। यह कार्य कविता या कलाकृति सौंदर्य के माध्यम से करती है क्योंकि वह उसी की अभिव्यक्ति होती है। रिचर्ड्स के इन्हीं विचारों की हिमायत प्रसिद्ध दार्शनिक संतायन ने की है-'सौंदर्य का काम समन्वय और संतुलन प्रदान करना है; जिससे उद्वेलित मन में शांति आ जाती है।' इसी संतुलन कार्य को रिचर्ड्स सिनेस्थीसिस कहते हैं। उनका मानना है कि सिनेस्थीसिस ताजगी का अनुभव करता है, थकान का नहीं।

सौंदर्यानुभूति के संदर्भ में वे कहते हैं-'सभी आवेग समन्वयकारी नहीं होते क्योंकि मानव जीवन में संघर्ष आम बात है। एक ऐसी व्यवस्था की उम्मीद है कि जिसमें आवेगों को स्वतंत्र कार्य-कलाप की छूट हो, परस्पर सामंजस्य का रूप हो और निराशा न आए। इस तरह के संतुलन में क्षणिक क्यों न हो हम सौंदर्य की अनुभूति करते हैं।' रिचर्ड्स के अनुसार इसमें बाह्य क्रियाओं की भी प्रेरणा सहायक होती है। वे कला या कविता को एकांगी नहीं मानते जबकि काव्य या कलाएँ मानव के अन्य व्यापारों से संबंधित है; उनसे अलग नहीं। किसी भी मानव - क्रिया का मूल्य इस बात से अंकित हो जाता है कि वह किस सीमा तक मानव मनोवेगों को संतुलित करने में सक्षम है। इस दृष्टि से काव्य और कला का सृजन सबसे अधिक मूल्यवान है। रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत को 'सिनेस्थीसिस' का सामंजस्य या संतुलन का सिद्धांत भी कहा जा सकता है।

2.3.6 कॉलरिज : कल्पना सिद्धांत और फैंटसी

सेमुअल टेलर कॉलरिज स्वच्छतावाद के समर्थक रहे हैं। वह कवि के साथ-साथ दार्शनिक और आलोचक के रूप में प्रसिद्ध हैं। पत्रकारिता, राजनीति और वादविवाद आदि क्षेत्र में उनका योगदान सराहनीय

रहा है। समीक्षा सिद्धांतों के नवीन विन्यास के कारण और रोमांटिक कवि के रूप में बहुत ख्याति प्राप्त करने वाले कॉलरिज ने 'बायोग्राफिया लिटरिया' ग्रंथ में समीक्षा को दर्शन और तत्त्व –मीमांसा, के साथ जोड़ने का सफल कार्य किया है। कॉलरिज ने अपने साहित्य शास्त्र संबंधी विचारों में रोमांटिक आलोचना की परंपरा में कविता को शास्त्र के जड़ नियमों के बंधन से मुक्त करने का प्रयास तो किया दूसरी ओर कविता के साथ दर्शन का अविच्छिन्न संबंध जोड़ने का प्रयास भी किया।

कॉलरिज की कविता एक विशिष्ट रचना के रूप में स्थापित हुई है। उनके कविता का प्रतिपाद्य सौंदर्य साधनों के द्वारा आनंद की प्राप्ति करना है। असल में कॉलरिज ने कवि और कविता को एक दूसरे से संबंधित मानकर काव्य सिद्धांत की चर्चा की है। कॉलरिज के अनुसार कविता के विभिन्न सुंदर अंग समन्वित होकर काव्य सौंदर्य को आकार देते हैं । कवि वर्ड्सवर्थ के कारण कॉलरिज की ऐसी सोच बनी थी कि प्रतिभा संपन्न कवि बिम्बों और निपुणता के साथ एकत्र करता है कि उसमें एक अलौकिक चमत्कार अपने आप आ जाता है।

कल्पना शब्द का अर्थ सृजन करना या सृष्टि करना है। रचनाकार का सृजन शक्ति के बल पर एक नई तथा चमत्कारिक दुनिया का पुनर्निर्माण करता है। सही मायने में मनोवेगों का सहानुभूतिपूर्वक संप्रेषित करने का साधन कल्पना है। उत्पादक, संयोजक और अवबोधक आदि कल्पना के तीन प्रकार माने जाते हैं। यह सर्वविदित है कि कल्पना साहित्य का अत्यंत महत्वपूर्ण तत्त्व है। कल्पना कविता का प्राण तत्त्व है। साहित्य में कल्पना तत्व ना हो तो साहित्य शुष्क और निरस हो जाएगा।असल में जहां न पहुंचे रवि वहां पहुंचे कवि इसके मूल में कल्पना काम करती है।

कॉलरिज ने कल्पना के संबंध में गंभीर चिंतन किया है। यदि हम कॉलरिज के कल्पना पर दृष्टिपात करें तो हमें एक बात स्पष्ट दिखाई देगी कि कॉलरिज के सिद्धांत समझने के लिए संघातवाद का ज्ञान जरूरी रहा है। इस मत के अनुयायी ने काव्य को यंत्रवत सिद्ध करने का प्रयास किया है। आगे जाकर न्यूटन ने भी मानव मन के व्यापार को प्रकृति विज्ञान के अंतर्गत सिद्ध करने का प्रयास किया है। कॉलरिज कहना है कि दर्शनाभूति के लिए मन को सक्रिय होना जरूरी है। महान कवि अपनी कृति में विलक्षण चमत्कार जिस शक्ति के सहारे मूर्त करता है उसी प्रकार कॉलरिज ने भी किया है। वास्तविकता के बिना नए प्रतिरूपों का निर्माण करने की शक्ति कल्पना में होती है। कल्पना को पूर्वानुभूति करने वाली शक्ति कॉलरिज ने कहा है। कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत भाव और चेतना के बीच सेतु का काम करता है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने कल्पना की अनेक परिभाषा करने का प्रयास किया गया किंतु रोमांटिक तथा दार्शनिक कवि कॉलरिज ने कल्पना की परिभाषा करते हुए लिखा है, ''स्पष्ट रूप से संसार में दो शक्तियां कार्य करती हैं जो एक दूसरे के संबंध में क्रियाशील और निष्क्रीय होती है और कार्य बिना एक मध्यस्थ शक्ति के संभव नहीं है जो एक साथ सक्रिय भी है और निष्क्रीय भी ।दर्शन की भाषा में इस मध्यस्थ शक्ति को कल्पना की संज्ञा दी गई है, किंतु साधारण भाषा में विशेष रूप से काव्य के संबंध में कल्पना की संज्ञा और विशेष शक्ति के लिए प्रयुक्त होती है जिसका संबंध मन मस्तिष्क के एक श्रेष्ठ ऐच्छिक प्रतिबंधन से होता है।''

कल्पना को महत्त्व देने वाले कॉलरिज कल्पना को समन्वय शक्ति मानते हैं। वे मानते हैं कि अन्तर्जगत और बाहयर्जगत का सफल संयोजन कल्पना करती है। अपने कल्पना संबंधी धारणा का विशिष्ट महत्त्व है। रचनाकार के नए विचार के रूप में कल्पना का विषय बनवाया है जिसके द्वारा कलाकृतियों में नवीन संबंध सूत्रों तथा नए रूप व्यापारों का मानसिक विकास किया जाता है।

कॉलरिज ने कल्पना सिद्धांत को प्रतिपादित करने के पहले कल्पना तथा रचनात्मक कल्पना को एक माना जाता था। कॉलरिज ने सृजनात्मक ललित कल्पना को ही स्वच्छंद और सौंदर्यग्राही क्षमता के रूप में परिभाषित किया है। कॉलरिज ने प्राथमिक कल्पना तथा विशिष्ट कल्पना ऐसे कल्पना के दो प्रकार किए हैं। कल्पना के इन दोनों भेद को पुनरावृत्तात्मक कल्पना और सृजनात्मक कल्पना के नाम से भी जाना जाता है।

प्राथमिक कल्पना वस्तु के संदर्भ में जानकारी देती है। प्राथमिक कल्पना को सृजनात्मक शक्ति कहा जाता है क्योंकि वह तात्त्विक रूप से व्यवस्था का स्थापना करती है। प्राथमिक कल्पना के आधार पर सृष्टि निर्माण हुई है उसी तरह व्यक्ति के द्वारा मानव मन में मानसिक विश्व की निर्मित हुई है। प्राथमिक कल्पना एक स्वतंत्र और मानसिक क्रिया है। प्राथमिक कल्पना व्यष्टि को ज्ञान प्राप्त करती है।

विशिष्ट कल्पना जनसाधारण में नहीं होती है वह सिर्फ कलाकारों में पाई जाती हैं। विशिष्ट कल्पना के आधार पर वैज्ञानिक, उपदेश दार्शनिक, इतिहासकार और कलाकार सृजन करते हैं। इस कल्पना के कारण काव्य की ऊंचाई तो बढ़ती है और आदर्श के निकट तक पहुंच जाता है। प्राथमिक शक्ति की प्रतिध्वनि विशिष्ट कल्पना है। विशिष्ट कल्पना प्राथमिक कल्पना का सजग मानवीय प्रयोग कहा जाता है। उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यही है कि प्राथमिक कल्पना वास्तविक ज्ञान परक स्थिति में होती है तो विशिष्ट कल्पना चिंतन-परक होती है।

किसी भी विषय के विभिन्न पक्षों को संश्लिष्टता प्रदान करने का कार्य कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत करता है। सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण करने हेतु कलाकार अपनी रचना में किसी विषय या वस्तु के विभिन्न खंडों में प्रतिबिंबित करने के अलावा कल्पना के द्वारा समन्वित आकार देता है। रचनाकार का सही मूलाधार नश्वरता में भी असीम दैवी शक्ति का आभास करनेवाली और निष्प्राण में प्राण संचार करने वाली ललित कल्पना होती रहती है ।कॉलरिज के अनुसार कल्पना लालित्य स्मृत की एक शैली है। कल्पना की विनियोग की मात्रा हर कलाओं में अलग-अलग तरह की होती है । कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत सही भूमि भावानुभूति है। कॉलरिज अपने जीवन के अनुभव में कल्पना का जो ग्रहण किया उसी के आधार पर उन्होंने कल्पना का चित्रण किया है।

फैंटेसी

'फैंटेसी' अंग्रेजी का शब्द है। जो यूनानी शब्द फैंटेंसिया से निर्मित है, इसका अर्थ होता है तृष्णा, दिवास्वप्न या कल्पना का उद्वेग। फैंटेसी का अभिप्राय है कि मनुष्य की वह क्षमता जो संभाव्य दुनिया का निर्माण करती है। इस प्रकार फैंटेसी का अर्थ स्वप्नचित्र है। साहित्यकार के अंदर छिपा हुआ शिशु ही साहित्यिक फैंटेसी निर्माण करता है। यह एक विशेष प्रकार की कल्पना शक्ति है जिसे दुस्वप्नात्मक मानसिक

बिंब कहा जा सकता है। फैंटेसी शब्द का साहित्य के लिए नया नहीं है । साहित्य प्रक्रिया में साहित्यकार जब बाहय परिवेश को आत्मसात करता है तब उसके मन में कुछ धुंधला कल्पना चित्र उभरता है और यह स्वप्निल प्रभाव उसके अभिव्यक्ति पक्ष का माध्यम बनता है इसी को फैंटेसी टेकनीक कहा जाता है।

कॉलरिज से पूर्व कल्पना तथा फैंटसी को एक माना जाता था किंतु कॉलरिज ने फैंटेसी को कल्पना से भिन्न माना है। फैंटेसी में चित्र संघातों को उत्पन्न करने की बड़ी शक्ति होती है। पूर्व परिचित से ही नवीन चित्रों की उद्भावना इसमें होती है। कॉलरिज ने पुनर्निर्माण करने वाली शक्ति या दिवा स्वप्न में बिंबो का निर्माण करने वाली शक्ति को ही फेंटेसी कहा है। प्रत्ययों का संश्लेषण फैंटसी करती है। कॉलरिज फैंटेसी को सयोंगात्मक मानसिक शक्ति मानते हैं। कला क्षेत्र में विशिष्ट कल्पना और फैंटेसी दोनों ही कार्य करती है किंतु यह सही है कि दोनों के द्वारा प्रस्तुत दृश्य और चित्र भिन्न प्रकार के होते हैं। असल में फैंटेसी अपनी प्रकृति से विशिष्ट कल्पना के ज्यादा नजदीक है। फैंटेसी के द्वारा तत्त्वों का मिलन होता है पर पूर्ण तादात्म्य नहीं होता।

जाहिर सी बात है कि फैंटेसी निरंकुश एवं स्वच्छंद होती है। उसका लक्ष्य भी गंभीर नहीं होता है। यह मानना होगा कि स्वप्न में मनुष्य अनेक विचारों को इकट्ठा कर लेता है किंतु क्रमबद्ध नहीं कर सकता।

कॉलरिज के मतानुसार फैंटेसी यांत्रिक शक्ति है वह स्मृति के माध्यम से समुच्चय प्रस्तुत करती है। फैंटेसी असृदश बिंबो तथा वस्तुओं को एक साथ रखती है । यह सभी को ज्ञात है कि प्रतिभा प्रज्ञा से उच्चतर शक्ति है उसी प्रकार फैंटेसी कल्पना से उच्चतर शक्ति है। स्पष्ट है कि फैंटेसी अर्जित तथा संयोजक शक्ति है। फैंटेसी पर विवेक तथा बुद्धि का अंकुश नहीं होता है । फैंटेसी की तुलना वस्त्रालंकार से की गई है। इसका मुख्य कारण यह की फैंटसी का प्रयोग केवल काव्य को बाह्य रूप में अलंकृत करना होता है। फैंटेसी अधिकांश मात्रा में सुंदर कोटी तक पहुंचती है।

2.4 सारांश

थॉमस् स्टीर्न्स इलियट का जन्म 26 सितंबर 1888 में मिसौरी में हुआ। पिताजी व्यापारी तो माता कवयित्री थी। उन्होंने उच्च शिक्षा हार्वर्ड विश्वविद्यालय से प्राप्त की। कवि, आलोचक, संपादक, और नाटककार के रूप में वे प्रसिद्ध है। उनकी 'द बैस्टलैंड' प्रसिद्ध कविता है। अपने सिद्धांतों के माध्यम से विचार प्रस्तुत करनेवाले इलियट का अंग्रेजी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। परिणामत: बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध अंग्रेजी साहित्य में 'इलियट युग' कहा जाता है।

वे रूढि विरोधी थे। परंपरा सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए परंपरा का संबंध संस्कृति से जोड दिया। साथ-ही-साथ लोकजीवन, कला, दर्शन, साहित्य, वर्तमान, भविष्य और भूतकाल से परंपरा का संबंध माना है। परंपरा का ऐतिहासिक महत्व स्पष्ट किया है।

इलियट बीसवीं शताब्दी के महत्त्वपूर्ण आलोचक है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती चली आ रही स्वच्छतावादी परंपरा को नकारा है। वैयक्तिकता की चली आ रही धारा को निर्वैयक्तिकता में बदलने का प्रयास किया।

अर्थात् जो वैयक्तिक अथवा व्यक्तिगत भावों की विशिष्टता का सामान्यीकरण अर्थात् निर्वैयक्तिकता। कवि अपनी तीव्र संवेदना और ग्रहणक्षमता से अन्य लोगों की अनुभूतियों को इस प्रकार व्यक्त करता है कि वह विशिष्ट से सामान्य बन जाती है- यही महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

इतिहास बोध और परंपरा, कलाकार और उसका परिवेश से संबंध, काव्यानुभूति संबंधी विचार, अवैयक्तिकता सिद्धांत, आलोचना तथा भाषा संबंधी उनकी मान्यताएँ, साहित्य संबंधी अवधारणा, आदि महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती है। वे विचार आज ही पथदर्शक रहे है।

1. इलियट एजरा पाऊंड के विचारों से प्रभावित थे। उनका दूसरा मत वैयक्तिक प्रज्ञा एवं निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत रहा है। कवि की वैयक्तिक प्रज्ञा को महत्त्वपूर्ण माना है। निर्वैयक्तिकता अर्थ व्यक्तिगत भावों का समष्टिगत भाव हो जाना है। व्यक्तिगत भावों का साधारणीकरण निर्वेयक्तिकता है। उनका कविता के तीन स्वर महत्त्वपूर्ण भाषण रहा है।

वस्तुनिष्ठ समीकरण भी अनोखा सिद्धांत है। काव्य में भाव संप्रेषण के प्रस्तुतीकरण के लिए वस्तुनिष्ठता आवश्यक है। वे कवि को वैज्ञानिक की तरह निर्वैयक्तिक और वस्तुनिष्ठ मानते है। अत: उनके विचार क्रांतिकारक, नई सोच के प्रतीक है।

2. प्राकृतिक सौंदर्य का कवि वर्ड्सवर्थ है। उनका जन्म 1770 में 'काकर माऊथ' में हुआ। फ्रान्स की क्रांति और आल्प्रस पर्वत के सौंदर्य से वे प्रभावित रहे है। उनका 'प्रॅक्टिकल बैलड्स' कविता संग्रह है। इसका दूसरा संस्करण 'स्वच्छंदतावादी आंदोलन का घोषणापत्र' कहा जाता है। 'प्रिल्यूड आत्मकथात्मक कविता है। काव्य में ग्रामभाषा को अपनानेवाला यह कवि है। भाषा सरल, स्पष्ट, सहज जनसाधारण प्रिय होनी चाहिए यह विचार महत्त्वपूर्ण है। काव्य विषय, स्वरूप, भाषा प्रयोग संबंधी उनका नया दृष्टिकोण रहा है।

3. बीसवीं शताब्दीं में आलोचना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण नाम आइ.ए.रिचर्डस् का रहा है। उनका जन्म 1893 में इंग्लंड के चेशावर में हुआ। अध्यापन में मनोविज्ञान और अर्थविज्ञान को महत्त्व देते है। 'प्रॅक्टिकल क्रिटिसिज्म' दि प्रिसिपिल्स ऑफ लिटरेली क्रिटिसिज्म' महत्त्वपूर्ण रचनाएँ है। वे मानते है आलोचना क्रियाशील होती है, मानदंड निर्धारित करती है, मूल्यांकन करती है। आलोचना को कला न मानकर ''प्रयोगात्मक विज्ञान'' कहा है। संप्रेषित वस्तु का क्या मूल्य है? यह परखना ही आलोचना है। आलोचना संबंधी कठिनाईयों पर विचार किया है। उनके आलोचना संबंधी विचारों से आज भी लोग प्रभावित है।

4. सैम्युअल टेलर कॉलरिज का जन्म 1772 में हुआ। उनके कविता के विषय भावना, कल्पना रहे है। कॉलरिज सत्यवादी थे। तात्कालीक आनंद का संचार उनके कविता का उद्‌देश्य रहा है।

1) रिचर्ड्स काव्य का मूल्यांकन रागात्मक आधार पर करते हैं और पाठकों के मन पर पड़े प्रभावों से उसे आंकते हैं।

2) रिचर्ड्स का संप्रेषण सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र में अंकित साधारणीकरण के नजदीक है।

3) रिचर्ड्स के अनुसार भाषा का प्रयोग भाव की प्रेरणा से होता है।

4) रिचर्ड्स ने साहित्य का ऐसा मानदंड खोजने का प्रयास किया जो भाषा विज्ञान, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र के तत्त्वों से समन्वित है।

5) प्रेषणीयता में जो कुछ होता है, वह यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क प्राय: एक जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं।

6) कॉलरिज ने कल्पना सिद्धांत का गंभीरता से अध्ययन किया है वे फैंटेसी को यांत्रिक शक्ति मानते है।

2.5 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

प्रश्न 1 : निम्नलिखित वाक्यों में दिए गए पर्यायों में से उचित पर्याय चुनकर वाक्य फिर से लिखिए।

1. टी. एस्. इलियट का .... सिद्धांत महत्वपूर्ण रहा है।
   (क) अनुकरण (ख) निवैयक्तिकता (ग) उदात्त (घ) अनुकृति।
2. बीसवीं शताब्दी का पूर्वाद्ध युग अंग्रेजी साहित्य में .... युग के रुपये प्रसिद्ध रहा है।
   (क) इलियट (ख) प्लेटो (ग) लोंगिनुस (घ) अरस्तू।
3. लिरिकल बैलड्स .... का काव्य संग्रह है।
   (क) इलियट (ख) वर्ड्सवर्थ (ग) शेली (घ) कॉलरिज।
4. 'दी वैस्टलैंड' प्रसिद्ध कविता के रचनाकार .... है।
   (क) लॉगिनुस (ख) प्लेटो (ग) वर्ड्सवर्थ (घ) इलियट।
5. इलियट .... के विचारों से प्रभावित थे।
   (क) एजरा पाऊंड (ख) सुकरात (ग) कॉलरिज (घ) प्लेटो।
6. प्रिल्यूड आत्मकथात्मक कविता .... की है।
   (क) इलियट (ख) वर्डस्वर्थ (ग) शेली (घ) प्लेटो।
7. प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म ग्रंथ के रचयिता ....।
   (क) रिचर्डस् (ख) प्लेटो (ग) कॉलरिज (घ) अरस्तू।
8. रिचर्डस् का जन्म .... में हुआ।
   (क) 1893 (ख) 1899 (ग) 1883 (घ) 1839।
9. ग्राम्य प्रकृति का कवि .... है।
   (क) वर्डस्वर्थ (ख) इलियट (ग) कॉलरिज (घ) प्लेटो।

10. रिचर्डस् की .... महत्वपूर्ण रचना है।

(क) लिरिकल बैलड्स (ग) पॅक्टिकल क्रिटिसिज्म

(ख) दी वेस्टलँड (घ) सेलेक्टेड प्लेज।

11. कविता की भाषा जनभाषा हो यह कथन .... है।

(क) अरस्तू (ख) वर्डस्वर्थ (ग) लाँगिनुस (घ) प्लेटो।

12. वस्तुनिष्ठ समीकरण के व्याख्याता .... है।

(क) कॉलरिज (ख) इलियट (ग) क्रोचे (घ) होटेस।

13. टि एस. इलियट का जन्म .... में हुआ।

(क) मिसौरी (ख) वॉशिंग्टन (ग) सेंट लुई (घ) हार्वर्ड।

14. इलियट को .... में नोबेल पुरस्कार से संमानित किया है।

(क) 1945 (ख) 1984 (ग) 1948 (घ) 1950।

15. 'सेलेक्टेड एसेज' चे रचियेता .... ।

(क) प्लेटो (ख) इलियट (ग) क्रोचे (घ) अरस्तू।

16. परंपरा का संबंध .... से है।

(क) समाज (ख) मानव (ग) संस्कृति (घ) साहित्य।

17. कविता के तीन स्वर यह .... का भाषण है।

(क) वर्डस्वर्थ (ख) एजटा पाऊंड (ग) इलियट (घ) अरस्तू।

18. वर्डस्वर्थ का जन्म .... में हुआ।

(क) काकर माउथ (ख) कैम्ब्रिज (ग) लंडन (घ) ब्रिटन।

19. वर्डस्वर्थ .... प्रेम के कवि है।

(क) मानव (ख) देश (ग) धर्म (घ) भगवान।

20. वर्डस्वर्थ छदोबद्ध रचना के .... है।

(क) समर्थक (ख) विरोधक (ग) प्रशंसक (घ) जानकार।

21. रिचर्डस् ने .... को प्रयोगात्मक विज्ञान कहा।

(क) काव्य (ख) आलोचना (ग) पद (घ) निबध।

22. 'हाऊ टू रीड अ पेज' के लेखक .... ।

(क) रिचर्डस् (ख) प्लेटो (ग) अरस्तू (घ) होटेस।

23. रिचर्डस् .... विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे।

(क) केंब्रिज (ख) हार्वर्ड (ग) पॅरीस (घ) लंडन।

24. प्रॅक्टिकल क्रिटिसिज्म .... भागों में विभाजित ग्रंथ है।

(क) दस (ख) पांच (ग) चार (घ) दो।

25. रिचर्डस् का जन्म .... गांव में हुआ।

(क) चेशायर (ख) लंडन (ग) केम्ब्रीज (घ) वॉशिंगटन।

26. परंपरा सिद्धांत का प्रतिपादन .... ने किया।

(क) प्लेटो (ख) अरस्तू (ग) इलियट (घ) लोंजाइनस्।

27. .... सौंदर्य का कवि वर्डसवर्थ है।

(क) मानव (ख) नारी (ग) प्राकृतिक (घ) भाव।

28. विलियम का जन्म .... गांव में हुआ।

(क) काकर माऊथ (ख) मिसौरी (ग) लंडन (घ) पणजी।

29. 'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग' के रचनाकार ....।

(क) शेक्सपियर (ख) रिचर्डस् (ग) प्लेटो (घ) वर्डसवर्थ।

30. आई ए. रिचर्ड्स का जन्म .... में हुआ था।

अ) 1893 ब) 1892 क) 1848 ड) 1850

31. रिचर्ड्स का सबसे अहम ग्रंथ का नाम .... है।

अ) प्रिंसिपल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म ब) आर्स पोएतिका

क) द फंक्शंन ऑफ क्रिटिसिज्म ड) इनमें से कोई नहीं।

32. रिचर्ड्स .... प्रकार के मानवीय मनोवेगों को स्वीकार करते हैं।

अ) एक ब) दो क) तीन ड) चार

33. संप्रेषणीयता का और एक विरोधी तत्त्व .... है।

अ) भावातिरेक ब) संप्रेषण अतिरेक क) मूल्य अतिरेक ड) अनुभूति अतिरेक

34. रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत को .... कहा जाता है।

अ) सिनेस्थीसिस ब) क्रिटिसिज्म क) सौंदर्यानुभूति ड) इनमें से कोई नहीं

35. फैंटेसी .... भाषा का शब्द है।

अ) मराठी ब) हिंदी क) अंग्रेजी ड) संस्कृत

2.6 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

1. दर्शन – तत्त्वज्ञान।

2. परंपरा – अनुक्रम/अविच्छिन्न क्रम।
3. अतीत – बीता हुआ काल।
4. वैयक्तिक – किसी एक व्यक्ती संबंधित।
5. प्रज्ञा – बुद्धि/ज्ञान।
6. अभिजात – कुलीन/बुद्धिमान।
7. परिरक्षण – सब तरह से रक्षा।
8. निरपेक्ष – तटस्थ/अलग।
9. मूल्य-दाम, कीमत, भाव, गुण, तत्त्व (जैसे चरित्र का मूल्य, मानवता का मूल्य), प्रतिष्ठा के योग्य, कदर के लायक (जैसे इंसाफ का मूल्य)।
10. संप्रेषण-भेजना, पहुँचाना (जैसे-विद्युत संप्रेषण, प्रकाश संप्रेषण, भाव संप्रेषण)।
11. अनुभूति- अनुभव, संवेदना, प्रत्यक्ष या अनुमति ज्ञान।
12. सिनेस्थीसिस-संश्लेषण।
13. प्रभावान्वित-प्रभावित।
14. साहित्यलोचन-साहित्य की आलोचना।

2.7 स्वयं-अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1 :

अ)	1. निर्वैयक्तिकता	2. इलियट	3. वर्डस्वर्थ	4. इलियट।
	5. एजटा पाऊंड	6. वर्डस्वर्थ	7. रिचर्डस्	8. 1893।
	9. वर्डस्वर्थ	10. 'प्रॅक्टिकल क्रिटिसिज्म'	11. वर्डस्वर्थ	12. इलियट
	13. मिसौरी14. 1948,	15. इलियट	16. संस्कृति।	
	17. इलियट	18. काकर माऊथ	19. मानव	20. समर्थक।
	21. आलोचना	22. रिचर्डस्	23. केंब्रिज	24. चार।
	25. चेशायर	26. इलियट	27. प्राकृतिक	28. काकर माऊथ
	29. रिचर्डस्।	30. 1893,	31. प्रिसिंपल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म	
	32. दो	33. भावातिरेक	34. सिनेस्थीसिस।	35. अंग्रेजी

2.8 स्वाध्याय

प्रश्न 1 : दीर्घोत्तरी प्रश्न।

1. टी. एस्. इलियट का निर्वैयक्तिकता सिद्धांत का विवेचन कीजिए।

2. वर्डस्वर्थ के काव्य भाषा विषयी विचारों को स्पष्ट कीजिए।
3. 'रिचर्डस् की आलोचना संबंधी धारणा' स्पष्ट कीजिए।
4. इलियट का परिचय देकर वस्तुनिष्ठ समीकरण का विवेचन कीजिए।
5. वर्डस्वर्थ के काव्यविचारों की समीक्षा कीजिए।
6. रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत को समझाइए।
7. रिचर्ड्स के संप्रेषण सिद्धांत का विवेचन कीजिए।
8. कॉलरिज के कल्पना और फैंटसी सिद्धांत को समझाईए।

प्रश्न 2 : लघुत्तरी प्रश्न।

1. परंपरा का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. वस्तुनिष्ठ समीकरण का परिचय दीजिए।
3. वर्डस्वर्थ का परिचय दीजिए।
4. रिचर्डस् का साहित्य संसार बताइए।
5. रिचर्डस् द्वारा प्रतिपादित आलोचना संबंधी कठिनाईयां।

2.9 क्षेत्रीय कार्य

1. 'ग्रामीण कविता' की भाषा का अध्ययन कीजिए।
2. 'परंपरा'संबंधी रिपोर्ट बनाइए।
3. पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों का परिचय संग्रहित कीजिए।
4. मराठी के 'निसर्ग कवियों का अध्ययन कीजिए।
5. प्राकतिक कविताओं की समीक्षा लिखिए।
6. मानव जीवन में कला या काव्य के मूल्यों का महत्त्व अंकित कीजिए।
7. मानव जीवन में संप्रेषण का महत्त्व अंकित कीजिए।

2.10 अतिरिक्त अध्ययन के लिए प्रश्न।

1. वर्ड्सवर्थ ने जनसामान्य भाषा को क्यों अपनाया?
2. वैयक्तिक प्रज्ञा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
3. रिचर्ड्स की व्यावहारिक आलोचना संबंधी विचार।
4. परंपरा की परिकल्पता बताईए।
5. वर्डसवर्थ का परिचय दीजिए।
6. रिचर्ड्स का व्यक्तित्व-कृतित्त्व बताईए।

7. कॉलरिज का परिचय दीजिए।

2.11 अतिरिक्त अध्ययन के लिए।

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र – डॉ. बच्चन सिंह
2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र
3. पाश्चात्य काव्यशास्त्र – देवेंद्रनाथ शर्मा
4. काव्यशास्त्र युग और प्रवृत्तियाँ – कैलास नारायण अवस्थी
5. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र – डॉ. कृष्णदेव शर्मा
6. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत – डॉ गणपतिचंद्र गुप्त
7. पाश्चात्य काव्यशास्त्र: इतिहास, सिद्धांत और वाद – डॉ. भगीरथ मिश्र
8. काव्यशास्त्र: भारतीय एवं पाश्चात्य – डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी

❑❑❑

सत्र 4 : इकाई 3

विभिन्न वाद

स्वच्छंदतावाद, अभिजात्यवाद, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, संरचनावाद

अनुक्रम

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 विषय-विवेचन

3.4 विभिन्न वाद

3.4.1 सिद्धांत और वाद :-

3.4.1.1 स्वच्छंदतावाद

3.4.1.2 अभिजात्यवाद

3.4.1.3 मार्क्सवाद

3.4.1.4 अस्तित्ववाद

3.4.1.5 संरचनावाद

3.5 सारांश

3.6 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

3.7 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

3.8 स्वयं-अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

3.9 स्वाध्याय

3.10 क्षेत्रीय कार्य

3.11 अतिरिक्त अध्ययन के लिए।

3.1 उद्‌देश्य

प्रस्तुत इकाई पढने के उपरांत आप–

1. अस्तित्ववाद के स्वरूप से परिचित होंगे।
2. स्वच्छंदतावाद के विशेषताओं से अवगत होंगे।
3. अभिजात्यवाद का अर्थ जान लेंगे।
4. अभिजात्यवाद से अवगत हो जाएँगे।
5. अभिजात्य साहित्य के नियम जान लेंगे।
6. मार्क्सवाद स्वरूप तथा विशेषताओं से परिचित होंगे।
7. संरचनावाद से परिचित होंगे।

3.2 प्रस्तावना

सिद्‌धांत और वाद में प्राय: भेद नहीं किया जाता। उसका कारण यह है कि सिद्‌धांत भी आगे चलकर वाद का रूप धारण कर लेता है। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में हम इस बात को देख सकते है। सिद्‌धांत और वाद में तत्त्व और अर्थ की दृष्टि से भेद नहीं, परंतु उनके रूप विकास में अंतर है। विचार विमर्श के बाद किसी विषय के अज्ञात पक्ष के खोजे हुए पक्ष के सत्य का परिपूर्ण रूप 'सिद्‌धांत' होता है, तो किसी पक्ष को स्थापित करनेवाला मत 'वाद' कहलाता है।

कोई भी सिद्‌धांत वाद और मत का रूप ले सकता है परंतु वाद और मत सिद्‌धांत का रूप नहीं ले सकता। यहाँ हम अस्तित्त्ववाद, स्वच्छंदतावाद, अभिजात्यवाद, मार्क्सवाद, और संरचनावाद आदि सभी पर विचार करेंगे।

सत्रहवीं सदी से आठरहवीं सदी तक ऑगस्टन युग कहलाता है। इस युग के अंग्रेजी साहित्य पर अभिजात्य मनोवृत्ति के नियंत्रण में था। अभिजात्य साहित्यिक सौंदर्य के श्रेष्ठ मापदंड या अधिकृत प्रतिनिधि थे। अंग्रेजी लेखकों को अपनी कला की पूर्णता हेतु सिर्फ उनका अनुकरण करना था। युगीन प्रवृत्ति और बाह्य प्रभाव के फलस्वरूप अभिजात्यता की एक लहर इंग्लैंड के साहित्य पर दौड गई। जॉन ड्राइडेन, जोसेफ एडिसन, अलेक्जेन्डर पोप और डॉ. जाह्नसन आदि रचनाकारों ने इस साहित्य पोषक माहौल पैदा किया। इसे हिंदी में शास्त्रीयवाद या अभिजात्यवाद आदि नामों से जाना जाता है।

3.3 विषय–विवेचन

अस्तित्त्ववाद, स्वच्छंदतावाद, अभिजात्यवाद, मार्क्सवाद आदि आंदोलन रूप होने के कारण 'वाद' ही है, सिद्‌धांत नहीं। बहुत से ऐसे सिद्‌धांत है, जो सिद्‌धांत रूप में भी हैं और वाद रूप में भी परिगणित होते है। किसी विद्‌वान ने उसे 'सिद्‌धांत' कहा है, जब की, दूसरे विद्‌वान ने उसे 'वाद' कहा है। हम क्रमश: इन सिद्‌धांतों तथा वादों पर विचार करेंगे।

3.4 विभिन्न वाद

सिद्धांत भली प्रकार से सोच विचार कर स्थिर किया हुआ सत्यान्वेषण का नियमबद्ध वह स्वरूप अथवा मत है, जो विद्वानों द्वारा सत्य माना गया है, जब कि किसी पक्ष को स्थापित करनेवाला मत वाद, कहलाता है। जगद्गुरू शंकराचार्य द्वारा स्थापित अद्वैत सिद्धांत, अद्वैतवाद भी है। शंकराचार्य के द्वारा अन्वेषित तत्त्वज्ञान के आधार पर सूत्र या नियमबद्ध रूप तो सिद्धांत है, पर आगे चलकर वही मतमतांतरों के बीच विकसित होता हुआ अद्वैतवाद हो गया। यहाँ हम निम्न सिद्धांत तथा वादों पर विचार करेंगे।

3.4.1.1 स्वच्छंदतावाद (Romanticism)

सत्रह सौ नब्बे के बाद उन्नीसवीं शती के आरंभ में युरोप में एक नवीन साहित्यिक धारा का आरंभ हुआ, जिसे अंग्रेजी में रोमांटिसिज्म (Romanticism) कहा गया।

स्वच्छंदतावाद का उदय :–

वास्तव में स्वच्छंदतावाद एक ऐसा काव्य सिद्धांत है, जिसमें आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता है। फ्रान्स, जर्मनी और इंग्लैंड में राज्यक्रांति, औद्योगिक क्रांति तथा पुनर्जागरण का जो मध्य युग रहा, उससे ही काव्य के क्षेत्र में आत्माभिव्यक्तिप्रधान काव्य सिद्धांत के रूप में स्वच्छंदतावाद का उद्भव तथा प्रसार हुआ। फ्रान्स की राज्यक्रांति ने युरोप की प्राचीन संस्कृति को पूरी तरह बदल दिया था। जीवन के परिवर्तन का प्रभाव, साहित्य के मानदंड पर भी पडा, क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण होता है। जहाँ प्राचीन धर्म, राज्यव्यवस्था तथा परंपरागत सामाजिक संस्कारों में परिवर्तन हुआ, वही दूसरी ओर साहित्य के क्षेत्र में भी प्राचीनता का केंचुल उतारकर फेंक दिया गया तथा साहित्य को नवीन भाषा तथा विचारों से सजाया जाने लगा। फ्रेंच राज्यक्रांति के सूत्रधार रूसो ने पहली बार मानव स्वतंत्रता पर बल देते हुए कहा–

"Man is born free but is bound everywhere in chains". अर्थात्, मनुष्य स्वतंत्र रूप में जन्म लेता है, पर सभी जगह जंजीरों में जकडा पाया जाता है। रूसो ने ही प्रकृति की ओर वापस लौटने का नारा लगाते हुए कहा– "Back to nature".

''अर्थात् प्रकृति की ओर वापस चलो।''

स्वतंत्रता की इच्छा, बंधनों को काटकर फेंकने की उमंग तथा प्रकृति के प्रति अत्याधिक प्रेम की भावना ने युरोप में साहित्य को भी प्रभावित किया। अपनी इस प्रकार की मान्यता को लेकर ही रूसो ने स्वतंत्रता, बंधुता और समानता इन तीन जीवन मूल्यों से युक्त मनुष्य की स्वाभाविकता तथा तानाशाही, नियमों से मुक्त स्वच्छंदता को महत्त्वपूर्ण माना। इस प्रकार फ्रान्स में स्वच्छंदतावाद का उद्भव हुआ।

फ्रेंच राजक्रांति से पूर्व जर्मनी में अठारहवीं शती के विचारक विकलमेन ने कला को आत्मरूप माना था। जर्मन विचारक जी. ई. लेसिंग ने भी काव्य को आवेगजन्य भावानुभूति माना। वे स्वयं लेसिंग कवि, नाटककार तथा आलोचक थे। उन्होंने काव्य में शास्त्रवाद के नियमों की कठोरता, कृत्रिमता, इतिवृत्तात्मकता,

आदेश प्रधानता आदि को अस्वीकार कर वैयक्तिक स्वाभाविकता तथा आत्माभिव्यक्ति को महत्त्व दिया। शिलर फ्रेडरिक, हीगेल, गेटे, कांट आदि जर्मनी कें विचारकों ने भी ऐसा ही किया। परिणामस्वरूप जर्मनी में कला तथा काव्य के क्षेत्र में स्वच्छंदतावाद का उदय हो चुका।

इग्लैंड में विलियम वर्डस्वर्थ और सैम्युअल टेलर कॉलरिज इन स्वच्छंदतावादी कवियों ने काव्य के क्षेत्र में स्वच्छंदतावाद का प्रचलन किया। इन दोनों ने मिलकर सन 1798 में स्वच्छंदतावादी कविताओं के संकलन के रूप में 'लिरिकल बैलाडस' (Lyrical Ballads) नामक काव्यसंग्रह का प्रकाशन किया। ठीक दो वर्ष के बाद सन 1800 में वर्डस्वर्थ और कॉलरिज ने प्रस्तुत काव्य संग्रह के साथ अपनी विशिष्ट भूमिका (Preface to Lyrical Ballads) जोडकर उसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया। इस भूमिका में, उन्होंने स्वच्छंदतावाद का जोरदार समर्थन किया। इन दो कवियों के साथ बायरन, कीट्स, शेली आदि इग्लैंड के कवियों ने भी स्वच्छंदतावाद का समर्थन किया। इन सभी कवियों ने शास्त्रवाद अर्थात अभिजातवाद की कोरी उपदेश प्रधानता, इतिवृत्तात्मकता, कृत्रिमता आडंबरता, तथा अलंकार, छंद, प्रौढ भाषा शैली के प्रयोग से संबंधित कठोर और जटिल नियमबद्धता का त्याग करके आत्माभिव्यक्तिप्रधान स्वच्छंदतावाद के अनुसार काव्य का निर्माण करने का सफल प्रयास किया। काव्य के क्षेत्र में ही नहीं, उपन्यास के क्षेत्र में भी इसका प्रभाव पडा। हिंदी में बंगला साहित्य के माध्यम से छायावादी काव्यधारा में यह आंदोलन उभरा है। इसका विकास काल सन 1920 से 1935 तक का काल खंड माना जाता है।

परिभाषाएँ : स्वच्छंदतावाद को विभिन्न विद्वानों ने परिभाषित किया हैं–

1. प्रो. कैजामियन : ''स्वच्छंदतावाद आत्मा का विजयघोष है, तथा भावना प्रेरित कल्पनातिरेक उसकी मूल प्रवृत्ति है।''

2. सी. एम्. बॉबरा : ''स्वच्छंदतावाद की विशेषताएँ है–कल्पना में नवीन तथा गहन विश्वास।''

3. एबरक्राम्बी : ''स्वच्छंदतावाद बाह्य अनुभूतियों से पलायन, आंतरिक अनुभूतियों में केंद्रित होना है।''

4. डॉ. शिशुवरपसिंह : ''स्वच्छंदतावाद एवं छायावाद की मूल प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात करने पर पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है। दोनों में सौंदर्य भावना, प्रकृति प्रेम, मानवीय दृष्टीकोण, आत्मभिव्यंजना, नीति विद्रोह, रहस्य भावना, वैयक्तिक प्रेमाभिव्यक्ति, प्रतीक योजना, निराशा, पलायन और सृजन की अस्पष्टता के दर्शन होते हैं।''

स्वच्छंदतावाद की विशेषताएँ –

1. आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता –

स्वच्छंदतावाद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता। इससे ही व्यक्तिगत भावाभिव्यक्ति स्वच्छंदतावादी काव्य की आत्मा बनी। इसी कारण विलियम वर्डसवर्थ ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा– 'काव्य प्रबल भावों की सहज उभार है, जिसका आरंभ शांति के समय में स्मृत मनवेगों से

होता है।' ("Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings; it takes its origin from emotions recllected in traquility").

2. परंपरा का विरोध (विद्रोह का स्वर) –

स्वच्छंदतावाद की पहली विशेषता है कि उसने 18 वीं शती की अभिजातवादी साहित्यिक परंपरा का विरोध किया। इन कवियों ने अभिजातवादी उपदेशप्रधान, इतिवृत्तप्रधान, वर्णनप्रधान, कठोर नियम प्रधान काव्य परंपरा के प्रति विद्रोह किया और नई पद्धति से काव्य निर्माण किया। इससे इस काव्य का भावपक्ष तथा कलापक्ष में परिवर्तन आ गया और उसमें नवीनता को स्थान मिला।

3. अंतर्मुखी प्रवृत्ति –

स्वच्छंदतावादी काव्य के निर्माण में स्वयंस्फुरित अंत:प्रेरणा को अधिक महत्त्व मिला। परिणामस्वरूप इन कवियों ने बाह्य जगत् जैसा दिखाई देता है, वैसा ही उसका चित्रण करना अपने काव्य में अस्वीकार किया। इसके विरुद्ध इन कवियों ने बाह्य जगत की अनुभूति से अंत:करण में स्फुरित होनेवाली प्रेरणा को ही महत्त्व दिया और उसे ही अभिव्यक्त किया। इससे कवि की अंतर्मुखी प्रवृत्ति एक महत्त्वपूर्ण विशेष बन गई।

4. सौंदर्य प्रेम –

सौंदर्य का अर्थ रमणीयता है। जिस वस्तु या व्यक्ति को देखकर हम आत्मविस्मृत हो जाए, हमें अपनी सुधिबुधि न रह जाए, वह वस्तु सुंदर कही जाती है। स्वच्छंदतावादी कवि वर्डस्वर्थ ने काव्य की आनंद प्रदानता को स्वीकार कहा हैं- "The poetwrites under one restriction only, namely the necessity of giving imeediate pleasure to human beling."

अपने सौंदर्य प्रेम के कारण स्वच्छंदतावादी कवि सौंदर्य की ओर आकर्षित होते रहे और सदैव सौंदर्य की खोज में रहे। इस कारण से ही स्वच्छंदतावादी कवि कीटस में सौंदर्य को सत्य के रूप में और सत्य से सौंदर्य के रूप में स्वीकार करते हुए कहा- "Beauty is truth, truth beauty, that is all." इस प्रकार के सौंदर्य प्रेम के कारण स्वच्छंदतावादी कवि अनुभव करते है कि प्रकृति बहुत सुंदर है और वह नित्य नए परिवर्तन के साथ नए-नए सौंदर्य का अनुभव कराती है।

5. प्रकृति प्रेम –

प्रकृति की शरण लेने से कवि वर्डसवर्थ को ग्रामीण प्रकृति के सौंदर्य ने बहुत मोह लिया। साथ ही साथ वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, कीटस, पी.बी. शेली आदि स्वच्छंदतावादी कवियों ने प्रकृति के सुंदर दृश्यों को भी अपने काव्य में व्यापकता से चित्रित किया है। इन्होंने अपने काव्य में प्रकृति को अपने विविध मानवीय रूपों में भी चित्रित करके अपना व्यापक तथा सूक्ष्म प्रकृति प्रेम व्यक्त किया है।

6. ईश्वर प्रेम –

स्वच्छंदतावादी कवियों का ईश्वर प्रेम भी महत्त्वपूर्ण रहा है। प्रकृति के व्यापक तथा सूक्ष्म सौंदर्य से प्रभावित होते समय प्रकृति में एक अज्ञात, रहस्यात्मक तथा विश्वव्यापी सत्ता को ईश्वर के रूप में स्वीकार

किया। इन कवियों ने अनुभव किया कि प्रकृति में जो सौंदर्य अनुभूति मिलती है, वह मूलत: ईश्वर का ही सौंदर्य है। वास्तव में ईश्वर के सौंदर्य से ही प्रकृति के विभिन्न अंग अपूर्व सुंदर लगते है।

ईश्वर को सुंदर तथा सत्य मानने के कारण इनके काव्य में आध्यात्मिक भाव के साथ पवित्रता, महानता, तथा उदार मानवतावाद भी व्यक्त हुआ है। इस प्रकार के ईश्वर प्रेम के कारण ही उनके काव्य में व्यापक मानवतावाद को महत्त्व का स्थान मिला है।

7. कल्पना की प्रधानता –

यह कवि कल्पना के स्वच्छंद प्रवाह में विश्वास करते है। इनके मतानुसार कल्पना मानव मस्तिष्क की श्रेष्ठतम प्रक्रिया है। अतिशय काल्पनिकता के कारण इनके काव्य में दुरुहता आ गई है।

8. राष्ट्रप्रेम, एवं मानवतावाद –

इनका राष्ट्रप्रेम मानवतावादी आधार भूमि पर प्रतिष्ठित है। इनका प्रेम देश की मिट्टी से, देश की प्रकृति से, देश की पशु-पंछियों से एवं देश की निवासियों से है, इसमें सचाई है। निराला और प्रसाद के काव्य में यह दृष्टिगोचर होता हैं।

9. गीति शैली की प्रधानता –

इन कवियों का तीव्र भावावेग, ताल, लय और गति के साथ अभिव्यक्त होता रहा, जिसमें काव्य में संगीतात्मकता और गीतात्मकता आ गई। वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली और कीटस् के काव्य में तीव्र तथा प्रबल भावाभिव्यक्ति के कारण गेयता आ गई। जिनसे उनका काव्य गीतिकाव्य बन गया। उनके गीति काव्य ने ओड, सॉनेट, बैलेड आदि प्रकार के गीतों के रूप धारण किए। इसी प्रकार गीतिशैली की प्रधानता भी स्वच्छंदतावादी काव्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त स्वच्छंदतावाद ने सन् 1928 तक जोर पकडा था। लेकिन उसके बाद वैयक्तिक भावों की अभिव्यक्ति, वायवी तथा कोरे कल्पना चित्रों की प्रस्तुति, अनुभूति और शैली की अस्वाभाविकता आदि दोषों के कारण, स्वच्छंदतावाद प्रचलित नहीं रह सका। फिर भी काव्य को अनावश्यक बंधन, परंपरा व्यामोह, उद्देश्य, प्रधानता से मुक्त करके सहज उद्रेक के धरातल पर प्रतिष्ठित किया तथा राष्ट्रप्रेम तथा संस्कृति की श्रेष्ठता जगाने का स्तुत्य प्रयास किया।

3.4.1.2 अभिजात्यवाद

जॉन ड्राइडन कवि, व्यंग्यकार, नाटककार और आलोचक थे। उन्होंने 'एन एस्से ऑफ ड्रामाटिक पीएसी' काव्यशास्त्र ग्रंथ का लेखन किया। इसके अलावा उन्होंने अनेक काव्य कृतियों और अन्य रचनाओं की भूमिकाओं में काव्यशास्त्र संबंधी लेखन किया है। उनके काव्यशास्त्र लेखन पर फ्रेंच लेखक मोन्टेन और कॉर्लाइल का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। काव्य की प्रकृति, उद्देश्य, प्रारूप, आलोचना संबंधी उनके विचार ठोस एवं सुलझे हुए हैं। ड्राइडन के आलोचना संबंधी विचार बिखरे पड़े हैं। उसमें अभिजात्य और

स्वदेशी गुणों का समन्वय दिखाई देता है। उनकी गुण ग्राहकता सराहनीय है। उन्होंने अंग्रेजी आलोचना को नई दृष्टि प्रदान की।

ड्राइडेन युग कवि कर्तव्य वैयक्तिक नहीं था जब कि निर्वेयक्तिक था अर्थात् समाज सापेक्ष था, जबकि व्यक्ति सापेक्ष नहीं। कवि खुद के लिए काव्य सृजन नहीं करता था। ड्राइडन के अनुसार 'काव्य का मुख्य उद्देश्य आनंद और भावलोक में संतरण है। वह केवल जीवन का अनुकरण नहीं जब कि संपूर्णता का सुंदर सादृश्य है।' प्लेटो का कहना था कि 'काव्य नकल की भी नकल है।' उसके जवाब में ड्राइडेन कहते हैं- 'काव्य के सत्य को जीवन के सत्य से मिलाकर घोटाला नहीं करना चाहिए।' इसमें ड्राइडेन कल्पना शक्ति की जरूरत का अनुभव करते हैं, उसे कॉलरिज अभिकल्प शक्ति मानते हैं। दरअसल कल्पना शक्ति काव्य को एक दृष्टि और प्राण स्पर्श प्रदान करती है। दूसरे शब्दों में कल्पना शक्ति, प्रकृति रूप या जीवन के निर्जीव रूप में भी जान भर देती है। ड्राइडन के अनुसार काव्य में कल्पना, विवेक और औचित्य का यथोचित संतुलन होना चाहिए, अन्यथा कल्पना की ज्यादती विश्वास और विवेक को खोखला कर देगा।

नाटक पर भी ड्राइडन का विशेष ध्यान था। फ्रान्स नाटकों में अभिजात्य नियमों के संयोग की सफलता की डंका समग्र यूरोप में पीटा। वे सतर्कता से संकलनत्रय का निर्वहन करते थे। वे त्रासद कामदियों या कामद त्रासदियों का विवेक पूर्ण परित्याग करते थे। उन्होंने लोकविश्वास को तोड़ने वाले दृश्यों, दर्शक मन को बोझिल करने वाले दृश्यों, पाठक मन पर दुष्प्रभाव डालने वाले दृश्यों को दूर कर उन्हें सूच्य बना दिया। ड्राइडेन ने नाट्य आलोचना संबंधी युगीन हीनभाव को तोड़ दिया। इसमें ड्राइडेन की कृति 'एस्से ऑफ ड्रामाटिक पोएसी' सूरज की तरह प्रकाशमान हो गई। इसका उद्देश्य अंग्रेजी प्रतिष्ठा की रक्षा करना था। इसमें अभिजात्य के नियमों और फ्रांसीसी दुष्प्रभाव का भी उसे मौका मिला। अभिजात्य नियम प्राकृतिक नियमों के प्रति आग्रही है। जो प्राकृतिक है वही कलात्मक है। दरअसल कला प्रकृति की अनुकृति है। अविश्वसनीय एवं अरुचिपूर्ण दृश्यों के प्रदर्शन में उसकी धारणा अभिजात्य से थोड़ी भिन्न थी। वे नाटक में मृत्यु दृश्य दिखाने के खिलाफ थे और युद्ध, मल्लयुद्ध जैसे पौरुष दृश्यों के हिमायती थे। इनका मुक्त एवं सहज प्रदर्शन नाटक में सहजता एवं स्वाभाविता ला देता है और दर्शक को भी संतुष्टि का अनुभव करा देता है।

ड्राइडन ने 'दि ग्राउंड्स ए क्रिटिसिज्म इन ट्रेजडी ऑफ दि एनीज' ग्रंथ में त्रासदी संबंधी विचार व्यक्त किए हैं। ड्राइडन त्रासदी को अरस्तू की तरह परिभाषित करता है। उनके अनुसार त्रासदी एक संपूर्ण, महान और सामान्य कार्य अनुकरण है। त्रासदी को कहा नहीं जा सकता उसका प्रतिनिधित्व किया जा सकता है। वह दर्शक या पाठक के मन में करुणा या त्रास के आवेग में संचारित होती है। विवेचन की इस क्रिया में उसका परिहास या परिमार्जन होता है। लेकिन ड्राइडेन करुणा या त्रास के संबंध अरस्तू का नहीं जब कि फ्रेंच लेखक रैपिन का अनुकरण करता है। इस संदर्भ में रैपिन का कहना है कि अहम् और सहानुभूति का अभाव मानव स्वभाव की मुख्य बुराइयाँ हैं। इन्हीं बुराइयों से मुक्त करने हेतु त्रासदी की खोज, मनीषियों की करुणा और त्रास पर बल दिया गया है। 'डेडीकेसन ऑफ एनीज' में त्रासदी के संबंध में लिखा है 'भावनाओं का उद्दिपित करना और उन्हें शांत करना, अंहकार का परिहार इस रूप में करना कि बड़ा व्यक्ति भी मानवीय

दुःखों से दूर नहीं रख सकता क्योंकि सुख-दुःख मानव जीवन के अभिन्न अंग है। 'कु' का परिहार और 'सु' का संचार त्रासदी के प्रभाव की बहुत बड़ी गरिमा है। यह विचारणीय तथ्य है कि कुछ घंटों का त्रासदी का प्रभाव कितना स्थायी हो सकता है।

ड्राइडन ने अरस्तू की तरह कामदी हीन व्यक्तियों और तृच्छ विषयों से संबंधित माना है जो मानव जीवन का प्रतिनिधित्व करता है; जिसका उद्देश्य परिहास है। कामदी के बारे में ड्राइडेन कहते हैं-'आनंद का स्थान पहला और उपदेश का दूसरा। कामदी का उद्देश्य त्रासदी की तरह बुराइयों के लिए दंडित करना नहीं होता। कामदी के व्यक्ति में कार्य विस्तार नहीं होता, बुराइयाँ, कमियाँ जवानी की लहर की तरह होती है, उसमें मनुष्य दुर्बलताओं पर आघात किया जाता है, उसमें पूर्व नियोजित अपराध नहीं होता। परिहास कामदी और रीति कामदी के अंतर को अच्छी तरह से समझता था। इसमें दूसरा श्रेष्ठ मानता था। इसमें प्रतिभा पर अंकुश वही पक्ष रख पाता था। उसकी धारणा थी कि सभ्य तथा शिक्षित समाज के लिए भद्दा परिहास नहीं जबकि सुसंस्कृत और बौद्धिक परिहास ही उपयोगी हो सकता है। ड्राइडेन ने महाकाव्य को मानव की सर्जनात्मक प्रतिभा का श्रेष्ठ कार्य माना है। इसका कलेवर विशाल, पात्र गौरवशाली, भाषा उत्कर्षक, कथानक वैविध्यपूर्ण और प्रभाव स्थायी होता है। महाकाव्य लेखन के लिए प्रकृति प्रदत्त मेधा या त्रासदी की अपेक्षा अधिक प्रतिभा संपन्न व्यक्ति का होना जरूरी है। यही वजह है कि महाकाव्य लेखक की संख्या बहुत कम होती है। 'डेडीकेसन ऑफ एनीज' में स्पष्ट लिखा है-'त्रासदी मानव जीवन का लघु संस्करण है और महाकाव्य उसका विस्तृत प्रवाह।'

आलोचना के बारे में ड्राइडन की मान्यता है कि अभिजात्य के लिए हमारे मन में चाहे जितना आदर हो और फ्रान्स के आलोचक ब्वायल्मू के प्रति हमारी जितनी अभिरुचि हो, लेकिन वह अपने फैसले की मौलिकता का आत्म-समर्पण नहीं करेगा। अभिजात्य नियम समग्र श्रेष्ठ विशेषताओं के बावजूद सार्वकालिक और सार्वभौमक नहीं है। सभी देशकाल के लिए लागू नहीं हो पाते। कवि अपने ही देशकाल के अनुसार लोगों की अभिरुचि, जलवायु और जरूरतों के अनुसार लिखता है। उसका लेखन समाज का दर्पण और इच्छाओं का प्रेरक होता है क्योंकि लेखक अपने युग का दिशादर्शक होता है। ड्राइडेन की आलोचना लेखक पर केंद्रित है तो एडिसन की आलोचना पाठक पर केंद्रित है। उसकी आलोचना का स्रोत स्पेक्टेटर है, जो निबंधात्मक है। एडिसन के युग में 'विट' शब्द का प्रयोग सुनिश्चित अर्थ में नहीं होता था, मगर एडिसन ने उसे किसी भाव को श्रेष्ठ रूप में व्यक्त करने के रूप में परिभाषित किया। उन्होंने शब्दों को ऐसा जामा पहनाया कि सामान्य व्यक्ति भी बिना किसी रूकावट से उसे समझने लगा। यह 'विट' की नहीं जब कि अच्छे लेखन की व्याख्या है जिसे वाग्विदग्धता कहा जाता है। 'विट' के जरूरी दो तत्त्व है-आनंद और नवीनता। सच्चा 'विट' तो वही है जो प्रत्यक्ष सादृश्य और संगति से आनंद और नवीनता की अनुभूति पाठक को करा देता है।

मानसिक रुचि की बात हम साहित्य के संदर्भ में भी की जाती है। एडिसन का कहना था कि भोज्य पदार्थों के स्वाद की रुचि से स्वभाव में भिन्नता नहीं आती। साहित्य में शिष्ट रुचि की व्याख्या है कि 'आत्मा की वह क्षमता जो लेखक की कृतियों में सौंदर्य को आनंदपरक पहचान कर सके और उसकी

अपूर्णताओं को नापसंद कर सके।' महान साहित्यकारों से साहित्य की श्रेष्ठता और मंगलकारिता जानते हैं, भद्र रचनाकारों और समीक्षकों से हमारी रुचि का परिष्कार हो जाता है और विचारों को ताकत मिल जाती है। रुचि की अभाव में हम न श्रेष्ठ साहित्य की विशेषताओं से परिचित हो जाते हैं और न ही मंगल विधान से जोड़ पाएँगे और न अपनी अधूरी रुचि एवं चिंतन क्षमता का विकास कर पाएँगे।

एडिसन युग में कल्पना की अवधारणा संबंधी भ्रम था; जिसे दूर करते हुए व्याख्यायित किया कि किस तरह से कला और साहित्य कल्पना पर अपना सशक्त प्रभाव डालते हैं। सिर्फ दृश्य ज्ञान से संबंधित और सीमित कर दिया जाता है। दृश्य ज्ञान से ही कल्पना का साक्षात्कार हो जाता है। कल्पना के आनंद यानी दृश्य वस्तुओं से निर्मित आनंद से है; जैसे चित्रकला, मूर्तिकला आदि। जो हमारी आँखों के सामने आकार लेते हैं और कल्पना में उनका रूप साकार हो जाता है। दरअसल कल्पना का आनंद ही रूप के साकार होने पर होता है। एडिसन की इस कल्पना के आनंद की धारणा और उसकी साहित्यिक व्याख्या से साहित्य में सौंदर्य की नई दृष्टि मिली। इसके पूर्व साहित्य में समाजहित और नैतिकता पर जोर दिया जाता था; जिसमें साहित्यपरक सौंदर्य दृष्टि की कमी थी। एडिसन ने पाठकों के लिए सौंदर्य का द्वार खोल दिया।

एडिसन रचना कर्म को अभिजात्य नियमों का गुलाम नहीं मानता। स्वयं एडिसन के शब्दों में–'मेरी तमन्ना है कि अंग्रेजी में ऐसे लेखक या कवि होते जो मात्रा नियमों का अनुसरण नहीं करते बल्कि लेखन की मूल भावना और आत्मा में प्रवेश करके आनंद के उन समस्त स्रोतों का उद्घाटन करते जो किसी महान रचना के पढ़ते समय प्रबुद्ध एवं रुचि संपन्न पाठक के हृदय से निःसृत होते हैं।' कभी –कभार नियमों का पालन नहीं बल्कि उनका त्याग कवि की निर्णायक बुद्धि का परिचय देता है। कभी– कभार कला नियमों का पालन श्रेष्ठ लेखकों में बाधा डालता है।

यूरोप के नवशास्त्रवादी रचनाकारों में अलेक्जेंडर पोप का स्थान कायम है। धार्मिक प्रवृत्ति और शरीर से रुग्ण पोप का कहना था कि कविता देवी ने इस अनंत रोग से मुझे लाभान्वित कर दिया। पोप का ध्यान काव्य के बजाय आलोचना पर रहा। पोप अपनी कविता और आलोचना के माध्यम से अभिजात्यों का अनुकरण करता रहा। दरअसल उसका एस्से पूर्ववर्ती नवअभिजात्यों के सिद्धांतों का सार है। यह सिद्धांत बैलर और डेन्हम से शुरू होकर ड्राइडेन और एडिसन तक की पहल करता है। आलोचना के बारे में वह कहता है 'आलोचना सच्ची साहित्यिक अभिरुचि है, जो मनुष्य को प्रकृति द्वारा प्राप्त होती है, जिसका मार्गदर्शन अभिजात्य नियमों से किया जाना चाहिए, जिन्हें ग्रीक के मनीषियों ने सीधे मानव स्वभाव से ग्रहण किया था और श्रेष्ठ पद्धतियों में ढाला था।'

साहित्य के संदर्भ में पोप ने वाग्विदग्धता (विट) शैली (डिक्सन) और छंद (वर्स) आदि पर विचार रखें। ड्राइडेन, एडिसन तथा शेफिल्ड का अनुकरण करते हुए उन्होंने विट को इस तरह परिभाषित किया कि प्रकृति प्रदत्त क्षमता पर विचार जरूर किया जा सकता है, मगर उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। कलात्मक सौंदर्य और सहज कल्पना से अलंकृत होकर जो व्यक्त हो जाता है, उसे वे परिचय प्रत्यय कहते हैं। इसमें परिचित प्रत्यय, सहज कल्पना का अलंकरण और कलात्मक अभिव्यक्ति ये तीन तत्त्व व्यक्त हो जाते हैं।

पोप छंद में सस्ती संगीत पद्धति ठुकरा देता है। वह यह मानता है कि छंदों का परिवर्तन भावों के अनुसार होना चाहिए। उदा. मंद, मधुर और कठोर। आलोचना के संदर्भ में पोप ने अपने पूर्ववर्ती नव अभिजात्यों के सिद्धांत के सार को व्यवस्थित कर आलोचना उपयोगी कहा।

मैथ्यू ऑर्नल्ड के अनुसार 'जिस युग में जनता स्वतंत्रता और विकास की ओर बढ़ रही थी उसमें डॉ. जाह्नसन प्राचीन परंपराओं का अत्यंत दृढ़ता के साथ सरंक्षण कर रहे थे। जाह्नसन शास्त्रवाद के कट्टर पोषक थे।' डॉ. जाह्नसन ऐसे आलोचक थे; जिन्होंने आलोचना पर बहुत ही कम लिखा, मगर अपने समकालीन आलोचक को काफी प्रभावित किया। उनका आलोचना कार्य इस प्रकार है-रेम्बलर के दर्जनों पात्र, रेस्सल्स में व्यक्त काव्य संबंधी विचार, शेक्सपियर के नाटकों की भूमिका और कवियों की जीवनियाँ। उसके युग की आलोचना नियमों के अंधानुकरण और रुचि परक निर्णय के बीच फँसी थी। इसमें विवेक का कोई स्थान नहीं था। जाह्नसन ने आलोचना के उद्देश्यों को परिभाषित किया।

डॉ. जाह्नसन के अनुसार काल की परीक्षा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। काल के प्रवाह में किसी रचना का सम्मान बह जाए यानी उस रचना का प्रभाव काल प्रवाह के साथ निरंतर बना रहे; वही रचना श्रेष्ठ है, सफल है और अमर भी। दरअसल आनंद प्रदान करने की निरंतरता और व्यापकता काव्य की सच्ची कसौटी है। जो काव्य हमेशा सभी को प्रभावित करता है, वही प्रकृति की सहज अभिव्यक्ति है। 'दि लाइव्स ऑफ दि पोएट्स' ग्रंथ में रचनाकार और रचनाओं की निर्णयात्मक आलोचना कर जाह्नसन ने व्यावहारिक आलोचना को व्यवस्थित रूप दिया। इसमें उन्होंने काउले से ग्रेतक तक के बावन कवियों की आलोचना रेखांकित की। यह कृति सौ साल के अंग्रेजी काव्य का इतिहास और आलोचना है। उसमें हर कवि की विशेषताओं को रेखांकित किया गया है। आलोचना के असुंदर पक्ष की ओर ध्यानाकर्षित करते हुए डॉ. जाह्नसन कहते हैं-'लेखक में उत्कर्ष सिद्धी की क्षमता हो सकती है, लेकिन जीवन की अस्त-व्यस्त संकुलताओं के कारण वह अव्यक्त रहा जा सकता है। अनेक आलोचक आवेगों और पूर्वाग्रहों से भरे रहते हैं, जिसके कारण नई रचना को वे सही दृष्टि नहीं दे पाते हैं।' मिल्टन की जीवनी में डॉ. जाह्नसन का काव्य संबंधी विचार है-'काव्य कल्पना एवं विवेक के सहयोग से सत्य और आनंद के संगम की कला है।' इसमें काव्य का उद्देश्य और काव्य प्रकृति शामिल है। शेक्सपियर की भूमिका वे लिखते हैं-'लेखन का उद्देश्य उपदेश है और काव्य का उद्देश्य आनंद के आवरण में उपदेश है।' काव्य के बारे में उनके विचार युगानुरूप होरेस और फ्रांस के नव अभिजात्यों से मेल खाते हैं। उनका मनाना था कि काव्य जीवन की अनुकृति है। वह किसी विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करता जब कि सार्वभौम का प्रतिनिधित्व करता है। फ्रेंच नव अभिजात्यों के समान जाह्नसन काव्य की विधाओं में महाकाव्य को श्रेष्ठ विधा मानते हैं। आलोचकों की धारणा है कि महाकाव्य में समस्त गुण है, जो किसी एक विधा की पूर्णता के लिए पर्याप्त है। महाकाव्य आनंदप्रद विधान है, सत्य घटनाओं के उद्घाटन में सफल होता है। इसकी महत्वपूर्ण घटनाओं का प्रभाव मानव मन पर व्यापक धरातल पर होता है। जाह्नसन ने अपने युगीन विवादित नाटक संबंधी सभी पहलुओं, प्रकृति, संकलनत्रय, नाटकीय आनंद, त्रासद कामदी पर विचार किया हुआ दिखाई देता है। जाह्नसन के अनुसार काव्य का वंशज नाटक जीवन और रीति-रिवाजों का दर्पण होना चाहिए और उसे मानवी भावनाओं

को मानव भाषा में व्यक्त करना चाहिए क्योंकि किसी कहानी का महत्त्व उसकी सच्चाई पर निर्भर करता है। जाह्नसन ने नाटकीय आनंद पर भी विचार किया है। हमें त्रासदी इसलिए प्रभावित करती है कि उसमें सत्य का अभास होता है, दार्शनिक आत्मीयता होती है। दर्शक को उसमें इसलिए आनंद मिलता है कि वह गल्प के प्रति सचेत होते हैं और मंच पर प्रदर्शित हत्या-विद्रोह सच नहीं मानते। अनुकरण से दुःख या आनंद इसलिए नहीं होता क्योंकि उसमें वास्तविकता का भ्रम होता है। उनसे दर्शक के मन-मस्तिष्क पर वास्तविकता का बोध होता है। मंच भ्रम का इन्कार करते हुए वे अनुकरण में मानव के सहज आनंद का अनुभव करते हैं। जाह्नसन ने त्रासदी, कामदी के सापेक्षिक आनंद पर विचार नहीं किया।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि भव्य विचार और मानव कल्याण की भावना और मानव जीवन की चिरंतन समस्याओं का प्रस्तुतीकरण अभिजातवादी साहित्य का मुख्य कथ्य रहा है। कवि के व्यक्तित्व एवं अनुभूति चित्रण की जगह पर वस्तुनिष्ठ काव्य के प्रस्तुतीकरण पर जोर दिया गया है। इस साहित्य में प्राचीन आचार्यों के अनुसरण से काव्य सिद्धी की प्राप्ति एवं परांपरा का उचित निर्वहन दिखाई देता है। इसमें कथ्य और कथनगत अराजकता पर अंकुश रखते हुए पूरी तरह से संतुलन का निर्वहन होना चाहिए।

3.4.1.3 मार्क्सवाद (Socialism)

मार्क्सवाद के विचार दर्शन को समाजवाद अर्थात सोशलिज्म (Socialism) नाम दिया जाता है। समाजवाद का आधार वर्ग संघर्ष है। जितनी भी आदर्शवादी वृत्तियाँ थी, मार्क्स ने सभी का विरोध किया है। मार्क्स के अनुसार आदर्शवादी वृत्तियाँ एक प्रकार का भटकाव हैं। मार्क्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को वैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध किया। मार्क्स ने समाज और साहित्य के विषय में जो विचार व्यक्त किए हैं, वे अत्याधिक मौलिक और व्यावहारिक थे। उनमें जीवन की वास्तविकता थी। कार्ल मार्क्स ने जीवन की आलोचना आर्थिक दृष्टिकोण से की है तथा साहित्य से उसका कोई संबंध नहीं है, पर उन्होंने जिस अर्थ प्रधान दर्शन और दृष्टिकोण की व्यवस्था इस अर्थवादी युग में की, उसका प्रभाव मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष पर पडा। साहित्य समाज का दर्पण होता है, इस आधार पर मानव जीवन पर पडे प्रभाव से साहित्य कैसे अछूता रह सकता है। साहित्य का मानव जीवन से घनिष्ठ संबंध होता है, इस आधार पर मार्क्स के विचारों से साहित्य का प्रभावित होना अनिवार्य है।

मार्क्स का पूरा सिद्धांत चिंतन और दर्शन द्वंद्वांत्मक भौतिकवाद पर आधारित है। मार्क्स का यह भौतिकवाद प्राचीन आनंदवादी दृष्टीकोण का विरोध करता है। मार्क्स ने स्पष्ट रूपसे कहा है कि संसार के सभी कार्य आर्थिक दृष्टीकोण से प्रभावित हैं। जिस कार्य में जितने अनुपात में धन की प्राप्ति होती है, उस कार्य में उतना ही आनंद प्राप्त होता है। इस प्रकार कार्ल मार्क्स ने उपयोगितावादी जीवन मूल्यों की स्थापना पर विशेष बल दिया। मार्क्स के इसी सिद्धांत का साहित्य पर प्रभाव पडा जिससे साहित्य में लोकमंगल की भावना ने जन्म लिया।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण की साहित्यिक व्याख्या–

मार्क्स की विचारधारा को सुव्यवस्थित रूप में काडवेल ने प्रस्तुत किया। उसी को मार्क्स की समाजवादी विचारधारा के साहित्यिक रूपांतरण का श्रेय दिया जाता है। काडवेल ने कार्ल मार्क्स के विचारों के अनुसार स्वीकार किया है कि साहित्य का जीवन से घनिष्ठ संबंध है। उसका आधार आर्थिक व्यवस्था है। साहित्य समाज से प्रेरणा ग्रहण करता है। समाज के जीवन पर आर्थिक दशा का प्रभाव स्पष्ट रूप में पडता है। मार्क्स ने भौतिकवादी सिद्धांत की प्रतिष्ठा के साथ-साथ समाज, राजनीति एवं अर्थ-क्षेत्र के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं, साथ ही उसने साहित्य के संबंध में भी व्यापक एवं गंभीर रूप से विचार प्रस्तुत किए हैं। मार्क्सवादी चिंतन बहुत व्यापक है, जिसे सत्यदेव मिश्र ने चार भागों में विभाजित किया हैं-

1. द्वंद्वांत्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)
2. ऐतिहासिक भौतिकवाद (Materialistic Interpretation of History)
3. वर्ग संघर्ष का सिद्धांत (Theory of Class Struggle)
4. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत (Theory of Surplus Value)

मार्क्सवादी आलोचना का सीधा संबंध प्रथम दो सिद्धांतों से ही है, अत: यहाँ केवल इन दो की ही संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की है-

1. द्वंद्वांत्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)

द्वंद्वांत्मक भौतिकवाद मार्क्सवाद का दार्शनिक आधार माना जाता है।

इसे मार्क्स एक सर्वांगीण जीवन दर्शन मानते है। यह दो शब्दों से निर्मित है- द्वंद्व और भौतिकवाद। इसमें विज्ञान का आधार लेकर पदार्थ की विकास प्रक्रिया को महत्त्वपूर्ण माना गया है। हीगेल ने प्राणी या चैतन्य विकास की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए स्थिति, प्रक्रिया और समन्वय का उल्लेख किया है।

एंजिल ने इनकी व्याख्या एक उदाहरण से की है। वह उदाहरण था बीज, उसका अंकुरण, फिर उसका पुन:बीज रूप में परिवर्तित होना अर्थात बाली आकर पककर बीज बन जाना। उसने बीज को स्थिति (Thesis) माना; बीज का अनेक विपरित परिस्थितियों में संघर्ष करके अंकुरित होकर पौधे के रूप में बदलना ही प्रक्रिया (Antithesis) कहलाता है। बाली आना, पककर बीज बनना समन्वय (Synthesis) कहलाता है। सत्यदेव मिश्र की मान्यता है मार्क्स के द्वंद्वांत्मक भौतिकवाद के अनुसार भौतिक जगत की सभी वस्तुएँ तथा घटनाएँ अपने आभ्यांतरिक विरोध और संघर्ष के कारण द्वंद्ववादी प्रक्रिया आधार पर अनवरत रूप से परिवर्तनगामी एवं विकासोन्मुख रहती हैं।

2. ऐतिहासिक भौतिकवाद (Materialistic Interpretation of History)

आत्मवादी दर्शन यह स्थापित करता है कि मानव संस्कृति के विकास का आधार चेतना की निरंतर विकास प्रक्रिया है। यह विचारधारा इतिहास दर्शन की विचारात्मक या आदर्शवादी व्याख्या कहलाती है,

जिसे आध्यात्मिक विकासवाद का सिद्धांत कहा जाता है। हीगेल इस मान्यता के समर्थक है। इस सिद्धांत के विरुद्ध ही इतिहास के भौतिकवादी सिद्धांत का सूत्रपात हुआ। इस सिद्धांत ने अगोचर, आत्मतत्त्व या सूक्ष्म को अस्वीकार करते हुए गोचर, स्थूल, आर्थिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों के आधार पर ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया स्वीकार की। इसके मूल में संघर्ष को माना गया, जिसे द्वंद्वात्मक प्रक्रिया का नाम दिया गया।

इस सिद्धांत की प्रमुख मान्यताएँ निम्नलिखित हैं-

(अ) विकास आधार संघर्ष : इतिहास का विकास शांत एवं सहज रूप से नहीं होता। उसका आधार संघर्ष है। अर्थात् संघर्ष सतत कार्यशील रहता है। यह संघर्ष शांत भी हो सकता है और क्रांति के रूपमें रक्त क्रांति का रूप भी ले सकता है। संघर्ष का कोई नियम नहीं है। विकास की प्रक्रिया में वह राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक, दार्शनिक आदि किसी भी रूप में हो सकता है।

(ब) आर्थिक नियंत्रण : संपूर्ण व्यवस्था एवं विकास की प्रक्रिया आर्थिक स्थिति द्वारा निर्धारित होती हैं, क्योंकि अर्थ ही उत्पादन का साधन और वितरण व्यवस्था का आधार है। 'भोजन' मनुष्य के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है; अत: सर्वाधिक महत्त्व भोजन उत्पादन पर केंद्रित रहता है। अर्थ समस्त उत्पादन के साधनों और वितरण पर नियंत्रण रखता है। अत: पूँजीपति इन साधनों पर एकाधिकार कर लेते है; जिसका परिणाम संघर्ष होता है। जो सामाजिक असंतोष को जन्म देता है। अत: अर्थ या उस पर एकाधिकार रखनेवाला वर्ग संपूर्ण राज्य व्यवस्था, नियम-कानून, सामाजिक नैतिक मान्यताओं तथा धर्म आदि पर नियंत्रण रखता है।

आर्थिक कारण से मानव इतिहास के पाँच विभाग किए जाते हैं-

1. आदिम साम्यवादी (Primitive Communist)
2. दास पद्धति काल (Salve System)
3. सामंतवादी व्यवस्था (Tendal System)
4. पूँजीपति पद्धति (Capital System)
5. साम्यवाद (Communism)

उसने यह भी घोषणा कि पिछले तीन युग समाप्त हो गए, पूँजीवादी युग चल रहा है, साम्यवादी युग आएगा।

(क) आर्थिक नियंत्रण जटिल : मार्क्स ने यह भी स्वीकार किया कि आर्थिक नियंत्रण के माध्यम से विकास की प्रक्रिया सरल नहीं होती। इसे राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में तो समझना अपेक्षाकृत सरल है, पर धर्म और साहित्य के संदर्भ में समझना जटिल है, अत: इसका अध्ययन सावधानी एवं सतर्कता से करना आवश्यक है।

(ड) विशिष्ट आर्थिक व्यवस्था : इस मान्यता के अनुसार जैसी अर्थव्यवस्था होगी, वैसा ही दर्शन, संस्कृति और धर्म संस्कारों का स्वरूप बनेगा। उस व्यवस्था के नाम भी अलग-अलग होंगे। जैसे-सामंतवाद, पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि और इन अलग-अलग व्यवस्थाओं में चिंतन की पृथकता होने के कारण संस्कृति और साहित्य आदि रूप भी भिन्न होगा।

(इ) पूँजी का केंद्रीकरण : मार्क्स की मान्यता है कि पूँजी एक सहजप्रवृत्ति है अधिक हाथों से कम हाथों में एकत्रित हो जाना। यह स्थिति समाज में वर्ग उत्पन्न कर देती हैं पूँजीवादी वर्ग, पूँजीहीन वर्ग या सर्वहारा वर्ग/उत्पादन की सारी शक्ति पूँजी में केंद्रित होने कारण पूँजीवादी वर्ग को उत्पादक वर्ग और दूसरे को श्रमिक वर्ग कहा जाता है। श्रमिक वर्ग को ही 'सर्वहारा वर्ग' कहते हैं। उत्पादन समस्त स्त्रोत पूँजीवादी हाथों में सीमित हैं और इसे ही वर्ग संघर्ष का कारण स्वीकार किया गया।

(ई) वर्ग संघर्ष : पूँजी के केंद्रीकरण के कारण विषमता बढती है और यह विषमता वर्ग संघर्ष का कारण है। उनकी मान्यता है कि तीव्र या व्यापक वर्ग संघर्ष द्वारा ही सर्वहारा वर्ग अपनी जन शक्ति एवं संघटन शक्ति के कारण पूँजीपतियों एवं उनकी क्रूर व्यवस्था को परास्त कर सकता है। इसे 'क्रांति' कहा जाता है।

(फ) मानव कल्याण की भावना : उनका चरम लक्ष्य जन कल्याण है, क्योंकि उनकी धारणा है कि मार्क्सवाद ही ऐसा सिद्धांत है जो मानवता का कल्याण कर सकता है।

(ह) व्यक्ति और समाज : साम्यवाद व्यक्ति को समाज से निरपेक्ष इकाई नहीं मानता। समाज ही व्यक्ति को व्यक्तित्त्व प्रदान करता है। अत: समाज के सामने व्यक्ति का महत्त्व गौण है। व्यक्ति के विचार और आदर्श समाज की आर्थिक स्थिति के ही परिणाम हैं। समाज की भौतिक स्थिति का परिवर्तन चिंतन की दिशा बदल देता है।

3. **वर्ग संघर्ष का सिद्धांत (Theory of Class Struggle)**

4. **अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत (Theory of Surplus Value)**

3.4.1.4 अस्तित्त्ववाद (Existentialism)

आधुनिक काल में पाश्चात्य देशों में अस्तित्त्ववाद का प्रवर्तन हो गया, जिसका प्रभाव पाश्चात्य साहित्य पर भी पड गया। सबसे पहले डेन्मार्क के विचारक सोरेन कीर्केगार्द (Soren Kierkegard) ने अस्तित्त्ववादी विचारधारा का प्रवर्तन किया। आगे चलकर कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण विचारकों ने अस्तित्त्ववादी विचारधारा का जोरदार समर्थन किया और उसी के अनुसार अपने साहित्य का निर्माण किया। परिणामस्वरूप साहित्य के क्षेत्र में अस्तित्त्ववाद को महत्त्व प्राप्त हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी में मानव जीवन पर विज्ञान एवं सामाजिक सिद्धांतों का व्यापक प्रभाव पडा और व्यक्ति की स्वतंत्रता उपेक्षित होने लगी। प्रतिक्रिया स्वरूप एक ऐसे जीवन दर्शन का विकास होने लगा जो

व्यक्ति की वैयक्तिकता एवं स्वतंत्रता को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करता है। यह जीवन दर्शन 'अस्तित्त्ववाद' कहा जाता है। इसके प्रवर्तक ज्याँ पॉल सार्त्र ने इस संबंध में लिखा है कि, ''जो लोग इस शब्द का प्रयोग करते हैं, उन्हें यदि इसकी व्याख्या करनी पडी तो उनमें से अधिकांश असमंजस में आ जायेंगे। अब भी यह शब्द सभी की जबान पर है- यहाँ तक संगीतकार या चित्रकार की रचना को भी अस्तित्त्ववादी कहा जा रहा है।''

अस्तित्त्ववाद मूलत: निम्नलिखित तीन आधारों पर आधारित हैं-

1. मानव सृष्टि तथा इस संसार में उसके आगमन के पीछे कोई प्रयोजन निहित नहीं है।
2. मनुष्य को इस निरर्थक आयोजित संसार में अपनी इच्छा के बीना आना पडा है।
3. इस अस्थिर-चंचल, संसार में फेंके जाने के बाद यथेच्छ कर्म करना और अपने अस्तित्त्व को अर्थ में एवं प्रयोजनमंडित करना मनुष्य का दायित्त्व है।

अस्तित्त्ववाद इस विचारधारा का विरोध करता है कि मानव अस्तित्त्व सप्रयोजन, सार्थक और योजनाबद्ध हैं। वह उन समस्त परंपरागत, तर्कसंगत एवं दार्शनिक मतवादों के विरूद्ध एक विद्रोह है जो विचारों अथवा पदार्थ जगत् की तर्कसंगत व्याख्या करते हैं और मानवीय सत्ता की उपेक्षा करते हैं।

उद्गम और विकास :-

अस्तित्त्ववाद का मूलाधार मनुष्य की असहाय्यता, एवं निरूपायता को माना गया और विश्व युद्ध में यह प्रमाणित कर दिया कि मानव का अस्तित्त्व नगण्य है। अत: अस्तित्त्ववाद अपने पूरे आवेग से उभरकर सामने आया, पर इनके चिंतन के स्त्रोत बहुत पहले से विद्यमान थे। मनुष्य के ऊपर विधि-निषेध एव धर्म-बंधन इतने बढे की मानवीय सत्ता का अस्तित्त्व ही समाप्त हो गया। इसके विरोध में सोरेन कीर्केगार्द ने अपनी डायरी में अस्तित्त्ववादी चिंतन की आवाज उठायी।

अस्तित्त्ववाद अपने वर्तमान अर्थ में 19 वीं शती के मध्य की उपज है, जिसने व्यापक रूप प्रथम विश्वयुद्ध (1914-1919) के बाद धारण किया और जिसकी पृष्ठभूमि में औद्योगिक क्रांतिजनित वह भौतिकता थी, जो मनुष्य अस्तित्व की अवहेलना कर उसे निर्मूल कर रही थी। मनुष्य के अस्तित्त्व के इस अवहेलनात्मक सामाजिक दृष्टीकोण को युरोप की युद्धकालीन विभिषिकाओं ने और अधिक घनीभूत किया, 'जिसकी प्रतिक्रिया यह हुई की कुछ चिंतकों ने परंपरागत सामाजिक एवं धार्मिक मूल्य मान्यताओं को निष्प्राप घोषित कर विशुद्ध मानवीय मूल्यों की स्थापना की। इन चिंतकों में जर्मन के फ्रेडरिक नीत्से, कार्ल जे स्पर्स, मार्टिन हेडगर, फ्रान्स के गेब्रियल मार्सल, जॉ पॉल सात्र, अलबर्ट कामू आदि के नाम उल्लेखनीय है।

अस्तित्त्ववाद का स्वरूप :-

अस्तित्त्ववाद की कोई सर्वमान्य परिभाषा उपलब्ध नहीं है। इसके पक्षधरों ने जो कुछ कहा उसमें ही उसकी मान्यताओं को खोजा जा सकता है। व्यक्ति स्वातंत्र्य और गरिमा का प्रतिपादन इसका मूलाधार माना

गया है। मनुष्य और उसकी स्वतंत्रता की समस्या को केंद्र मानकर चित्रण करना ही आधुनिक अस्तित्त्ववाद का मूलाधार है।

जे स्पर्श ने एक स्थान पर लिखा है– ''अस्तित्त्व का दर्शन वह चिंतन पद्धति है जो समस्त भौतिक ज्ञान का उपयोग करती है और उसका अतिक्रमण करती है, ताकि मनुष्य पुन: आत्मस्वरूप को प्राप्त हो सके।''

ज्याँ पॉल सार्त्र की धारणा है कि– मानवीय स्वभाव की सत्ता नहीं होती, क्योंकि उसकी अवधारणा करनेवाला कोई (ईश्वर) नहीं होता। मनुष्य अपने स्वरूप का जो भावन करता है, वह वहीं नहीं होता, बल्कि अस्तित्त्व की ओर इस प्रगति के पश्चात वह वही होता है जो बनने की वह इच्छा करता है।

अस्तित्त्ववाद का दर्शन :–

मध्य काल के तत्त्व चिंतन को मानव से अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। इसलिए मानवीय स्वच्छंदता का गला घोंटा गया। अस्तित्त्ववादी दर्शन कहता है कि पहले मनुष्य आ गया फिर चिंतन उभरा। अत: मनुष्य महत्त्वपूर्ण है। उसके अस्तित्त्व के अभाव में ये सारे चिंतन व्यर्थ है। मानव अस्तित्त्व को सर्वोपरि मानने के कारण सभी प्रकार के चिंतन, सिद्धांत और नियम में उनकी कोई आस्था नहीं है। वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि कोई भी शास्त्र, ज्ञान, दर्शन, चिंतन यदि मानवोपयोगी व्यक्ति के अस्तित्त्व को स्वीकारता है, तभी सार्थक है। अत: वे दु:ख और मृत्यु को भी वरीयता देते हैं। यदि आत्म स्वातंत्र्य पीडा भोगकर भी मिलता है, तो उन्हें पीडा वरेण्य है।

ईश्वर के प्रश्न पर इनके दो वर्ग है– आस्थावादी तथा अनास्थावादी। अनास्थावादी तो स्पष्ट कहते हैं कि ''ईश्वर मर गया।'' वे ईश्वर के इसीलिए विरोधी हैं कि उसी के नाम पर सारे निषेध लगाए जाते हैं, जो उन्हें स्वीकार नहीं हैं।

ये ज्ञान विज्ञान के महत्त्व को भी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि यह भी एक तो स्वच्छदंता में बाधक है। दूसरे इनसे व्यक्ति का क्या भला हो सकता है, क्योंकि वे तो कुछ भी करने की स्वतंत्रता के पक्षधर है। इस स्वतंत्रता के लिए पीडा और मृत्यु से भी उन्हें परहेज नहीं था। वे इच्छानुसार 'चयन की स्वच्छंदता' और 'वैयक्तिक उपभोग की स्वतंत्रता' के पक्षधर थे। अत: अराजकता, उन्मुक्त भोग, यौनाचार, नास्तिकता, असामाजिकता, आचार विरोध, अनाचार के भी पक्षधर थे। अस्तित्त्ववादी वस्तु–व्यक्ति को महत्त्व देता है।

अस्तित्त्ववाद की विशेषताएँ :–

1. व्यक्ति की महत्ता : व्यक्ति प्रमुख है, समाज गौण। मनुष्य अपने आपको बनाता है, इसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं है। व्यक्ति के महत्ता के साथ वे वैयक्तिक स्वच्छंदता के पक्षधर है। वे विद्रोह से ही सच्ची वैयक्तिक स्वच्छंदता मानते है।

2. क्षणवाद : अस्तित्त्ववादी मानव के स्थायी रूप की कल्पना नहीं करते, अत: वह क्षणभंगुर है। साथ ही क्षण की महत्ता इस अर्थ में भी है कि सत्य खोजने की प्रक्रिया को गतिशील बनाता है। यह क्षण आदमी को गतिमान बनाता है। अत: वह उपेक्षणीय नहीं है।

3. सामाजिकता : मनुष्य अपूर्ण है, परंतु समाज के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस धारणा के पीछे लोक कल्याण की अवधारणा झाँकती हुई दिखाई देती है। सात्र के अनुसार, ''जब हम कहते है कि मनुष्य अपने लिए उत्तरदायी है, तो वास्तव में हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि वह केवल अपने लिए उत्तरदायी है, बल्कि होता यह है कि वह सब मनुष्यों के लिए उत्तरदायी है।''

4. निरपेक्ष नास्तिकता : अस्तित्त्ववादी ईश्वर की सत्ता की समस्या को व्यक्ति के पारस्पारिक संबंधों के संदर्भ में उहापोह करने के उपरांत सात्र ने अस्तित्त्ववादी अस्तिकता को वस्तुत: निरपेक्ष माना। अस्तित्त्ववाद ईश्वर की सत्ता को नकारने के लिए उत्सुक नहीं है।

5. स्वच्छंदतावाद : वे नियति की सत्ता नहीं मानते। मनुष्य अपने आपको स्वयं बनाता है, वह पूर्ण स्वतंत्र है। उनके लिए सिद्धांत, परंपराएँ, सामाजिक, नैतिक एवं वैज्ञानिक मान्यताएँ अमान्य एवं अव्यावहारिक है।

6. एकाकीपन : उनके अनुसार मनुष्य को अपने अनंत उत्तरदायित्त्वों के मध्य इस पृथ्वी पर असहाय्य और अकेला छोड दिया जाता है। एकाकीपन में वह निहित है और अपने अस्तित्व का वरण वह स्वयं करता है।

7. दु:खवादी कर्मवाद : वह एकाकीपन और पीडा को एक साथ स्वीकार करता है। अस्तित्त्ववादी का कहना है कि हमने जो कहा, वह नहीं बन सकें तो बदले में प्रत्येक प्रकार का दु:ख, यहाँ तक की मृत्यु को भी स्वीकार करने के लिए हम प्रस्तुत रहे। इसके अनुसार अपना अस्तित्त्व अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं निजी लक्ष्य का चुनाव जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही दु:ख, निराशा, प्रस्तुत वेदना का भोग भी रूचिकर है।

8. समस्त आचार संहिता का विरोध : अस्तित्त्ववादी धार्मिक, नैतिक तथा चारित्रिक मूल्यों एवं नियमों के विरोधी हैं, क्योंकि ये ही तत्त्व हैं जो व्यक्ति की स्वतंत्रता को नियमित, नियंत्रित अथवा बाधित करते हैं।

9. ज्ञान विज्ञान का विरोधी : इनकी मान्यता हैं कि सारे झगडें की जड विभिन्न प्रकार के सिद्धांत, मत, नियम आदि हैं और इनके नियामक ज्ञान विज्ञान ही हैं। यदि हम अपने शब्दकोश से प्रजातंत्र, साम्यवाद, समाजवाद आदि शब्द निकाल दें, तो विश्वयुद्ध की आकांक्षाएँ सहजही समाप्त हो सकती हैं।

10. मृत्यु का वरण : मृत्यु जीवन का शुद्ध तत्त्व है। ये मृत्यु से भयभीत न होकर उनके द्वारा स्वतंत्रता की रक्षा की कामना करते हैं।

11. जीवन की समग्रता : वे जीवन की समग्रता को पाप बोध से मुक्त और सुख-दु:ख के ऊपर उठने स्थिति मानते है।

3.4.1.5 संरचनावाद

संरचनावादी विचार पद्धति बीसवीं शती के सातवे दशक के आरंभ में हुई। संरचनावाद केवल एक पद्धति ही नहीं है, इसमें दार्शनिकता का भी पर्याप्त अंश है। पिछले अनेक दशकों से साहित्य और संस्कृति दोनों क्षेत्रों में संरचनावाद ने पर्याप्त प्रभाव डाला है।

संरचनावाद की अवधारणा–

संरचनावाद का मूल उद्गम स्विस भाषाशास्त्री प्रो. फर्डिनेंड डी. सोस्यूर का भाषिक चिंतन रहा है। इसके मतानुसार जिस प्रकार विभिन्न अंग अलग-अलग होते हुए भी अंततः संमेलित रूप में एक शरीर का निर्माण करते हैं, अपना अलग स्वतंत्र कार्य करते हुए अपना अस्तित्त्व पृथक बनाए रखते हुए भी परस्पर मिलकर जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका निष्पादित करते हैं, उसी प्रकार साहित्य या काव्य के विविध तत्त्व अलग-अलग होते हुए भी अंततः उत्कर्ष के विधायक बनते हैं। सोस्यूर ने भाषा के इन परंपरागत अवधारणा का विरोध किया कि भाषा शब्दों के ऐसे समुच्चय का नाम है, जिसका मूल उद्देश्य वस्तुओं का नामकरण है। वस्तुतः भाषा एक संरचना है, जिसकी अपनी विधियाँ हैं। साहित्य भी शाब्दिक या भाषिक संरचना है। इसलिए संरचनावादी समीक्षक समीक्षा में रचना के उन तमाम तत्त्वों या अवयवों का अध्ययन करता है, जिनसे रचना अर्थ और अस्तित्त्व पाती है। एक चिंतन पद्धति के रूप में संरचनावाद न केवल रचना अपितु जीवन के हर क्षेत्र में कुछ नया तलाश करती है। इसकी मान्यता है कि भाषा अविकल चिह्नों का एक ऐसा तंत्र है, जिसमें चिह्न अर्थात शब्द आपसी अंतर से अर्थ पाते हैं। ये अर्थ के लिए परस्पर निर्भर हैं। स्वयं का अपना अर्थ और अस्तित्त्व समष्टि तिरोहित कर उसे पूर्णत्त्व प्रदान करते हैं।

सोस्यूर के अनुसार भाषा के दो तत्त्व होते हैं- भाषा (ल लाँग) और वाक् या उच्चार (ल परोल)। भाषा या लाँग के अपने अमूर्त नियम होते हैं, जिनसे वाक् नियंत्रित होता है किंतु भाषा वाक् (परोल) में ही खंडशः मूर्त होती है। लाँग अंतः संबंधित प्रतिकों की एक ऐसी व्यवस्था है, जिनके माध्यम से पूरे समाज में वैचारिक संप्रेषण होता है, जब कि परोल का क्षेत्र सीमित है। व्यक्ति भेद से उसका स्वरूप परिवर्तित होता है। साथ ही स्वच्छंद और परिवर्तनशील भी है। इस परोल या वाक् के आधार पर भाषा के नियमों का अनुसंधान ही 'संरचना' है।

प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता लेवस्ट्रिस अपनी संरचना संबंधी विचारधारा के लिए सोस्यूर से प्रेरणा ग्रहण करता है। विश्व के तमाम मिथकों का अध्ययन करते हुए स्ट्रास उनके सर्वमान्य नियमों को स्पष्ट करता है। एक ही मिथक के भिन्न-भिन्न रूप वाक् या परोल है तो मूल मिथक भाषा या लाँग है। वाक् के आधार पर भाषा के नियमों को खोजना संस्थापनावाद को स्वीकार करना है। यह संरचनावाद आज की अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक बौद्धिक प्रणाली है। इस अवधारणा की मूल प्रेरणा 'विको' की पुस्तक 'नया विज्ञान' है। ज्याँ पेजे ने संरचना के तीन घटक तत्त्वों का उल्लेख किया हैं

(1) साकल्य, (2) रूपांतरण, (3) आत्मानुशासन।

संरचना अपने में पूर्ण होती है। चाहे वह साहित्य की संरचना हो या फिर मिथक की। साहित्यिक संरचना के क्षेत्र में सर्वाधिक चर्चित नाम रोलाँ बार्थ का है। वह साहित्य की संरचना के विश्लेषण के लिए भाषिकी का मॉडल् ग्रहण करता है।

संरचनावाद के अनुसार हमें साहित्यिक कृति को एक विशिष्ट एकता से युक्त संपूर्ण संरचना के रूप में देखना चाहिए। यह संपूर्ण संरचना इतनी जटिल होती है कि इसे अंगभूत उपसंरचनाओं- ध्वनि, प्रतीक, बिंब,

छंद, पद्विन्यास आदि के गुंफ के रूप में देखा जाना चाहिए। कृति के जटिल संरचना के विश्लेषण से प्राप्त सिद्धांतों के आधार पर साहित्य रचना के मूल सिद्धांतों का अन्वेषण ही संरचनावाद का लक्ष्य है। वास्तव में समीक्षा का विज्ञान के निकट लाने का प्रयास संरचनावाद ने किया। हिंदी में संरचनावाद सिर्फ चर्चा मात्र का विषय है, परंतु इसके आधार पर किसी रचना का अध्ययन विश्लेषण नहीं किया गया। सोस्यूर के अतिरिक्त अन्य प्रमुख संरचनावादी हैं- रोमान, पॉकब्सन, लुई हेल्मस्लेव, एमिल वेनविमिस्ते एवं रोम् चाम्स्की। चाम्स्की के 'भाषा सामर्थ्य' और 'भाषा निप्पादन' के सिद्धांत संरचनावादी काव्यशास्त्र के निर्माण में उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

3.5 सारांश

1. सिद्धांत और वाद में तत्त्व और अर्थ की दृष्टि से भेद नहीं है, परंतु रूप और विकास में अंतर है।
2. डेन्मार्क के विचारक सोरेन कीर्केगार्द ने आस्तित्त्ववादी विचारधारा का जोरदार समर्थन किया।
3. स्वच्छंदतावाद एक ऐसा सिद्धांत है, जिसमें आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता है, जिसका प्रारंभ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में फ्रान्स में हुआ।
4. कार्ल मार्क्स का पूरा सिद्धांत द्वंद्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है। उसे सुव्यवस्थित रूप में काडवेल ने प्रस्तुत किया।
5. काव्य में बिंब योजना का महत्त्व अनन्यसाधारण है। काव्य में मूर्त वस्तू, घटना, दृश्य के रूप, सौंदर्य, या क्रिया के भी बिंब होते हैं और अमूर्त भाव या विचार के भी बिंब होते हैं।
6. संरचनावाद की अवधारणा प्रो. फर्डिनेंड डी. सोस्यूर ने की है। सोस्यूर से प्रेरणा ग्रहण कर लेवीस्ट्रास ने मिथकों का अध्ययन करते हुए उनके नियमों को स्पष्ट किया है। प्रमुख संरचनावादी हैं- रोमान, पॉकब्सन, लुई हेल्मस्लेव तथा रोम चॉमस्की आदि।
7. बीसवीं शताब्दी में दलित विमर्श और नारी विमर्श की चर्चा चल रही है।
8. भव्य विचार और मानव कल्याण की भावना और मानव जीवन की चिरंतन समस्याओं का प्रस्तुतीकरण अभिजातवादी साहित्य का मुख्य कथ्य है।
9. ऑगस्टन युग के अंग्रेजी साहित्य पर अभिजात्य मनोवृत्ति के नियंत्रण में था। अभिजात्य साहित्यिक सौंदर्य के श्रेष्ठ मापदंड या अधिकृत प्रतिनिधि थे। अंग्रेजी लेखकों को अपनी कला की पूर्णता हेतु सिर्फ उनका अनुकरण करना था। युगीन प्रवृत्ति और बाह्य प्रभाव के फलस्वरूप अभिजात्यता की एक लहर इंग्लैंड के साहित्य पर दौड गई।
10. जॉन ड्राइडेन, जोसेफ एडिसन, अलेक्जेन्डर पोप और डॉ. जाह्सन आदि रचनाकारों ने इस साहित्य पोषक माहौल पैदा किया। इसे हिंदी में शास्त्रीयवाद या अभिजात्यवाद आदि नामों से जाना जाता है।

11. काव्य की प्रकृति, उद्देश्य, प्रारूप, आलोचना संबंधी ड्राइडेन के विचार ठोस एवं सुलझे हुए हैं। ड्राइडेन आलोचना संबंधी विचार बिखरे पड़े हैं। उसमें अभिजात्य और स्वदेशी गुणों का समन्वय दिखाई देता है।

12. अभिजात्य नियम प्राकृतिक नियमों के प्रति आग्रही है। जो प्राकृतिक है वही कलात्मक है।

13. क्रोचे के अनुसार–कला आंतरिक होती है और वह खंडित भी नहीं होती क्योंकि आंतरिक प्रेरणा का स्फुरण अखंड होता है।

3.6 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

प्रश्न 1 : निम्नलिखित वाक्यों में दिए गए पर्यायों में से उचित पर्याय चुनकर वाक्य फिर से लिखिए।

अ) 1. डेन्मार्क के विचारक .... ने अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रवर्तन किया।

(क) फ्रेडरिक नित्से (ख) जॉ पॉल सात्र
(ग) रिचर्डस् (घ) सोरेन कीर्केगार्द

2. अस्तित्ववाद इनमें से .... को मानता है।

(क) मानवीय स्वतंत्रता (ख) तर्कहीनता
(ग) भाग्यवाद (घ) परंपरा से नकार

3. 'प्रकृति की ओर वापस चलो' यह कथन फ्रेंच राज्यक्रांति के सूत्रधार .... का है।

(क) विलियम वर्डसवर्थ (ख) कीटस
(ग) कॉलरिज (घ) रूसो

4. द्वंद्वात्मक भौतिवाद का सिद्धांत .... का दार्शनिक आधार माना जाता है।

(क) अस्तित्ववाद (ख) मार्क्सवाद
(ग) संरचनावाद (घ) स्वच्छंदतावाद

5. मार्क्सवादी विचारधारा को सुव्यवस्थित रूप में .... ने प्रस्तुत किया।

(क) एंजिल (ख) काडवेल (ग) हेगेल (घ) एडलर।

6. अस्तित्ववाद का विस्तारपूर्वक विवेचन .... ने किया।

(क) बूचर (ख) ज्यॉ पॉल सात्र
(ग) हडसन (घ) मार्क्स

7. 'लिरिकल बैलडस्' के रचयिता .... है।

(क) वर्डसवर्थ (ख) शेले (ग) मिल्टन (घ) शेक्सपिअर

8. मार्क्सवादी चिंतन को सत्यदेव मिश्र ने .... भागों में विभाजित किया है।

(क) दो (ख) तीन (ग) चार (घ) पाँच

9. काव्य में बिंब योजना का जोरदार समर्थन .... ने किया।

(क) एजरा पाउण्ड (ख) टी. ई. हुल्मे (ग) सोस्यूर (घ) चाम्स्की

10. संरचनावादी विचार पद्धति बीसवीं शती में .... दशक में आरंभ हुई।

(क) छठें (ख) सातवें (ग) आठवे (घ) नौवे

11. संरचनावाद के प्रवर्तक .... है।

(क) टी. एस्. इलियट (ख) सोस्यूर
(ग) एडवर्ड स्टोरर (घ) रिचर्डस्

12. युरोप में .... शती के आरंभ में स्वच्छंदतावादी साहित्य धारा का आरंभ हुआ।

(क) अठारहवीं (ख) सतरहवीं (ग) उन्नीसवीं (घ) बीसवीं

3.7 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

1. अन्वेषण करना : खोज करना। अनुसंधान करना।
2. आस्थावादी : ईश्वर को माननेवाला।
3. अनास्थावादी : ईश्वर को न माननेवाला, ईश्वर के विरोधी।
4. नास्तिकता : ईश्वर की सत्ता को नकारना।
5. आत्माभिव्यक्ति : स्वयं को अभिव्यक्त करना।
6. विश्वबंधुत्त्व : पूरी दुनिया के प्रति भाईचारा।
7. वाग्विदग्ध- वाक् चतुर, पंडित, बात में चतूर।
8. अभास-चमक, दीप्ति, कांति, शोभा, भ्रम छाया, प्रतिबिंब, झलक, मिथ्या प्रतीति।
9. त्रासदी -दुःखांत रचना।
10. कामदी -सुखांत रचना।
11. सापेक्षिक -सापेक्ष, किसी की अपेक्षा करनेवाला।
12. अभिजात्य-उच्च कुल (में जन्म लेने) के योग्य।
13. अनुकरण-अनुसरण, नकल।
14. संकलनत्रय-देश, काल और घटना का एक एक होना।
15. सहजानुभूति-सूक्ष्म के आकलन में समर्थ होने वाली केंद्रीय शक्ति या क्षमता।
16. अभिव्यंजना-विचारों एवं भावों को प्रकट करना, अभिव्यक्ति।
17. सौंदर्य-सुंदरता, खूबसूरती।
18. अमूर्त-आकाररहित, देहरहित, निरवयव।

19. आधेय–ठहरने या स्थापित किए जाने योग्य, रचने योग्य।
20. चेतन–आत्मा, जीव, प्राणी, आदमी, परमात्मा, जिसमें चेतना हो, जो ज्ञानमय हो, सजीव।
21. अर्द्धचेतन–आधे होश में।
22. अचेतन–अज्ञानी, निर्जीव, संज्ञाशून्य, बेहोश।
23. अहं–मनुष्य में होनेवाला यह ज्ञान या धारणा कि मैं हूँ या औरों से मेरी पृथक् सत्ता है, अपने अस्तित्व की कल्पना या भान, अहंकार।
24. विखंडन–तोड़ना फोड़ना, खंड खंड करना।
25. विस्थापित–हटाया गया।
26. खारिज–निकाला हुआ, बहिष्कृत , अस्वीकृत करना।
27. वस्तुनिष्ठ–भौतिक पदार्थों से संबंध रखनेवाला, जो आत्मनिष्ठ न हो, वस्तुपरक, वस्तुगत।
28. डिसमिनेशन–भेदभाव।

3.8 स्वयं–अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1 :

अ)	1. सोरेन कीर्केगार्द	2. मानवीय स्वतंत्रता	3. रूसो	4. मार्क्सवाद
	5. काडवेल	6. ज्यॉ पॉल सार्य	7. वर्डस्वर्थ।	8. चार
	9. एजरा पाउण्ड	10. सातवें	11. सोस्यूर	12. उन्नीसवीं

3.9 स्वाध्याय

प्रश्न 1 : दीर्घोत्तरी प्रश्न।

1. अस्तित्त्ववाद का परिचय देते हुए उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. स्वच्छंदतावाद का सामान्य परिचय दीजिए।
3. अभिजात्यवाद का विवेचन कीजिए।
4. जॉन ड्राइडेन के अभिजात्यवाद को समझाइए।

प्रश्न 2 : लघुत्तरी प्रश्न।

1. अस्तित्त्ववाद का परिचय दीजिए।
2. स्वच्छंदतावाद की विशेषताएँ स्पष्ट कीजिए।
3. मार्क्सवाद की विशेषताएँ बताईए।

3.10 क्षेत्रीय कार्य

1. अस्तित्त्ववाद, स्वच्छंदतावाद का सामान्य परिचय प्राप्त कीजिए।
2. मार्क्सवाद की जानकारी प्राप्त कीजिए।

3. किसी कृति में अंकित अभिजात्यवादी विचार का विवेचन कीजिए।
4. मानव जीवन में अभिजात्यवाद का महत्त्व अंकित कीजिए।
5. मानव जीवन में सौंदर्य का महत्त्व अंकित कीजिए।

3.11 अतिरिक्त अध्ययन के लिए।

1. भारतीय काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य काव्य-चिंतन - डॉ. सभापति मिश्र
2. भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धांत - डॉ. ज्ञानराज काशीनाथ गायकवाड 'राजवंश'
3. हिंदी के आंचलिक उपन्यासों में दलित जीवन - डॉ. भरत सगरे
4. दलित साहित्य : चिंतन के आयाम - डॉ. भरत सगरे
5. दक्षिणांचल स्मारिका : छठी राष्ट्रीय संगोष्ठी, सोलापुर - 8 तथा 9 जुलाई 2006
6. स्मारिका : राष्ट्रीय संगोष्ठी, उमरगा - 17, 18 मार्च 2006
7. दलित साहित्य : अनुसंधान के आयाम - डॉ. भरत सगरे
8. काव्यशास्त्र : भारतीय एवं पाश्चात्य - डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी
9. काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन - डॉ. अजय प्रकाश
10. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत-डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त
11. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : इतिहास, सिद्धांत और वाद-डॉ. भगीरथ मिश्र
12. काव्यशास्त्र : भारतीय एवं पाश्चात्य-डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी
13. काव्यशास्त्र पाश्चात्य एवं भारतीय-डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी
14. काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन-डॉ. अजय प्रकाश
15. उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य-कृष्णदत्त पालीवाल
16. उत्तर आधुनिकता : कुछ विचार-सं. देवशंकर नवीन
17. उत्तर आधुनिकता : बहुआयामी संदर्भ-पांडेय शशिभूषण 'शीताशुं'
18. काव्यशास्त्र: भारतीय एवं पाश्चात्य -डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी

❑❑❑

सत्र 4 : इकाई 4

आधुनिक समीक्षा की प्रवृतियाँ

मनोविश्लेषणवाद, उत्तरआधुनिकता, विखंडनवाद, शैलीविज्ञान, यथार्थवाद

अनुक्रम

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 विषय-विवेचन

4.4 आधुनिक समीक्षा की प्रवृतियाँ

- 4.4.1 मनोविश्लेषणवाद
- 4.4.2 उत्तरआधुनिकतावाद
- 4.4.3 विखंडवाद
- 4.4.4 शैलीविज्ञान
- 4.4.5 यथार्थवाद

4.5 सारांश

4.6 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

4.7 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

4.8 स्वयं-अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

4.9 स्वाध्याय

4.10 क्षेत्रीय कार्य

4.11 अतिरिक्त अध्ययन के लिए।

4.1 उद्‌देश्य

प्रस्तुत इकाई पढने के उपरांत आप–

1. मनोविश्लेषणवाद का अर्थ समझ जाएँगे।
2. मनोवैज्ञानिक प्रयोग पर विचार करेंगे।
3. विखंडन का अर्थ जान लेंगे।
4. विखंडन की स्थिति से अवगत हो जाएँगे।
5. उत्तर आधुनिकता पर विचार करेंगे।
6. शैलीविज्ञान से अवगत हो जाएँगे।
7. यथार्थवाद को समझ जाएँगे।

4.2 प्रस्तावना

साहित्य का संबंध मानव मन से अधिक है। रचनाकार द्‌वारा अपनी रचना में चित्रित चरित्रों पर मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषणवाद का गहरा प्रभाव जान पड़ता है। मनोविज्ञान मानव व्यवहार का अध्ययन करता है और रचनाकार मानव व्यवहार का अध्ययन करता है। पाश्चात्य प्रसिद्‌ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड, एडलर, युंग ने मनोविज्ञान संबंधित सिद्‌धांतों की स्थापना की। इसी सिद्धांत ने साहित्य एवं कला क्षेत्र को काफी प्रभावित किया। हिंदी के आधुनिक साहित्यकार अज्ञेय, जैनेंद्र, इलाचंद जोशी ने अपने साहित्य में ऐसे चरित्रों की सृष्टि की है; जो फ्रायड, एडलर, युंग के विचारों या सिद्‌धांतों से परिचालित है। इन चरित्रों को समझने के लिए फ्रायड, एडलर, युंग के सिद्‌धांतों को मूलत: समझ लेना जरूरी है। मानव के मानसिक तथ्यों का यथातथ्य निरूपण करने का उद्‌देश्य लेकर कला, साहित्य क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का उदय हुआ। रचनाकार द्‌वारा मनुष्य मन की यथार्थ स्थिति का चित्रण मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद है। आधुनिकता ने ही उत्तर आधनिकता के जन्म दिया। उत्तर आधुनिकता एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक विचारधारा है।

पाश्चात्य समीक्षा प्रणाली का नवीनतम आयाम है – विखंडनवाद। उत्तर आधुनिक विचारक जॉक देरिदा विखंडनवाद के प्रवर्तक है। देरिदा फ्रास का प्रसिद्ध दार्शनिक, भाषा वैज्ञानिक, आलोचक रहा है। सन् 1930 में अल्जीरिया के एक यहूदी परिवार में देरिदा का जन्म हुआ। सन् 1965 ई. में 'क्रिटिक', 'ग्रामेटोलाजी' लिखित दो निबंधों से उन्हें सम्मान मिला। मूलत: देरिदा भाषा वैज्ञानिक रहा है। सोस्यूर के भाषा संबंधी चिंतन देरिदा को काफी प्रभावित किया। सभी उत्तर संरचनावादी विचारकों पर सोस्यूर का प्रभाव दिखाई देता है। देरिदा उत्तर संरचनावादी और उत्तर आधुनिकतावादी है, मगर स्वयं उसने उत्तर संरचनावादी होने से अस्वीकार किया है। विखंडन और भेद पर उनकी मान्यताएँ वे उन्हें उत्तर संरचनावादी सिद्‌ध कर देती है।

शैलीविज्ञान का शब्दों को जीवंत करने का योगदान सराहनीय है। यथार्थवाद की परंपरा 19 वीं सदी के आरंभ में हुई। यथार्थवादी की एक महत्त्वपूर्ण शाखा को प्रकृतवाद या प्राकृतवाद भी कहा जाता है।

4.3 विषय-विवेचन

बीसवीं शताब्दी में समीक्षा की अनेक नई प्रणालियों का विकास हुआ। इस शताब्दी के प्रारंभ में टी. एस्. इलियट तथा आई. ए. रिचर्डस् इन महान समीक्षों ने काव्य समीक्षा के लिए नई पृष्ठभूमि तैयार की। इक्कीसवीं शताब्दी में संरचनावाद, उत्तर आधुनिकतावाद, दलित विमर्श, नारी विमर्श जैसी प्रणालियों का प्रचलन है।

4.4 आधुनिक समीक्षा की प्रवृत्तियाँ

4.4.1 मनोविश्लेषणवाद

मनोविश्लेषण मूलत: मानसिक एवं स्नायविक रोगियों के लिए आविष्कृत विधि है। फ्रायड समकालीन सम्मोहन विशेषज्ञ तथा चिकित्सक ब्रूयर से प्रभावित थे। सम्मोहन विशेषज्ञों के अनुसार सम्मोहन की स्थिति में एक मनोरोगी अबोध अवस्था में जाता है तब उसकी अंतर्मन की सारी बातें बताता है, जिन्हें वह बोध अवस्था में कभी नहीं बताता। इस अबोध स्थिति में कोई भी कार्य करावाया जा सकता है अर्थात् सम्मोहन की स्थिति में मनरोगी के चेतन मन से परे अचेतन मन की तह तक पहुँचा जा सकता है। वैसे देखा जाए तो फ्रायड ने अपनी मनोविश्लेषणवादी पद्धति में इसी सम्मोहन स्थिति का आधार लिया है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धांत में मानव मन की यथार्थ स्थिति का चित्रण कर फ्रायड ने मानव मन को चेतन मन, अचेतन मन, अर्द्धचेतन मन (अवचेतन) के तीन भागों में विभाजित किया है। चेतन मन के द्वारा मनुष्य बाह्य जगत् से संपर्क में रहता है। विचार, चिंतन, मनन, विवेचन, विश्लेषण आदि चेतन मन की क्रियाएँ हैं। चेतन मन की कुछ भावनाओं की पूर्ति नहीं हो पाती तो वे अर्द्धचेतन मन में प्रवेश करती है। अर्द्धचेतन मन में मनुष्य की दमित इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और सुप्त वासनाएँ वास करती है। मौका पाकर ये दमित इच्छाएँ एवं सुप्त कला या साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती है। फ्रायड का मानाना है कि चेतन और अचेतन में निरंतर द्वंद्व जारी रहता है। चेतन मन पर नैतिक, सामाजिक मर्यादाओं की कई पाबंदियाँ रहती है। अचेतन की इच्छाएँ जब चेतना रूप में प्रकट होती है तो चेतन मन के संस्कार का निषेध करती है। इसमें संघर्ष की स्थिति पैदा होती है, जो मानसिक ग्रंथियों और कुंठाओं का रूप धारण कर लेती है। कभी कभार अचेतन की इच्छाएँ चेतन मन में उदात्त रूप में व्यक्त होती है। चेतन-अचेतन के बीच अर्द्धचेतन होता है। जब चेतन मन में काम-कुंठाओं की संख्या अधिक रहती है तो मनुष्य बचैन हो उठता है, अपना संतुलन खो बैठता है। फ्रायड ने मानव मन और उसको संचालित करने वाली इस मूल वृत्ति को लिबिडी कहा है। फ्रायड ने अचेतन मन और काम भावना (लिबिडो) का अपने मनोविश्लेषण में स्थान दिया है। फ्रायड लिबिडो को ही मानव मन की मूल परिचालिका शक्ति मानता है। उनकी मान्यता है कि धर्म, अर्थ, साहित्य और संस्कृति की मूल प्रेरणा कामवृत्ति ही है। रचनाकार या कलाकार कल्पना के माध्यम से अपनी

वर्जनाओं को काम प्रतीकों के रूप में अभिव्यक्ति देता है। सामाजिक मूल्यों एवं नैतिकता की खातिर मनुष्य अपनी काम प्रवृत्ति एवं वासना वृत्ति का दमन करता है। इस स्थिति में उसके अचेतन मन में कुंठा या मनोग्रंथी घर कर लेती है। साहित्य या कला इन्हीं अचेतन वासनाओं और मनोग्रंथियों को अभिव्यक्त करती है।

फ्रायड यह भी कहता है कि इन ग्रंथियों से अहं भाव विकसित होता है। कई पात्र अहं से परिचालित होते हैं। फ्रायड मनुष्य मन की मूल परिचालक शक्ति रूप में काम भावना को स्वीकार करता है। सामाजिक एवं नैतिक बंधनों से ये काम भावना बाधित हो जाती है तब कुंठा, मनोग्रंथी, अहं, उन्माद जैसे बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती है।

मनोवैज्ञानिक अल्फ्रेड एडलर (सन् 1879 से 1937) ने अपने गुरु फ्रायड की तरह मनुष्य समग्र व्यवहारों के मूल में काम वासना न मानकर हीनता ग्रंथी अर्थात् मन में उत्पन्न हीन भावना को मन की परिचालिका शक्ति माना है। दरअसल हीनता की अनुभूति मानव मन के अहं भाव पैदा कर देती है और क्षतिपूर्ति हेतु मनुष्य को बार-बार प्रेरित करती है। इसमें मनुष्य जीत वासना के अधीन होकर उसके अनुसार आचरण करने लगता है। फलस्वरूप मनुष्य कलाकार या रचनाकार बनकर कृति का सृजन करने में सफल हो जाता है। एडलर के सिद्धांत को वैयक्तिक मनोविज्ञान भी कहा गया है। एडलर के अनुसार हर इन्सान में दूसरों से श्रेष्ठ बनने, कुछ कर दिखाने, दूसरों पर जीत हासिल करने की इच्छा होती है। हर मनुष्य प्रतिकूल स्थिति में कुछ विशेष बनकर लोगों के सम्मान या श्रद्धा का पात्र बनने का प्रयास करता है। इसलिए रचनाकार भी अपनी विशेषताओं को प्रामाणित करने के लिए रचना का सृजन कर कुछ विशेष बन जाने का अनुभव करते हुए आनंद की प्राप्ति कर लेता है।

मनोवैज्ञानिक कार्ल गुस्ताव युंग (जुंग) (सन् 1875 से 1961 ई.) के अनुसार मनुष्य की स्मृतियाँ मानसिक कार्य व्यापार को चेतन मन में एकत्र रख नहीं पाती जबकि वे अचेतन में चली जाती है। अचेतन मन में दमित अनुभूतियाँ, स्मृतियाँ एवं विचार अहं को स्वीकार नहीं कर पाते। परिणामत: वहाँ भय, आशंका, मृत्यु जैसी स्थितियाँ पैदा होती हैं; जिससे मानव जीवन प्रभावित हो जाता है।

वस्तुत: मानव का अंतर्जीवन ही उसके बहिर्जीवन का प्रेरक स्रोत होता है। मनुष्य के अंतर्मन में दमित प्रवृत्तियाँ वैयक्तिक जीवन को नहीं बल्कि सामूहिक जीवन को भी प्रभावित करती है। मनुष्य की वैयक्तिक और सामाजिक आचरण की मूल शक्ति इन्हीं दमित प्रवृत्तियाँ हैं। रचनाकार मनोविश्लेषण के द्वारा मानव मन में दमित विकृतियों और ग्रंथियों का यथार्थ चित्र निर्ममता से समाज के सामने प्रस्तुत करता है। रचनाकार पात्रों के अंतर्मन में निहित कुंठा और हीनता का विश्लेषण करता हैं और उसके द्वारा यह दिखाने का प्रयास करता है कि पात्रों के इसी व्यवहार का प्रेरक उसके अंतर्मन में छिपी विकृतियाँ हैं। मनोविश्लेषणवाद की यही साहित्यिक उपयोगिता है; जिसका उपयोग हिंदी मनोवैज्ञानिक रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में किया हुआ दिखाई देता है। इसका प्रमाण मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के उपन्यासों में चित्रित चरित्रों में दिखाई देता है। इसमें अज्ञेय कृत 'शेखर एक जीवनी' का शेखर, जैनेंद्र के 'त्यागपत्र'की मृणाल एवं 'सुनीता' उपन्यास की

नायिक सुनीता और इलाचंद जोशी के पात्र चंद्रमोहन, महीप, नकुलेश आदि ग्रंथियों से परिचालित पात्र सशक्त प्रमाण है। रचनाकारों ने मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद साहित्य कला केंद्र में चित्रित किया। पहले साहित्य कला में वस्तु जगत् का यथार्थ चित्रण हुआ करता था, मगर मनोवैज्ञानिक साहित्यकारों ने मानस के यथार्थ जगत् यानी मन के यथार्थ को चित्रित किया। रचनाकारों ने इस मनोवैज्ञानिक यथार्थ अभिव्यक्त करने के लिए बिंबों एवं प्रतीकों का सहारा लिया हुआ दिखाई देता है। सार यह कि मनोविश्लेषणवाद मन की तह में दबी-छिपी दमित, कुंठित एवं अबोध बातों को अभिव्यक्त करता है।

4.4.2 उत्तर आधुनिकतावाद (Post Modernism)

सोस्सूर का संरचनावाद और दरोरा का विखंडनवाद ये दोनों मिलकर उत्तर आधुनिकता की पूर्वपीठिका निर्माण करते हैं। उत्तर आधुनिकता की अवधारणा को प्रतिष्ठित करने में प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान फ्रांसुआ ल्योतोर का योगदान है। जिन्होंने अपनी कृति 'द पोस्ट मॉडर्न कंडीशन : ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज' नाम से प्रकाशित की। इस रिपोर्ट में जो 'पोस्ट मॉडर्न' पद है उसी के पर्याय रूप में उत्तर आधुनिक और फिर उत्तर आधुनिकता शब्द अस्तित्त्व में आया।

डॉ. सत्यदेव पचौरी की पुस्तक पाश्चात्य काव्यशास्त्र : अधुनातन संदर्भ' में उत्तर आधुनिकता (Post Modernism) पद बंध जॉन वार्थ द्वारा कला के संदर्भ में प्रयुक्त किया गया है। उत्तर आधुनिकता की अवधारणा को प्रतिष्ठित करने में ल्योतोर के अतिरिक्त प्रमुख विद्वान हैं पॉल डी मान, नीत्से, फूको और जाँ दरोदा।

डॉ. सत्यदेव मिश्र ने उत्तर आधुनिकता का परिचय देते हुए कहा है ''उत्तर आधुनिकता पूँजीवादी विकास की नई स्थिति है। नवपूँजीवाद की नाना विकृतियों और नाना रूपों से सामाजिक साक्षात्कार उत्तर आधुनिकता है। उत्तर आधुनिकता एक सामाजिक विचारधारा हैं।''

उत्तर आधुनिकता विशेषणहीन वृत्तांत की पक्षधर है। महावृत्तांतों (रामायण, महाभारत, बाइबल आदि) का नकार उसका मूल मंत्र है। वह मूल्य मीमांसा को नकारती है। वह मूल्यहीनता का पक्षधर है। वह अनुभावन पर बल देती है। यह एक व्यक्ति केंद्रित, समीक्षा या चिंतन दृष्टि है। कुछ भी अपने में संपूर्ण नहीं होता। अत: संपूर्णता की धारणा का उत्तर आधुनिकतावाद खंडण करती है। मूल्यवादी दृष्टि से विचार करे तो बोदा या ल्योतार दोनों ही मूल्यों को नकारते है, अराजकतावादी हैं। प्राद्योगिकी तकनीक और सूचना विस्फोट ने पूरे विश्व की भौगोलिक सीमाओं को तोडा है और विश्व बाजार, विश्व नगर जैसी धारणाओं को जन्म दिया है। इसलिए संपूर्णतावादी विचारों का यहाँ खंडण है। वस्तुतः उत्तर आधुनिकता साहित्य समीक्षा की एक प्रणाली हो सकती है। वह स्थूल अर्थ के स्थान पर साभिप्रायता और अर्थ की अनेक छायाओं और प्रतिछायाओं के लीला व्यापार को रेखांकित करनेवाली समीक्षा दृष्टि है। प्रतीकवादी और बिंबवादी संकल्पनाओं की अस्वीकृति यहाँ है तथा श्रवणीयता पर बल है अर्थात जो संदेश साहित्य में प्रत्यक्षतः है उसी की तलाश की जाती है।

ल्योतोर ने उत्तर आधुनिकता को ज्ञान की उच्च दशा माना है। उसके अनुसार ज्ञान की अवस्था दो प्रक्रिया पर निर्भर करती हैं

1. वैज्ञानिक प्रक्रिया (Scientefic Process)

2. वृत्तांत प्रक्रिया (Narrative Process)

वैज्ञानिक ज्ञान एक प्रकार का विमर्श (डिस्कोर्स) है और जब तक यह विमर्श है, तब तक भाषा पर निर्भर है। पिछले चालीस पचास सालों से विज्ञान अपने को खोलने के लिए लगातार भाषा के सिद्धांतों में फँसा रहा है।

अर्नेस्ट मैंडेल ने एक पुस्तक की रचना की है, जिसका नाम है 'लेट कैपटिलिज्म'। इसका अर्थ है– नवपूँजीवाद। इसमें लेखक ने तकनीकि संचय तथा विज्ञान संचय को ही विकसित देशों के द्वारा बनाई गई उपभोक्तावादी संस्कृति के मूल में माना है। तात्पर्य यह है कि विज्ञान के संचय ने ही उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है। उनके अनुसार विज्ञान का संचय ही नवपूँजीवाद की व्यवस्था का भी कारण बना है। यह साम्राज्यवाद की नई व्यवस्था है। उपभोक्तावाद की इस अत्याधिक बढ़ी हुई स्थिति संग्रहवाद की पराकाष्ठा है। इस प्रकार विचार करें तो स्पष्ट होता है कि उत्तर आधुनिकतावादी ल्योतार ने सबसे अधिक प्रकार से प्रहार किया हैं। उत्तर आधुनिकतावाद में आधुनिकता पर तो प्रहार किया ही है, इसके अतिरिक्त आधुनिकता के नए क्रम में जो सौंदर्य, शांति और विराट से संबंधित संकल्पनाएँ आती हैं, उत्तर आधुनिकता ने उन पर संदेह किया है। रामायण, महाभारत, बाइबल आदि के जो महावृत्तांत है, उन पर भी प्रश्नचिह्न लगा दिया है।

उत्तर आधुनिकतावाद वास्तव में आधुनिकतावाद की अगली स्थिति है, उसका अगला चरण है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आधुनिकतावाद ने ही उत्तर आधुनिकतावाद को जन्म दिया है। आधुनिकतावाद उत्तर आधुनिकतावाद का जन्मदाता होकर भी उससे भिन्न है। तात्पर्य यह है कि दोनों में परस्पर किसी भी प्रकार की समानता नहीं है। उत्तर आधुनिकता वस्तुत: आधुनिकता की विरोधी एवं प्रतिभागीं विचारधारा है, जो उन्मुक्त स्वच्छंदतावाद कट्टरता और प्रतिक्रियावादी विनाशकारी शक्तियों को लेकर चलती है।

4.4.3 विखंडनवाद

देरिदा ने भारत देश में विखंडनवाद की उपस्थिति दर्ज की। यह देरिदा की महत्त्वपूर्ण दार्शनिक अवधारणा है। इस वाद ने साहित्य, कला, शिक्षा, मनोविश्लेषण, सामाजिक विज्ञान आदि ज्ञान की शाखाओं में गहरी पैठ जमाई है। कुछ आलोचक के अनुसार इसके पूर्व विखंडनवाद की नींव नित्से और हार्डडेगर द्वारा रखी गई हैं, मगर देरिदा ने इसे दार्शनिक आधार पर विधिवत सिद्धांत का रूप दिया। देरिदा के पश्चात् डिलिसामिलर, पाल डी, मन हार्डमैन आदि विद्वानों ने योगदान दिया। इस वाद को अंग्रेजी में डिकांस्ट्रक्शन कहा जाता है और हिंदी में विनिर्मितवाद, विरचनावाद और विखंडनवाद से जाना जाता है। यह उत्तर आधुनिकता का प्रमुख तत्त्व माना जाता है। देरिदा ने विखंडनवाद के माध्यम से उत्तर आधुनिक की दार्शनिक

और साहित्यिक विचाराधारा को क्रांतिकारी मोड़ दिया। विखंडनवाद ने हर सिद्धांत या विचार को ध्वस्त किया। कृष्णदत्त पालीवाल ने 'उत्तर-आधुनिक और दलित साहित्य' में विखंडनवाद के बारे में लिखा है- 'देरिदा का विनिर्मितिवाद से अभिप्राय है-पाठ (टैकस्ट) के अध्ययन की वह पद्धति जिसके द्वारा न केवल अर्थ को विस्थापित किया जा सकते बल्कि कोशगत अर्थ को ग्रहण और भाष्य किया जा सके। इसी विनिर्मिति की पद्धति से देरिदा ने प्लेटो, अरस्तु, कांट, हीगेल, फ्रायड, मार्क्स, नीत्से, हुसेर्ल, हाइडेगर, सार्त्र और मिशेल फूको आदि की संरचनाओं को नए सिरे से पढ़ा और ऐसा पुनर्पाठ किया कि वे सब टूट-फूटकर बिखर गए।' विखंडनवाद पाठ का निर्धारित अर्थ विस्थापित कर देता है और उसे विखंडित कर पाठ के भीतर का अर्थ बाहर लाया जाता है। इसमें पाठ का विखंडन कर दबे अर्थ को प्रस्तुत किया जाता है। विरचनावाद पाठ का अब तक का अर्थ नहीं लेता और न उसे अंतिम एवं समग्र मानता है। वह पाठ भीतर दबे अर्थ की खोज करता रहता है। दमित या दबे-छिपे अर्थ की तलाश कर पाठ का अर्थ नए सिरे से गढ़ाने का कार्य विरचनावाद करता है। इस संदर्भ में कृष्णदत्त पालीवाल ने 'उत्तर-आधुनिक और दलित साहित्य' में विखंडनवाद के संदर्भ स्पष्ट किया है कि 'परंपरा ने पाठ का जो अर्थ निर्धारित कर दिया है-अर्थ उतना ही नहीं। ज्ञान अथवा शक्ति के खेल में जो अर्थ दबा दिए गए हैं, उन्हें नए भाष्यों से विरचनावाद खोलने का प्रयत्न करता है।' स्पष्ट है कि विखंडनवाद खंडन-मंडन का कार्य करता है। कई विद्वानों ने पाठ का सिर्फ एक ही दृष्टि से अर्थ ग्रहण कर उसे निर्धारित कर दिया था। विखंडनवाद उस अर्थ को खंड-खंड कर विभाजित करता है और अर्थ को विस्थापित करता है और उसके स्थान पर दबे मूल अर्थ को बाहर निकालने का प्रयास करता है।

वर्तमान युग में विखंडनवादी को लेकर दो विचारधाराएँ हैं। एक पक्ष क्रांतिकारी विचार मानता है तो दूसरा पक्ष इसे निरर्थक या आंतकवादी मानता है। देरिदा की विखंडनवाद दर्शन की तत्त्वमीमांसा का विरोधी है। देरिदा तत्त्वमीमांसा का खंडन करते हैं। इस विखंडन को भेद का आधार है। इस भेद एक अर्थ है मतभेद होना और दूसरा स्थगित करना है। दरअसल यह भेद की रणनीति है। मतभेद या स्थगित करने की रणनीति है। इसका उद्देश्य साफ है कि उलट देना या बर्खास्त करना, खारिज करना। विखंडन यानी मूल पाठ को उलट देने या स्थगित कर देने से है। देरिदा ने 'भेद' को पोस्टकार्ड भेजने के उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है कि पोस्ट बॉक्स में पत्र डालने पर दो-तीन दिनों में वह अपने गंतव्य स्थान पर पहुँच जाता है। इन तीन दिनों में पत्र पोस्ट बॉक्स में डालने या प्राप्त करने का भेद या अंतर है। देरिदा इसी भेद के संदर्भ में कहते हैं कि विखंडन की आज जो स्थिति है वह एक मध्यवर्ती स्थिति है, अंतिम स्थिति नहीं। देरिदा भेद का अर्थ वे तत्त्वमींमासा से जोड़ते रहें। इसमें उन्होंने भाषा की भूमिका अहम मानी है। भाषा को एक शक्तिशाली माध्यम माना। देरिदा का कहना था कि इन्सान के स्व की पहचान समाज से हो जाती है। जिस प्रकार का समाज उसी प्रकार की स्व की चेतना और चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम है भाषा। भाषा से ही व्यक्ति स्व चेतना को समझ पाता है। भाषा का संबंध पाठ से होता है। किसी पाठ का कुछ अर्थ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट होता है। विखंडन और कुछ नहीं बल्कि मूल पाठ को उसके निर्देश, संकेत, अनिश्चितता के संदर्भ में पढ़ना और स्पष्ट-अस्पष्ट अर्थ का पृथकीकरण करना ही है। अस्पष्ट अर्थ को निकाल देना और उसे

तर्क की कसौटी पर कसना और खरे न उतारने पर उसे अस्वीकृत करना ही विखंडन है। वे यह भी कहते हैं कि अस्पष्ट विखंडन करने के लिए दूसरे मूल पाठों के साथ इस पाठ का संबंध देखना चाहिए। इससे इस बात का पता चलेगा कि मूल पाठ कैसे अस्पष्ट पाठ को महत्त्वहीन कर देता है। वे लिखित रूप को लेखाचित्र मानते हैं। भाषा का लेखन रूप स्मरण सहयोगी होता है। भाषा का लिखित रूप, वाणी रूप की तुलना में गौण होता है। यह धारणा गलत है कि वाणी अधिक महत्त्वपूर्ण है। देरिदा अपनी किताब 'ग्रामेटोलाजी' में कई भाषा वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, तत्त्व चिंतको को अस्वीकृत कर देते हैं कि वाक को अधिक महत्त्व देते हुए लिखित रूप को दोयम दर्जे का मानते हैं। वे इसकी सत्यता पर सवालिया निशान खड़ा कर देते हैं। यद्यपि यह उनके लेखन को अवधारणा रूप में प्रकट नहीं होने देते।

प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक सोस्यूर ने संरचनावाद में भाषा को अर्थ का भेदक संजाल कहा है और यह सिद्ध किया कि भाषा भेद व्यवस्था पर और व्याकरण पर आधारित है। सोस्यूर ने यह भी कहा कि व्यंजक (शब्द) और व्यंग्य (अर्थ) के बीच समानता का संबंध नहीं है। शब्द और अर्थ इस तरह सक्रिय रहते हैं कि ध्वनिभेद से अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। भाषा का विज्ञान होता है क्योंकि उसमें संरचनात्मक संबंध होते हैं। देरिदा सोस्यूर की इस स्थापना का विखंडन इस प्रकार करते हैं कि भाषा में वाचिक शब्द प्राथमिक है और लिखित शब्द गौण है। सोस्यूर का मनाना है कि भाषा का वाचक ही वाणी का निर्माता है और लिखित अर्थ उसी पर निर्भर करता है। देरिदा ने सोस्यूर की इस मान्यता को खारिज करते हुए वाक् और लेखन के बीच के तनाव को ढूँढ निकाला। सुधीश पचौरी 'देरिदा का विखंडन और साहित्य' ग्रंथ में लिखते हैं–'देरिदा यही बताते हैं देरिदा प्लेटो, अरस्तू और हीगेल यही मानते हैं कि वाक् प्राथमिक है, प्राकृतिक हैं और स्वाभाविक है। इसलिए उनकी नजर में हर चीज संदेहास्पद है जो लिखित है। देरिदा इसी अवधारणा का विखंडन करते हैं और बताते हैं कि जिसे वाक् कहा जा रहा है। उसमें भी ध्वनि के अलावा विराम चिह्न, अन्वय चिह्न होते हैं जो सिद्ध करते हैं कि वाक् में भी लिखित रहता है। कहना–सुनना हीगेल का यही संचार, आदर्श संचार है। लेकिन देरिदा कहने में निहित विराम चिह्नों को देखते हैं और सुनने में उन ध्वनियों को सुने गये के अलावा सुनी जाती है। हीगेल इन्हीं ध्वनियों को अपने दर्शन बनाते हैं। विखंडन इन्हीं दबा दी गई कही–सुनी ध्वनियों को पकड़ना है।' स्पष्ट है कि देरिदा ने वाक् के समक्ष लेखन की महता अंकित की है और साहित्य को दर्शन से ऊँचा स्थान प्रदान किया है। वैसे देखा जाए तो दर्शन की तुलना में साहित्य की मान्यता हमेशा द्वितीय रही है।

देरिदा ने विखंडन सिद्धांत से यह स्पष्ट कर दिया कि साहित्य दर्शन है और उसका सोचने का एक अलग तरीका होता है। वे यह भी कहते हैं कि दर्शन अलंकारिक और रूपक की भाषा पर जीवित रहा है। दर्शन ने रूपक के जरिए ही शुद्ध तर्क को रूप दिया है। सुधीश पचौरी 'देरिदा का विखंडन और साहित्य' ग्रंथ में यह बात स्पष्ट करते हैं कि 'बिना रूपक के, पूर्व स्थित सत्य को दार्शनिक नहीं पाते हैं। दर्शनों में ऐसा रूपक हमेशा रहा है जो इन्हें टिकाऊ बनाता है। खास कर वे रूपक जो सत्य और सत्य के तर्क को बनाते हैं। यही वे टोप्स हैं, गाँठे हैं जो दर्शनों में मिलती हैं। दर्शन स्वयं ही तर्क के रास्ते रूपक में फँसे नजर आते हैं।... देरिदा के विखंडन की विशेषता ये नहीं है कि दर्शन में उन्होंने नई व्याख्या पद्धति दी है। उन्होंने

सिर्फ नई व्याख्या या अनेकार्थवादी व्याख्यामात्र नहीं दी है। दरअसल उन्होंने दर्शन के धोखे को बताया है। यही उनके विखंडन की खासियत है।' उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि देरिदा ने दर्शन और साहित्य को एक समान स्तर पर ला दिया। दोनों को एक ही पृष्ठभूमि पर खड़ा कर दिया। देरिदा के पहले पाल वेलरी ने दर्शन को साहित्य की एक शाखा माना। इसीसे यह स्पष्ट किया कि दार्शनिक सत्य के लिए संदर्भों का ही सहारा लिया जाता है और दर्शन का अध्ययन भी साहित्य के रूप में ही किया जाता है। देरिदा ने वेलरी के तर्क का विखंडन कर दिया। उन्होंने विखंडन पाठ में निहित बोध और तर्क के पार्थक्य को ध्यान में रखा है; जो पाठ एक-दूसरे से अलग होता है। यही वजह है कि हर पाठ का विखंडन अलग-अलग तरीके से हो जाता है। हर एक पाठ का संजाल होता है; जो एक-दूसरे के समरूप होते हैं, जिसे देरिदा डिसमिनेशन कहते हैं। यह भाषा में बार-बार घटित होता है। इस प्रक्रिया में एक पाठ दूसरे पाठ से संवाद करता रहता है। देरिदा के अनुसार ऐसा कोई पाठ नहीं कि जो दर्शन या साहित्य में से किसी एक में बंद हो जाए या अपने से बाहर के प्रभाव से निरपेक्ष हो जाए। इसमें देरिदा अंतर्पाठीयता को स्थापित करते हैं। लेखन निरंतर अंतर्पाठीय प्रक्रिया है, जो अनवरत जारी रहती है। इसमें देरिदा पाठ की विवेकसम्मत और भेदभावपूर्ण अंतर्पाठीयता की स्थिति को स्वीकार कर लेते हैं। विखंडन ने यह सिद्ध कर दिया कि समीक्षा कर्म, सृजनात्मक लेखन पर निर्भर जरूर होता है, मगर उसका गुलाम नहीं, जब कि पुनर्सृजन है। सुधीश पचौरी 'देरिदा का विखंडन और साहित्य' ग्रंथ में लिखते हैं-'विखंडन मानता है कि आलोचना लेखन का तरीका है। जो किसी चीज में से किसी चीज को खोजता नहीं बल्कि उस टैकस्ट में अर्थ का निर्माण भर करता है, जिससे वह संलग्न होती है। इसीलिए वह रचना की तरह रचनात्मक है। जिस तरह रचना टैकस्ट में अर्थ का निर्माण करती है, उसी तरह आलोचना टैकस्ट में अर्थ का निर्माण करती है। इसलिए रचना और आलोचना अर्थ निर्माण के दो तरीके हैं। बड़े-छोटे नहीं।'

देरिदा ने सृजन और समीक्षा को समान माना और समीक्षा कर्म को गौण मानने वाली दृष्टि का विखंडन किया। इसी विखंडन ने सृजनात्मक भाषा और आलोचनात्मक भाषा भेद को खत्म कर दिया। परिणामत: साहित्य में काव्य श्रेष्ठता की अवधारणा खुद-ब-खुद विखंडित हुई। देरिदा के अनुसार टैकस्ट से बाहर कुछ नहीं है। देरिदा पाठ में बाह्य प्रभाव के हस्तक्षेप को अमान्य करते हैं। देरिदा का विखंडन किसी अंतिम शब्द का बयान नहीं करता है। वह एक पाठ के अर्थ की अस्थिरता को मानता है और अर्थ के लगातार स्थगन को मान्यता देता है। विखंडन के लिए भिन्नता, निशान और आद्यलेखन शब्द है। इसमें पहले का संबंध भाषिक संरचना से है और तीसरे का संबंध अनकहे अन्वेषण से है। भिन्नता का अर्थ भिन्नता, स्थगन या विलंबन है। भिन्नता से तात्पर्य विशिष्टता से है जो है वह मान्य नहीं है। विलंबन से तात्पर्य उसी बात से हैं, जो पाठ में नहीं है या तो स्थगित से है। विखंडन यानी मूल पाठ का आलोचनात्मक अध्ययन है। देरिदा के अनुसार मूल पाठ में जहाँ सच की मौजूदगी को मानकर चला जाता है, उसे अस्वीकार किया जाना चाहिए। देरिदा सच के खिलाफ है। वे उस सत्य के खिलाफ है जो वस्तुत: सच नहीं होता। पाठक मूल पाठ के सत्य की गहरी छानबीन नहीं करते। लोग ऊपरी तौर पर उसे सत्य मान बैठते हैं। विखंडनवाद इसी बात का विरोध करता है। मूल पाठ का सिर्फ एक अर्थ नहीं हो पाता जबकि अनेक अर्थ होते हैं। लेखक मूलपाठ का जो

अर्थ निकालता है वही अर्थ पाठक नहीं लेते। पाठक के पास मूल पाठ के आ जाने पर उसका अर्थ बदल जाता है। देरिदा का कहना है कि जो कुछ लिखा जाता है उसमें वस्तुनिष्ठ अर्थ का अभाव पाया जाता है। भाषा में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं और एक अर्थ के अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। इनमें हर शब्द का संदर्भ पृथक्-पृथक् होता है। इसी कारण शब्दों का अर्थ संदर्भ के अनुसार लिया जाना चाहिए। वस्तुतः मूल पाठ द्वारा वस्तुनिष्ठ अर्थ की तलाश होनी चाहिए। भाषा और शब्दों के पीछे का स्पष्ट अर्थ हैं; उसे उजागर कर देना चाहिए।

सारांश यह कि देरिदा का विखंडनवाद पाठ के बाहर कुछ नहीं मानता बल्कि पाठ का अर्थ उसकी रणनीति में ही बनता है। विखंडन एक ऐसी अनवरत प्रक्रिया है, जिसमें पठन की गतिविधि है। यह पद्धति या अवधारणा नहीं है जब कि एक रणनीति है। विखंडन में अर्थ सृजनकार का नहीं और न ही उसके पास का होता है जबकि पाठकर्ता के पास का होता है। हर एक पाठ का कुपाठ होता है। यही वजह है कि वह अंतिम होता है और पाठ का अंतिम होना ही नव्य समीक्षा का अंत है। विखंडन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो हमेशा निष्कर्षवादी तकनीक के खिलाफ है। विखंडन विमर्श को जन्म देता है।

4.4.4 शैली विज्ञान

शैली शब्द अंग्रेजी के style शब्द का हिंदी रूपांतरण है। style शब्द लैटिन के stylus से बना है। शैली का संस्कृत पर्यायवाची शब्द रीति है। शैली और रीति समानार्थक शब्द है जिसका मूल अर्थ अभिव्यक्ति की विशिष्ट ढंग है। शैली शब्द की उत्पत्ति शील से मानी जाती है। शील शब्द का अर्थ स्वभाव होता है। शब्दों का प्रसाधन शैली है। शैली को साहित्यकारों के विचारों का पोशाक भी माना जाता है। शैली के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को शैली विज्ञान कहते है। शैली का वैज्ञानिक एवं व्यवस्थित रूप से अध्ययन शैली विज्ञान में किया जाता है । रचनाकार जिस रूप, जिस भाषा और ढंग से अपने भावों, विचारों या इतिवृत्ति को अभिव्यक्त करता है वही शैली है। अलंकार, काव्य रूप और भाषा का उपयोग शैली के अंतर्गत किया जाता है। भाव पक्ष को मनोहरी बनाने का कार्य शैली करती है। सच्चे अर्थों में भाव सौंदर्य की सार्थकता शैलीगत सौंदर्य पर ही निर्भर है। भावों का सहज सौंदर्य विकृत होने का मुख्य कारण भी सुंदर शैली का अभाव होता है। हर साहित्यकार की भावनाओं और व्यक्तित्व के अनुसार शैली अपना विशिष्ट महत्व रखती है।

किसी साहित्यिक रचना या कृति के मर्म तक पहुंचाने में शैली विज्ञान पूरी तरह समर्थ और सहायक है। शैली समालोचना का एक नया आयाम है। विज्ञान रचना या कृति को शाब्दिक कला मानता है। जो रचनाकार शैली विज्ञान का जानकार है वह अपनी कलात्मक कौशलों के अभिज्ञान से वह अपनी अभिव्यंजना को समृद्ध करता है। शैली विज्ञान साहित्य लोचन और भाषा विज्ञान के बीच सेतु का कार्य करता है, भाषा विज्ञान और साहित्य लोचन के साथ शैली विज्ञान के संबंध के बारे में तीन विचारधाराए देखने को मिलती है-

1) शैली विज्ञान -भाषा विज्ञान का अंग

2) शैली विज्ञान –साहित्य लोचन के प्रणाली

3) शैली विज्ञान– स्वतंत्र ज्ञानानुशासन

शब्दों को जीवंत करने में शैलीविज्ञान का योगदान सराहनीय है। हर रचनाकार या शैलीकार अपनी शैली में प्राण फूंककर ही साहित्य साधना करता है। हर साहित्य का प्रकार भी अभिव्यक्ति की शैलीयां ही है। शैली और रचनाकार के व्यक्तित्व में प्रगाढ़ घनिष्ठता रहती है। जैसा रचनाकार का व्यक्तित्व होता है उसी प्रकार कृतित्व और उनकी शैली होती है। भक्तिकालीन कवि सूरदास, तुलसीदास, कबीर और जायसी समकालीन होते हुए भी उनकी रचना और शैली में भिन्नता है। सूरदास समाज में तटस्थ रहकर कृष्ण के प्रेम में लीन हो गए थे। तुलसीदास के साहित्य का सृजन मूल् प्रतिपाद्य लोक कल्याण था। उन्होंने राम चरित्र प्रस्तुत कर समाज को उद्धबोधन किया था। तुलसीदास के विभिन्न रचनाओं में विभिन्न शैलियों के रूप मिलते हैं। कबीर ने अपने विचारों के माध्यम से हिंदू मुस्लिम ऐकय निर्माण करने का सफल प्रयास किया। जायसी कुरुप थे किंतु संवेदनशील थे। प्रेम का सही रूप का चित्रण उन्होंने किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्द, वाक्य, गुण, वृत्तियां, रीतियां, पदविन्यास, अलंकार, छंद और शब्द शक्ति शैली के अंग माने जाते हैं। शैली के विविध अंगों द्वारा श्रेष्ठ शैली को जन्म मिलता है।शैली के लिए यह अंग अनिवार्य रूप से सहायक माने जाते है।अनेक साहित्यकारों ने इन अंगों की सहायता से साहित्य रचना की, फिर भी भिन्न-भिन्न रचनाकारों की शैलियों में अंतराल देखने को मिलता है। इसका उल्लेखनीय कारण यह है कि विकसित शैली निर्माण के लिए शैली के अंग आवश्यक है किंतु शैली साहित्यकार के व्यक्तित्व अर्थात स्वभाव पर ही अवलंबित होती है।

शैली विज्ञान के मूल तत्व चयन, विचलन और समानन्तरता के द्वारा रचनाकार अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता है। एकाधिक विकल्पों में से किसी एक का चुनाव शैली विज्ञान में चयन कहा जाता है। चयन के आधार पर रचना की सर्जना होती है। ध्वनि स्तर पर चयन, शब्द स्तर पर चयन, रूप स्तर पर चयन पदबंध एवं वाक्य स्तर पर चयन और अर्थ स्तर पर चयन आदि शैली विज्ञान में चयन के अध्ययन स्तर है। भाषिक नियमों का अतिक्रमण को विचलन कहा जाता है। यह अतिक्रमण से हेतु होता है। संरचना के नियम और व्याकरण के अतिक्रमण के कारण भाषा में अनिवार्यता को स्थान मिलता है। समतुल्य संरचनाओं की पुनरावृत्ति होना याने समांतरता कहा जाता है। रचनाकार विशिष्ट अनुभूति हेतु भाषिक नियमों का अतिक्रमण रचनाओं में करता है। कुलमिलाकर रचनाकार के रचना का शैली वैज्ञानिक अध्ययन करते समय शैली विज्ञान चयन, विचलन एवं समांतरता इन तत्वों का आधार बनाकर ही रचनाकार के रचना की भाषा की शैली वैज्ञानिक अध्ययन भाषा के ध्वनि से लेकर अर्थ तक स्तरों पर किया जाता है।

शैली विज्ञान की परंपरा पाश्चात्य देशों में प्लेटो और अरस्तु से मानी जाती है। प्रथमत: भाषण कला के संदर्भ में शैली का विचार शुरू हुआ। अरस्तु तथा किंट्टीलियोन के ग्रंथों में भाषण अभिव्यक्ति के निर्देश मिलते हैं। आगे जाकर साहित्यकारो और इतिहासकारों का भी समावेश शैली अध्ययन के क्षेत्र में हो गया।

आधुनिक युग में शैली अध्ययन की दृष्टि में नवीनता आयी वह साहित्य शास्त्र और भाषा विज्ञान के क्षेत्र में दिखाई देती है।

शैली विज्ञान साहित्यिक शैली का ही अध्ययन करता है न सामान्य भाषिक शैली या प्रयोग शैली का। सच्चे अर्थों में शैलीविज्ञान के सही शक्ति साहित्य और भाषा में ही है। स्पष्ट है कि शैली विज्ञान के अध्ययन कर्ता भाषा विज्ञान की आवश्यक जानकारी तथा साहित्यशास्त्र की प्राथमिक समझदारी रखना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। साहित्य और भाषा के बीच की खाई को मिटाने की शक्ति शैली विज्ञान में है।

वर्तमान युग में अधिकांश मात्रा में अलग-अलग पद्धति से शैली वैज्ञानिक शैली विज्ञान के अध्ययन पर बल दे रहे हैं। शैली विज्ञान भाषा संरचना के अध्ययन में पाठ विश्लेषण और साहित्यिक विश्लेषण को जोड़ने का कार्य कर रहा है। भाषा वैज्ञानिकों का ध्यान साहित्य सिद्धांत एवं विश्लेषण की ओर तो साहित्यकारों का ध्यान भाषा विज्ञान की ओर खींचा है इसका प्रमुख कारण शैली विज्ञान है। साहित्य तथा भाषा के शिक्षण कोश निर्माण और अनुवाद प्रक्रिया में शैली पक्ष से संबंधित समस्या को दूर करने में योगदान देता है।

शैली विज्ञान ज्ञान के अन्य शास्त्रों में समन्वय का कार्य करता है। यह शैली विज्ञान का महत्वपूर्ण योगदान है। साहित्यशास्त्र, भाषा विज्ञान, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र, इतिहास, भूगोल और दर्शनशास्त्र से शैली विज्ञान का गहरा संबंध है। ध्वनिय शैली विज्ञान, रुपीय शैली विज्ञान, शब्दीय शैली विज्ञान और अर्थीय शैली विज्ञान आदि शैली विज्ञान के उपभेद है।

शैली विज्ञान साहित्यशास्त्र और भाषा विज्ञान दोनों का सहयोग लेता हुआ भी दोनों से अलग स्वतंत्र विज्ञान है। शैली विषयवस्तु से संबंधित होती है। सैद्धांतिक और प्रायोगिक आदि शैली विज्ञान के दो रूप है शैली विज्ञान एक ऐसी समालोचना है जिससे साहित्य कृति की समझदारी को विकसित और व्यवस्थित किया जाता है।

4.4.5 यथार्थवाद

सत्य कथन या जो वस्तु जिस स्थिति में है उसका अंकन करना ही यथार्थवाद है। यथार्थवाद अंग्रेजी Realism शब्द का रूपांतरण है। स्पष्ट है कि रियल और इज्म से रियलिज्म शब्द बना है। ऐहिकता यथार्थवाद की मूल प्रेरिका है। हां यह भी सही है कि प्रत्यक्ष का प्रत्यक्षीकरण को यथार्थवाद कहा जाता है। जीवन और जगत की यथातथ्य ज्यों का त्यों की अनुभूति हमारे इंद्रियों को हुआ करती है उसी रूप में ही अंकन करना यथार्थवाद है।

कला साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवादी आंदोलन की परंपरा 19 वीं सदी के आरंभ में हुई। पुरानी गलत मान्यताओं और रस्म रिवाजों को विज्ञान ने समाप्त कर मनुष्य को यथार्थवाद की भूमि पर खड़ा कर दिया। असल में डार्विन ने समाज विकास के संबंध में कतिपय यथार्थवादी प्रस्थापनाएं के साथ- साथ भौतिकवादी दृष्टि संपन्न करने का कार्य किया। फ्रायड ने मनोविज्ञान सिद्धांत में मनोवैज्ञानिक आधार पर अवचेतन मन की

प्रतिक्रियाओं पर सुक्ष्मता से विचार प्रस्तुत किए हैं और साहित्य में भी यथार्थवादी प्रवृत्ति विकसित हुई। कार्ल मार्क्स ने शोषण, शोषित समाज का यथावत चित्रण कर मानव को प्रतिष्ठा देने का सफल प्रयास किया। फल स्वरुप किसान, मजदूर, दलित और वेश्या आदि शोषित समाज का चित्रण साहित्य में होने लगा।

सही मायने में भौतिक दर्शनों के प्रभाव से पाश्चात्य साहित्य में यथार्थवाद को गति मिली है। हेगन का जडाद्वैतवाद, कान्ट का भौतिक इणट्यूशन और ऐमिकयूरियत दर्शन आदि के करण यथार्थवाद को प्रेरणा मिली है। बालजाक फलाबेयर और चार्ल्स डिकिन्स आदि ने समकालीन समाज की राजनीतिक व्यवस्था और अर्थव्यवस्था पूरी ईमानदारी के साथ चित्रित की है। फल स्वरुप समसामयिक युग को अपने विराट और व्यापक रूप में सजीवता के साथ मूर्तिमान हो गया उसे काल में यथार्थवाद का महत्वपूर्ण लक्षण वस्तुमुखी तटस्थता माना गया।

यथार्थवाद की एक शाखा प्रकृतवाद को कहा जाता है। प्रकृतवाद को प्राकृतवाद भी कहा जाता है। प्रकृतवादी साहित्यकार यथार्थ का चित्रण करते हैं। प्रकृतवाद और यथार्थवाद का प्रेरणा स्रोत जीवन का यथार्थ चित्रण है ।प्रकृतवाद प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष संबंध रखने की चेष्टा करके यथार्थवाद का रूप प्रस्तुत करता है। प्रकृतवाद को निम्नकोटि का यथार्थवाद इसलिए कहा जाता है कि साहित्यिक विधाओं में अधिकतम मात्रा में विकृतियों या अश्लीलतापूर्ण दृश्य का चित्रण मिलता है।

सही अर्थों में यथार्थवाद का संबंध प्रत्यक्ष वस्तु जगत से है। यथार्थवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा करते है। सत्य का अन्वेषी यथार्थवादी है। आशा-निराशा, जय-पराजय, और उत्थान-पतन का अंकन यथार्थवादी साहित्यकार करते हैं। मानव जीवन की विविध असंगतियां, अनास्थाएं और कुंठाएंआदि का साहित्य में वास्तविक चित्रण होकर भी विकृतियों को साहित्य जन्म नहीं देता है। प्रतिमा की सृष्टि साहित्य है। यथार्थवादी साहित्य में सिर्फ भिन्न वर्गों के चित्र नहीं होते जीवन के प्रति क्रियात्मक संवेदना का भी अंकन होता है। आनास्था के बदले आस्था और निष्क्रियता के बदले सक्रियता साहित्य का यथार्थ है।

एकत्व से अनेकत्व की ओर जाना यथार्थवाद की प्रवृत्ति है। धर्म और नैतिकता से यथार्थवाद अधिकांश रूप में संबंधित नहीं है। समाज जीवन में सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का समन्वय देखने को मिलता है। फलतः यथार्थवाद साहित्य में इन तीनों को प्रतिष्ठा मिलती है। यथार्थवाद में जीवन का संतुलित चित्रण होता है। उसका लक्ष्य मनुष्य को मानव बनाना होता है। यथार्थवादी साहित्य में वर्तमान का कलात्मक और वैयक्तिकता का अधिक चित्रण होता है। श्रृंगार रस के साथ-साथ रोद्र और बिभत्स रस की अभिव्यक्ति यथार्थवादी रचना में मिलती है।

साहित्य आदर्शवादी और यथार्थवादी वर्गों में विभाजित किया जाता है किंतु प्रमुखता किसी एक की ही होती है। साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद का संभवतः समन्वय नहीं होता है। साहित्यकार का मकसद और परिस्थितियों के प्रभाव से साहित्यकार को किसी एक की ओर झुकना पड़ता है। पाश्चात्य और भारतीय सभी दार्शनिकों में दोनों दृष्टिकोण मिलते हैं। धर्म और दर्शन के आदर्श कम मात्रा में क्यों न हो किंतु यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए देखने को मिलते है। आदर्श और यथार्थ दोनों का स्थान राजनीति में होता

है। भाव, बुद्धि, कल्पना और शैली यह चार साहित्य के तत्व है। भाव और कल्पना का संबंध आदर्श से तो बुद्धि और शैली का संबंध यथार्थ से होता है।

भारतीय साहित्य में यथार्थ चित्रण की प्रवृत्ति बहुत पुराण काल से रही है। रामायण और महाभारत की नाना घटनाओं में हमें आदर्श, मर्यादा, कूटनीति और कपट कौशल की उपस्थिति यथार्थ धरातल पर देखने को मिलती है। वात्सायन के कामसूत्र और कौटिल्य के अर्थशास्त्र यथार्थवाद का सही प्रमाण है। कवि कालिदास के 'कुमारसंभव' और 'मेघदूत' नाटक यथार्थवादी साहित्य के मूल उदाहरण है। शूद्रक कृत 'मृच्छकटिक' में यथार्थवादी का परिचय मिलता है। प्राकृत और अपभ्रंश मुक्तकारों के रचनाओं में यथार्थवादी चित्रण स्पष्ट देखने को मिलता है। आदिकालीन कवि विद्यापति, अमीर खुसरो और नरपति नाल्ह की रचनाओं में भी यथार्थवाद है। भक्तिकालीन कवि सूरदास, कबीर और तुलसीदास का दृष्टिकोण मुख्यतः आदर्शवादी था, किंतु यथार्थ का चित्रण पर्याप्त मात्रा में हुआ है। रीतिकालीन कवि बिहारी आदि कवियों ने यथार्थ का चित्रण किया है।

आधुनिक काल में भारतेंदु का दृष्टिकोण यथार्थवादी था। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में यथार्थ का सही अंकन हुआ है। प्रेमचंद, यशपाल, जैनेंद्र कुमार, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, धूमिल, मिथिलेश्वर, रामदरश मिश्र, विवेकी राय और अमृतराय आदि साहित्यकारों की रचनाओं में यथार्थवादी दृष्टिकोण है। निष्कर्ष रूप में हम लिखना चाहते हैं कि आधुनिकता, वैज्ञानिकता और तर्कशीलता के कारण यथार्थवाद वर्तमान युग की अनिवार्य प्रवृत्ति बन गई है।

4.5 सारांश

1. उत्तर आधुनिकता आधुनिकता की अगला चरण है, परंतु फिर वह आधुनिकता से भिन्न है। दोनों परस्पर विरोधी विचारधारा है।
2. मनोविश्लेषण मूलतः मानसिक एवं स्नायविक रोगियों के लिए आविष्कृत विधि है।
3. मनोवैज्ञानिक सिद्धांत में मानव मन की यथार्थ स्थिति का चित्रण कर फ्रायड ने मानव मन के चेतन मन, अचेतन मन, अर्द्धचेतन मन (अवचेतन) के तीन भागों में विभाजित किया है। चेतन मन के द्वारा मनुष्य बाह्य जगत् से संपर्क में रहता है। चेतन मन की कुछ भावनाओं की पूर्ति नहीं हो पाती तो वे अर्द्धचेतन मन में प्रवेश करती है। अर्द्धचेतन मन में मनुष्य दमित इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और सुप्त वासनाएँ वास करती है और मौका पाकर ये दमित इच्छाएँ एवं सुप्त कला या साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती है।
4. फ्रायड लिबिडो को ही मानव मन की मूल परिचालिका शक्ति मानता है। उनकी मान्यता है कि धर्म, अर्थ, साहित्य और संस्कृति की मूल प्रेरणा कामवृत्ति ही है। रचनाकार या कलाकार कल्पना के माध्यम से अपनी वर्जनाओं को काम प्रतीकों के रूप में अभिव्यक्ति देता है।

5. मनोविश्लेषण के द्वारा मानव मन में दमित विकृतियों और ग्रंथियों की निर्ममता से समाज के सामने यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। रचनाकार पात्रों के अंतर्मन में निहित कुंठा और हीनता का विश्लेषण करता हैं और उसके द्वारा यह दिखाने का प्रयास करता है कि पात्रों के इसी व्यवहार का प्रेरक उसके अंतर्मन में छिपी विकृतियाँ हैं। मनोविश्लेषणवाद की यही साहित्यिक उपयोगिता है; जिसका उपयोग हिंदी मनोवैज्ञानिक रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में किया हुआ दिखाई देता है।

6. देरिदा का विनिर्मितिवाद से अभिप्राय है–पाठ (टैकस्ट) के अध्ययन की वह पद्धति जिसके द्वारा न केवल अर्थ को विस्थापित किया जा सकता बल्कि कोशगत अर्थ को ग्रहण और भाष्य किया जा सकता है।

7. विखंडनवाद पाठ निर्धारित अर्थ को विस्थापित कर देता है और उसे विखंडित कर पाठ के भीतर का अर्थ बाहर लाता है। विखंडन में पाठ का विखंडन किया जाता है और दबे अर्थ को प्रस्तुत किया जाता है। विरचनावाद पाठ का अब तक का अर्थ नहीं लेता और न उसे अंतिम एवं समग्र मानता है। वह पाठ के भीतर दबे अर्थ की खोज करता रहता है।

8. विखंडनवाद में परंपरा ने पाठ का जो अर्थ निर्धारित कर दिया है–उतना ही अर्थ नहीं होता। ज्ञान अथवा शक्ति के खेल में जो अर्थ दबा दिए गए हैं, उन्हें नए भाष्यों से विरचनावाद खोलने का प्रयास करता है।

9. हर एक पाठ का संजाल हो सकता है; जो एक–दूसरे के समरूप होता हैं, जिसे देरिदा डिसमिनेशन कहते हैं।

10. यथार्थवाद का संबंध यथार्थ जगत् से होता है।

11. भाषा और साहित्य में शैलीविज्ञान की महत्त्वपूर्ण शक्ति है।

4.6 स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

प्रश्न 1 : निम्नलिखित वाक्यों में दिए गए पर्यायों में से उचित पर्याय चुनकर वाक्य फिर से लिखिए।

अ) 1. उत्तर आधुनिकता की अवधारणा को प्रतिष्ठित करने में .... का योगदान है।

(क) दरोदा (ख) ल्योतार (ग) चॉम्स्की (घ) पॉकब्सन।

2. प्रो. फडिनेंड डी. सोस्यूर के अनुसार भाषा के .... तत्त्व होते है।

(क) दो (ख) तीन (ग) चार (ड) पाँच।

3. .... के विचारों का प्रतिपादन करनेवाला साहित्य दलित साहित्य है।

(क) भगवान महावीर (ख) रविंद्रनाथ टैगोर

(ग) राधाकृष्णन (घ) डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर।

4. ममता कालिया का .... पति पत्नी के शारीरिक संबंधों को केंद्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है।

(क) पीली आधी (ख) इदन्नमम् (ग) परछाई अन्नपूर्णा (घ) बेघर।

5. हिंदी साहित्य में .... पत्रिका के माध्यम से राजेंद्र यादव ने सबसे पहले 'नारी विमर्श' की चर्चा की है।

(क) राष्ट्रवाणी (ख) सारिका (ग) मधुमती (घ) हंस।

6. 'काव्य के सत्य को जीवन के सत्य से मिलाकर घोटाला नहीं करना चाहिए।' यह कथन .... हैं।

अ) डॉ. जाह्नसन, ब) जॉन ड्राइडेन, क) जोसेफ एडिसन, ड) अलेक्जेन्डर पोप

7. काव्य का मुख्य उद्देश्य आनंद और भावलोक में .... है।

अ) संतरण ब) अंतरण क) संचारण ड) वितरण

8. 'दि ग्राउंड्स ए क्रिटिसिज्म इन ट्रेजडी ऑफ दि एनीज' ग्रंथ .... का हैं।

अ) ड्राइडेन ब) प्लेटो क) अरस्तू ड) जोसेफ एडिसन

9. ड्राइडेन कामदी के बारे में .... का स्थान पहला मानते हैं।

अ) दुःख ब) आनंद क) उपदेश ड) प्रेरणा

10. फ्रयड ने अपने मनोविश्लेषण में .... प्रमुख स्थान दिया है?

अ) मन और काम भावना ब) अचेतन मन और काम भावना

क) चेतन मन और काम भावना ड) इसमें से कोई नहीं

11. एडलर ने .... को मानव मन में उत्पन्न मन की परिचालिका शक्ति माना है।

अ) काम भावना ब) हीन भावना

क) पश्चाताप की भावना ड) इनमें से कोई नहीं

12. .... के अनुसार मनुष्य की स्मृतियाँ मानसिक कार्य-व्यापार को चेतन मन में एकत्र नहीं रखा पाती।

अ) फ्रायड ब) एडलर

क) युंग ड) इनमें से कोई नहीं।

13. फ्रायड ने अपनी मनोविश्लेषणवादी पद्धति में .... स्थिति का आधार लिया है।

अ) सम्मोहन ब) काम भावना

क) हीन भावना ड) अहं

14. विखंडनवाद को अंग्रेजी में .... कहा जाता है।

अ) डिकांस्ट्रक्शन ब) लिबिडी क) पोस्ट मॉडर्न ड) इनमें से कोई नहीं

15. विखंडनवाद के प्रवर्तक .... है।

अ) पाल डी ब) देरिदा क) नींव नित्से ड) हार्डडेगर

16. देरिदा का जन्म सन् .... ई. में हुआ।

अ) 1930 ब) 1920 क) 1940 ड) 1950

17. देरिदा को भाषा संबंधी चिंतन को लेकर .... ने प्रभावित किया।

अ) सोस्यूर ब) पाल डी क) नींव नित्से ड) हार्डडेगर

18. देरिदा भाषा के लिखित रूप को .... मानते हैं।

अ) मुद्रित चित्र ब) रिपोर्ताज क) रेखाचित्र ड) लेखाचित्र

19. यथार्थवाद की एक .... शाखा है।

अ) प्रकृतवाद ब) छायावाद क) हालावार ड) नारीवाद

20. .... साहित्यशास्त्र और भाषाविज्ञान का सहयोग होता है।

अ) शैलीविज्ञान ब) अर्थविज्ञान क) पदविज्ञान ड) ध्वनिविज्ञान

4.7 पारिभाषिक शब्द, शब्दार्थ

1. अन्वेषण करना : खोज करना। अनुसंधान करना।
2. आस्थावादी : ईश्वर को माननेवाला।
3. अनास्थावादी : ईश्वर को न माननेवाला, ईश्वर के विरोधी।
4. नास्तिकता : ईश्वर की सत्ता को नकारना।
5. आत्माभिव्यक्ति : स्वयं को अभिव्यक्त करना।
6. विश्वबंधुत्त्व : पूरी दुनिया के प्रति भाईचारा।

7. मिथक : पौराणिक

8. वाग्विदग्ध- वाक् चतुर, पंडित, बात में चतूर।

9. अभास-चमक, दीप्ति, कांति, शोभा, भ्रम छाया, प्रतिबिंब, झलक, मिथ्या प्रतीति।

10. त्रासदी -दुःखांत रचना।

11. कामदी -सुखांत रचना।

12. सापेक्षिक -सापेक्ष, किसी की अपेक्षा करनेवाला।

13. अभिजात्य-उच्च कुल (में जन्म लेने) के योग्य।

14. अनुकरण-अनुसरण, नकल।

15. संकलनत्रय-देश, काल और घटना का एक एक होना।

16. सहजानुभूति-सूक्ष्म के आकलन में समर्थ होने वाली केंद्रीय शक्ति या क्षमता।

17. अभिव्यंजना-विचारों एवं भावों को प्रकट करना, अभिव्यक्ति।

18. सौंदर्य-सुंदरता, खूबसूरती।

19. अमूर्त-आकाररहित, देहरहित, निरवयव।

20. आधेय-ठहरने या स्थापित किए जाने योग्य, रचने योग्य।

21. चेतन-आत्मा, जीव, प्राणी, आदमी, परमात्मा, जिसमें चेतना हो, जो ज्ञानमय हो, सजीव।

22. अर्द्धचेतन-आधे होश में।

23. अचेतन-अज्ञानी, निर्जीव, संज्ञाशून्य, बेहोश।

24. अहं-मनुष्य में होनेवाला यह ज्ञान या धारणा कि मैं हूँ या औरों से मेरी पृथक् सत्ता है, अपने अस्तित्व की कल्पना या भान, अहंकार।

25. विखंडन-तोड़ना फोड़ना, खंड खंड करना।

26. विस्थापित-हटाया गया।

27. खारिज-निकाला हुआ, बहिष्कृत, अस्वीकृत करना।

28. वस्तुनिष्ठ-भौतिक पदार्थों से संबंध रखनेवाला, जो आत्मनिष्ठ न हो, वस्तुपरक, वस्तुगत।

29. डिसमिनेशन-भेदभाव।

4.8 स्वयं–अध्ययन प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1 :

अ)	1. ल्योतार	2. दो	3. डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर	
	4. बेघर	5. हंस	6. जॉन ड्राइडेन,	
	7. संतरण,	8. ड्राइडन,	9. आनंद	
	10. मन और काम भावना	11. हीन भावना	12. युंग	13. सम्मोहन
	14. डिकांस्ट्रक्श,	15. देरिदा,	16. 1930,	17. सोस्यूर,
	18. लेखाचित्र	19. प्रकृतवाद	20. शैलीविज्ञान	

4.9 स्वाध्याय

प्रश्न 1 : दीर्घोत्तरी प्रश्न।

1. मनोविश्लेषणवाद का विवेचन कीजिए।
2. फ्रायड, एडलर और युंग के मनोविश्लेषणवादी विचारों का विवेचन कीजिए।
3. विखंडनवाद का विवेचन कीजिए।
4. देरिदा के विखंडनवाद की चर्चा कीजिए।
5. शैलीविज्ञान का परिचय दीजिए।
6. यथार्थवाद का सामान्य परिचय दीजिए।

प्रश्न 2 : लघुत्तरी प्रश्न।

1. उत्तर आधुनिकतावाद का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

4.10 क्षेत्रीय कार्य

1. किसी कृति में चित्रित पात्रों की मानसिक दशा का वर्णन कीजिए।
2. मनोविश्लेषवाद के आधार पर किसी कृति में चित्रित पात्रों का विभाजन कीजिए।
3. किसी कविता में निहित विखंडित अर्थ को स्पष्ट कीजिए।
4. मानव जीवन में विखंडनवाद का महत्त्व अंकित कीजिए।
5. समाज जीवन में यथार्थवाद का महत्त्व अंकित कीजिए।
6. शैली विज्ञान का साहित्य में महत्त्व चित्रित कीजिए।

4.11 अतिरिक्त अध्ययन के लिए।

1. भारतीय काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य काव्य-चिंतन - डॉ. सभापति मिश्र
2. भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धांत - डॉ. ज्ञानराज काशीनाथ गायकवाड 'राजवंश'
3. हिंदी के आंचलिक उपन्यासों में दलित जीवन - डॉ. भरत सगरे
4. दलित साहित्य : चिंतन के आयाम - डॉ. भरत सगरे
5. दक्षिणांचल स्मारिका : छठी राष्ट्रीय संगोष्टी, सोलापूर - 8 तथा 9 जुलाई 2006
6. स्मारिका : राष्ट्रीय संगोष्ठी, उमरगा - 17, 18 मार्च 2006
7. दलित साहित्य : अनुसंधान के आयाम - डॉ. भरत सगरे
8. काव्यशास्त्र : भारतीय एवं पाश्चात्य - डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी
9. काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन - डॉ. अजय प्रकाश
10. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत-डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त
11. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : इतिहास, सिद्धांत और वाद-डॉ. भगीरथ मिश्र
12. काव्यशास्त्र : भारतीय एवं पाश्चात्य-डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी
13. काव्यशास्त्र पाश्चात्य एवं भारतीय-डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी
14. काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन-डॉ. अजय प्रकाश
15. उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य-कृष्णदत्त पालीवाल
16. उत्तर आधुनिकता : कुछ विचार-सं. देवशंकर नवीन
17. उत्तर आधुनिकता : बहुआयामी संदर्भ-पांडेय शशिभूषण 'शीताशुं'
18. काव्यशास्त्र: भारतीय एवं पाश्चात्य -डॉ. कन्हैयालाल अवस्थी
19. शैली विज्ञान - डॉ. पांडुरंग चिलगर

❑❑❑